समता के स्वरग्रन्थाक–१८

आचार्य श्री नानेश विचार-दर्शन

परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा० के
विविध विषयक विचारो का विवेचनात्मक
संकलन–विश्लेषण

□

पंडित रत्न श्री शान्ति मुनि

□

प्रकाशक

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ
बीकानेर

आचार्य श्री नानेश विचार-दर्शन

□

पं० र० श्री शान्ति मुनि

□

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ,
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर–३३४००१ (राजस्थान)

□

प्रकाशन वर्ष १९८२
संस्करण प्रथम
मूल्य बीस रुपये

□

मुद्रक

फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स
जौहरी बाजार, जयपुर–३०२००३

समर्पण

समता दर्शन के

गूढ़ व्याख्याता

समीक्षण ध्यान के

नूतन अनुसन्धाता

एवं

अप्रतिम साधक

प्रखरतम वाग्मी

युग प्रचेता

आचार्य श्री

नानेश

के

पदारविन्दो में—

—शान्ति मुनि

□□□

प्रकाशकीय

भारतीय सत-परम्परा मे निर्ग्रन्थ-परम्परा का अपना विशिष्ट महत्त्व है। निर्ग्रन्थ का अर्थ है—जो सव प्रकार की ग्रथियो (गाँठो), मोह, परिग्रह आदि से रहित है। भगवान् महावीर की शासन-परम्परा इस निर्ग्रन्थ सन्त-धारा का प्रतिनिधित्व करती है। इस धारा के सन्तो का तप-त्याग सर्वोपरि है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य जैसे महाव्रतो की परिपालना ये बडी कठोरता के साथ करते हैं। एक ओर ये अपने स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन आदि आत्मकल्याणक कार्यो मे निरत रहते है तो दूसरी ओर ससार के प्राणियो के कल्याणार्थ धर्मोपदेश देते हुए ग्रामानुग्राम पदयात्रा करते हैं। ऐसे ही आत्मधर्मी लोकोपकारक सतो के सच्चे प्रतिनिधि है समता-विभूति, जिनशासन-प्रद्योतक, धर्मपाल-प्रतिबोधक, चारित्र-चूडामणि, परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म सा।

आज से ६२ वर्ष पूर्व ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया स १९७७ को मेवाड के दाता ग्राम मे आपका जन्म हुआ। १९ वर्ष की अवस्था मे आपने सासारिक मोह-माया से विरत होकर जैन भागवती दीक्षा अगीकार कर ली। तब से आप अपनी उत्कृष्ट ज्ञान-आराधना, विशिष्ट-ध्यान-साधना और विचक्षण प्रवचन-प्रभावना से जिन शासन की निरन्तर महान् सेवा करते आ रहे है। आश्विन शुक्ला द्वितीया स २०१९ को आप युवाचार्य पद पर तथा माघ कृष्णा द्वितीया को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित हुए। अपने आचार्यत्व काल मे आपने धर्म और अध्यात्म के, जीवन और समाज के नानाविध क्षेत्रो मे समता-दर्शन के रूप मे युगान्तरकारी चिन्तन प्रस्तुत किया। समता-दर्शन का ही क्रियात्मक-रूप प्रतिफलित हुआ है धर्मपाल प्रवृत्ति के पल्लवन एव प्रसरण मे। इस प्रवृत्ति के माध्यम से मालवा-क्षेत्र के अस्पृश्य कहे जाने वाले बलाई जाति के हजारो लोगो को व्यसन-मुक्त और सुसस्कारी बनाया गया है। आपकी अपार करुणा और विशेष प्रेरणा के फलस्वरूप ही मानव कल्याण का यह जीवन उन्नयनकारी ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न हो पा रहा है।

आज जीवन मे विलासिता और विषमता तेजी से बढती जा रही है लोग बेभान होकर दौडे जा रहे हैं भौतिकता और पदार्थवादिता के पीछे। ऐसे समय मे आप अपने लगभग २२५ साधु-साध्वियो के समुदाय के सहयोग से

समदर्शिता, सात्विकता और आध्यात्मिक का आलोक जन-जन मे विकीर्ण कर रहे हैं। आपका यह आलोक पु ज महनीय व्यक्तित्व हम सबके लिए वन्दनीय, पूजनीय और प्रेरणादायी है।

नैतिक भावना और चरित्र निर्माणकारी चेतना उद्‌वुद्ध करने मे महापुरुषो की प्रेरणादायी जीवनियो के अध्ययन का विशेष महत्त्व होता है। महान् पुरुषो के जीवन की छोटी-छोटी घटनाएँ जीवन-निर्माण के जिन सूत्रो की छाप छोडती हैं, वह वडे-वडे धार्मिक और सैद्धान्तिक ग्रन्थो का अध्ययन करके भी नही प्राप्त की जा सकती। आचार्यश्री का जीवन नानाविध प्रेरणादायी घटनाओ और महत्त्वपूर्ण जीवन-प्रसगो से परिपूर्ण है। 'अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्री नानेश' ग्रथ के 'जीवन-दर्शन' खण्ड मे उनके विद्वान् शिष्य प० र० श्री शान्ति मुनिजी ने आचार्य श्री के जन्म, वचपन, वैराग्य, दीक्षा और आत्म-कल्याण के साथ-साथ सम्पन्न विविध लोकोपकारी कार्यों का एव चातुर्मासिक उपलब्धियो का क्रमवद्ध रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। इस कृति मे समता-दर्शन, समीक्षण-ध्यान प्रवचन-मीमासा तथा समसामयिक स्थितियो पर आचार्यश्री के समय-समय पर व्यक्त किये गये विचार-विन्दुओ को सकलित कर उन्हे व्यवस्थित रूप दिया गया है।

सरदारशहर चातुर्मास के वाद पडितरत्न श्री शातिमुनिजी का छत्तीसगढ (मध्य प्रदेश) क्षेत्र की ओर विहार हो गया और ४-५ वर्ष तक आप उधर ही विचरण करते रहे। क्षेत्र की दृष्टि से दूर होते हुए भी चरित नायक के प्रति आपका भावात्मक सम्वन्ध निरन्तर वना रहा और आपने परिष्कृत, रोचक, प्राजल पर सरस भाषा शैली मे इस ग्रथ का प्रणयन किया। उसके लिए साधुमार्गी जैन सघ और समग्र साहित्य जगत् आपका चिर ऋणी है। इस ग्रंथ के सम्पादन-परिष्कार मे प्रोफेसर श्री शिवाशकरजी त्रिवेदी एव सुझाव-सशोधन मे डॉ नरेन्द्र भानावत, प्रोफेसर हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्व-विद्यालय, जयपुर का विशेष सहयोग रहा है, अत सघ इनका आभारी है। गुजरात विद्यापीठ, अहमदावाद के भूतपूर्व उपकुलपति डॉ रामलाल परीख ने आमुख लिखकर ग्रथ की गरिमा मे वृद्धि की है, उसके लिए हम उनके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

इसके प्रकाशन मे अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ के नवनिर्वाचित अध्यक्ष श्री दीपचन्दजी भूरा ने अपने पूज्य पिताजी स्वर्गीय श्री भीखमचन्दजी भूरा की पुण्य स्मृति मे वडी उदारतापूर्वक आर्थिक सहयोग प्रदान किया है, इसके लिए हम सघ की ओर से आपके प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं। साहित्य समिति के सयोजक एव सघ के भूतपूर्व अध्यक्ष श्री गुमानमलजी चोरडिया की त्वरित कार्य क्षमता एवं सतत जागरुकता के परिणामस्वरूप यह प्रकाशन पाठको के सम्मुख यथासमय प्रस्तुत हो सका है। अत सघ इनका

आभारी है। इसके मुद्रण मे फ्रैण्ड्स प्रिण्टर्स एण्ड स्टेशनर्स, जयपुर ने विशेष अभिरुचि लेकर सक्रिय सहयोग प्रदान किया, उसके लिए हम सघ की ओर से धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

आशा है, इस ग्रथ के पठन-पाठन, चिन्तन-मनन से व्यक्तित्व-निर्माण और समाजोत्थान मे विशेष प्रेरणा और प्रकाश मिलेगा।

विनीत

जुगराज सेठिया — अध्यक्ष

पीरदान पारख — मत्री

चम्पालाल डागा

समीरमल कांठेड़

हस्तीमल नाहटा

विनयचन्द कांकरिया

सहमत्री

श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर

आमुख

आचार्य श्री नानालाल जी महाराज की चिन्तन धारा का यह सकलन करके श्री शान्ति मुनि जी ने वहुजन समाज की वडी सेवा की है। यह सकलन पढने से आधुनिक मानव समाज की विषमताओ का समतापूर्ण निराकरण करने का, जो मार्ग आचार्य श्री ने बताया है, इसकी आत्म प्रतीति होती है।

आचार्य श्री का चिन्तन इतना गहन विशद, सहज और मौलिक है कि इसका आमुख लिखना करीव-करीव असम्भव ही है फिर भी श्री शान्ति मुनि जी की प्रेमपूर्ण सूचना का मैं अनादर नही कर सकता। मुझे मुनि जी की इस सूचना के कारण आचार्य श्री जैसे महान् आत्मदर्शी का परिचय करने का सौभाग्य मिला। मैं इसको अपने जीवन का धन्य क्षण मानता हूँ।

भौतिक समस्याओ से पीडित मानव समाज चारो ओर से त्रस्त है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि जैसे चारो ओर अन्धेरा है और जीवन के ऊर्ध्वीकरण के लिए प्रकाश की किरण कही दीखती नही। वैसे इतिहास के अध्ययन से तो एक बात सिद्ध है कि मनुष्य को कभी आशा छोडनी नही चाहिये, प्रत्येक विषम परिस्थिति मे आशा की ज्योति छिपी हुई होती है।

आचार्य श्री ने विषमताओ के घेरे मे से मानव समाज को समता-मार्ग पर आने का सरल और व्यावहारिक उपाय अपने चिन्तन से व्यक्त किया।

उपनिषद् काल से आज तक हमारे यहाँ चिन्तन और चिन्तको की कमी नही है, परन्तु अपने जीवन से निष्पन्न चिन्तन की अनुभूति वहुत कम चिन्तको से होती है। आचार्य श्री के चिन्तन को पढकर हममे एक नई आत्म चेतना का प्रादुर्भाव होता है।

आचार्य श्री के चिन्तन से हममे नई ताजगी, प्रेरणा, आत्म-श्रद्धा तथा सकल्प शक्ति का प्राकट्य होता है। इसी मीमासापूर्ण चिन्तन से हममे आन्तरिक साधना की शक्ति प्राप्त होती है।

मानव इतिहास के एक ऐसे युग मे हम पहुचे हैं जव हमारी वाहरी शक्ति चारो ओर से कमजोर हो रही है। उस समय नयी शक्ति का स्रोत आन्तरिक दर्शन से ही मिल सकता है।

महात्मा गाँधी ने निद्राधीन भारत को इसी मार्ग से जागृत किया था। आचार्य श्री के सम्यक्दर्शी चिन्तन से हमे इसी प्रकार की चेतना मिलती है।

अशान्ति, हिंसा और उद्वेग से त्रस्त मानव समाज को समता और शान्ति का आत्मदर्शी मार्ग इस चिन्तन से प्राप्त होता है। इस दृष्टि से श्री शान्ति मुनि जी का यह संकलन शान्तिमय, अहिंसक जीवन और समाज सिद्धि के लिए एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य सिद्ध होगा।

शान्ति संशोधन केन्द्र
गुजरात, विद्यापीठ,
अहमदाबाद

प्राध्यापक रामलाल परीख
भूतपूर्व उपकुलपति
गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद

आत्म-निवेदन

सात वर्ष से अधिक ही बीत गये । सघ के वरिष्ठ, प्रबुद्ध कार्यकर्ताओ की ओर से प्रेरणा मिली कि मैं आचार्य प्रवर के जीवन का इतिवृत्त प्रस्तुत करने की दिशा मे अपना श्रम, समय और योग्यता सन्नद्ध करू । प्रेरणा अथवा निर्देश के इस अपेक्षा-वृत्त मे मैं ही क्यो समेटा गया, यह वात वे सज्जन, जो इसकी आवश्यकता अनुभव करते थे, ही जानें । क्योंकि इससे पूर्व मेरा लेखकीय अनुभव अपरिदृष्ट था । मेरी प्रसन्नता की सीमा नही रही । इतना पावन सुयोग हाथ लगा, जैसे किसी गू गे भिक्षुक के पात्र मे अयाचित ही मधुर प्रसाद आ पडा हो । केवल उत्साह, केवल उल्लास, केवल उमग और केवल सुयोग का गर्व ! इस उत्साह ने एक ही प्रतीति पर अपना पाल तान दिया—यह कार्य मेरे लिये सर्वथा अनुकूल और सुगम रहेगा ।

मैंने मन ही मन रूपरेखा गढनी प्रारम्भ कर दी । यद्यपि मुझसे जीवन-दर्शन की एक सामान्य परिचायिका की ही अपेक्षा की गई थी, किन्तु इतने अल्प से मेरा मन सन्तुष्ट नही था । महान् चेतनाओ का व्यक्तित्व घटना प्रधान नही, विचार प्रधान होता है । अत मुझे लगा कि जीवन-दर्शन के निरूपण के साथ आचार्य प्रवर के आन्तरिक व्यक्तितत्व को भी अभिव्यक्ति देना उचित रहेगा । मैंने सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को प्रमुख दो भागो मे विभक्त करने का विचार स्थिर कर लिया । उसी की फल-श्रुति है यह "विचार-दर्शन" ।

विचार दर्शन मे आचार्य प्रवर के विविध स्तरीय विचारो का सकलन एव विश्लेषण है । इस विश्लेषण मे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय युगीन समस्याओ के अध्यात्म-पोषित समाधान हैं, तो चरम शान्ति की प्राप्ति हेतु अध्यात्म साधना के विविध आयाम भी प्रस्तुत हुए हैं ।

अध्यात्म मे ही जीवन के चरम पुरुषार्थ की अभिव्यक्ति होती है । विक-सित मानवीय चेतना के स्तर पर आकर ही आत्म-ज्ञान साधना का विषय वनता है । वाह्य सघर्षो मे व्यस्त मानव-समाज इस दिशा मे वढने का अवकाश नही पाता और व्यस्तताओ तथा सघर्षों के भी दर्शन खडे हो गये हैं । किन्तु यह स्पष्ट है कि यह सघर्ष-जाल जीवन का लक्ष्य नही है । वाधाओ पर विजय के

लिये सघर्ष खडे होते हैं, किन्तु मानव-चेतना इन सघर्षों पर भी विजय प्राप्त करना चाहती है ।

सघर्षो पर विजय की दिशा जीवन के लिये अवकाश उपार्जित करने की है । वह अवकाश ही जीवन को सही दिशा है । जब भी सम्भव हो सकेगा, मानव उस अवकाश का उपयोग आत्म-साक्षात्कार के लिये ही करेगा । समय-समय पर अवतरित विराट चेतनाओ ने अध्यात्म की दिशा मे महती उपलब्धिया अर्जित की हैं । वे उपलब्धिया ही हमे प्रेरणा और पथ देती हैं । जीवन का सघर्ष आज अपनी चरम स्थिति मे है, अत जीवन के शाश्वत मूल्यो की माग भी तीव्रतम है । अत यह तय है कि ये सघर्ष हमे अध्यात्म की दिशा मे तेजी से बढने को प्रेरित कर रहे हैं ।

आचार्य प्रवर का जीवन साधना का जीवन है । उनकी साधना सत्य-दर्शन की साधना है तथा सत्य-दर्शन के विषय मे उनकी यह सुनिश्चित अवधारणा है कि—"तमेव सच्च-निसक ज जिणेहिं पवेइय ।" वही सत्य और सशयातीत है, जिसे जिनेश्वर भगवन्तो ने प्रतिपादित किया है ।

सत्य सत्य है, उसे तर्क की कसौटी पर कसते रहना बेतुका है । सत्य अतर्क्य एव अविभाज्य है, सत्य को जाना नही, जीया जाता है । यह तत्त्वदृष्टा जिनेश्वरो का शाश्वत प्रतिपादन है । वर्तमान का युग तर्क का युग है, अत सत्य की यात्रा दुरूह होती जा रही है । यद्यपि महावीर के दर्शन मे "पण्णा समिक्खए धम्म" के द्वारा तर्क की प्रतिष्ठा भी की गई है, तथापि पूर्ण सत्य के दर्शन मे "तक्का तत्थ न विज्जई, मइ तत्थ न गाहिया" सूक्तो द्वारा तर्क एव प्रज्ञा को अकिंचितकर घोषित कर दिया गया है ।

इसी तर्कणातीत सत्य का साक्षात्कार आचार्य देव की साधना का पुनीत लक्ष्य है । वे अपने इस लक्ष्य मे किस सीमा तक सफल हुए है, यह हमारे चिन्तन का विषय नही है । किन्तु इतना मैं विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि आचार्य देव अपने लक्ष्य के प्रति पूर्ण सजगता के साथ समर्पित हैं तथा चरम केन्द्र बिन्दु तक पहुँचने के लिये अनवरत सावचेत एव गतिशील हैं । उनकी समत्व प्रज्ञा अपने अन्त शोध के पथ पर द्रुतगति से धावमान है । उनके चेतना के केन्द्र मे सत्य-दर्शन अथवा समत्व-दर्शन का व्यापक विस्फोट हुआ है । इसीलिये उसमे स्वात्मलीनता के साथ समाज को कुछ दे देने की बेचैनी भी है । वे समाज मे चली आ रही रूढ धारणाओ एव मिथ्या मान्यताओ पर अपने प्रवचनो के माध्यम से करारा प्रहार करते हैं । इसी प्रकार निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति के विकास मे वे अपने आपको समिधा के रूप मे प्रस्तुत करते हैं । इसी आधार पर वे अपने सघ के बहुमुखी विकास हेतु सतत प्रयत्नशील रहते हैं ।

साधना के क्षेत्र मे वे अपने शिष्य सम्प्रदाय के समक्ष नित नूतन आयाम उद्घाटित करते हुए अपनी पुरातन मर्यादाओ के प्रति सतत जागृति का सकेत भी प्रस्तुत करते रहते हैं।

शिक्षा के क्षेत्र मे कुछ रूढिगत धारणाओ से ऊपर उठकर आचार्य श्री ने परीक्षा प्रणाली का शुभारम्भ किया। फलस्वरूप एक क्रमबद्ध शिक्षा का व्यापक विस्तार सघ के श्रमण-श्रमणियो मे होता जा रहा है। अपने शिष्य समुदाय को वे निरन्तर तल-स्पर्शी अध्ययन हेतु प्रेरणा प्रदान करते रहते हैं।

आचार्य देव के व्यक्तित्व की महत्तम विशेषता यह है कि वे वृद्ध एव ग्लान साधु-साध्वियो की सुव्यवस्थित सेवा-सयोजना के प्रतीक है। चू कि मैं आचार्य देव के आचार्यत्व काल की अधिसख्य घटनाओ का प्रत्यक्षदर्शी रहा हू, अत मेरा अनुभव है कि रुग्ण-सन्तो की सेवा के लिये उनमे जीवन्त तत्परता है। वे स्वय प्रसगो पर रात-रात भर सजगवृत्या सेवा साधना मे सलग्न हो जाते हैं।

सघीय व्यवस्थाओ मे इतनी अधिक तत्परता के उपरान्त भी आचार्य देव "भावणा जोग सुद्धप्पा जले नावा व आहिया" आगम वाक्य के अनुसार जल-कमलवत इन सबसे अपने को असपृक्त रखने के भी पूर्ण अभ्यासी हैं। श्रद्धेय आचार्य देव निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति के परम पावन अग्रदूत है। उनका जीवन त्याग, तप और वैराग्य का प्रतिबिम्ब है। विशुद्ध चरित्र-निष्ठा मे उनका अगाध विश्वास है। आचार्य श्री क्या है—ज्ञान और कृति के सुन्दर समन्वय, विचार और आचार के बिम्ब-प्रतिबिम्ब। सैद्धान्तिक विचार-विमर्श मे किंचित् मात्र भी लाग-लपेट एव सकोच नही रखते हुए विचारो को खुली अभिव्यक्ति देने की कला उनका स्वभाव है। उनकी अतलग्राही मेधा तथा सूक्ष्म प्रज्ञा, विलक्षण प्रतिभा, अद्भुत विचारणा एव अपूर्व तर्कणा शक्ति से सुसज्ज है।

आचार्य देव द्वारा ही प्रस्तुत परिभाषा "सम्यग् निर्णायक समता मयञ्च यत्तज्जीवनम्" के अनुसार आचार्य श्री का जीवन दर्शन समता का साकार प्रतिबिम्ब है।

प्रस्तुत कृति 'विचार-दर्शन' को पाच अध्यायो मे विभक्त किया गया है—

१ प्रथम अध्याय 'समता दर्शन' मे आचार्य श्री की राष्ट्र के लिये अमूल्य देन समता दर्शन को विवेचित किया गया है।

२ द्वितीय अध्याय 'समीक्षण ध्यान' मे युग की ज्वलन्त समस्या को समाहित करने का उपक्रम है।

३ तृतीय अध्याय 'प्रवचन-मीमासा' मे आचार प्रवर के प्रवचनो की विषय-वस्तु का दिग्दर्शन कराया गया है।

४ चतुर्थ अध्याय 'प्रश्न मेरे—उत्तर आचार्य श्री के' मे आज की कुछ ज्वलन्त जिज्ञासाओ का विस्तृत समाधान है ।

५ पचम अध्याय 'चिन्तन कण' मे आचार्य प्रवर के मौलिक चिन्तन कणो को सकलित किया गया है ।

आलेखन का आयोजन यो प्रायः पूर्ण हो गया । किन्तु यह पूर्णता विषय की नही है । ग्रन्थ की पूर्णता ने मुझे बौनेपन का अहसास ही दिया है । यदि यह कार्य किसी समर्थ शिल्पी के हाथो से सम्पन्न होता, तो आचार्यवर के गरिमामय जीवन को अधिक सही अभिव्यक्ति मिल पाती । मेरे पास भाषा, शिल्प और सम्प्रेषण की वह योग्यता नही थी, जो विषय का न्यायसम्मत निर्वाह कर सके । अत इस ग्रन्थ मे दो समानान्तर धाराए प्रवाहित हैं—एक आचार्य देव के महिमामय जीवन-प्रसगो की और दूसरी मेरी क्षमतागत दुर्बलताओ की । सुधी और श्रद्धावान पाठको से यही निवेदन है कि वे अभिव्यक्ति की अकुशलता के लिये मुझे क्षमा करते हुए श्रद्धेय गुरुदेव के जीवन-प्रसंगो से ही प्रेरणा लें । यदि कही त्रुटिया रह गई हो तो उनके लिये मैं ही उत्तरदायी हू ।

इस ग्रन्थ के लेखन मे आचार्य महाप्रभु की परोक्ष अनुकम्पा के अतिरिक्त सर्वतो महत सहकार मुझे मुनिमण्डल का प्राप्त हुआ । चू कि इस लेखनावधि मे महातपोधनी,सेवा की साकार प्रतिमा श्री अमरचन्दजी म सा , तपस्वी श्री रतनमुनि जी, सेवा समर्पित श्री भूपेन्द्र मुनि जी एव महान् तपस्वी श्री वलभद्र मुनि जी का सहवास ३-४ वर्ष रहा, अत इन सभी महामुनियो का सहकार अविस्मरणीय है । विशेषतया घोर तपस्वी द्वय एव सेवाभावी श्री भूपेन्द्र मुनि जी का कृपापूर्ण सहयोग विस्मृत नही किया जा सकता, जिन्होने मुझे प्राय सभी अन्तरग कार्यो से मुक्त कर इस कार्य हेतु समर्पित होने का अवकाश प्रदान किया ।

विश्रुत विद्वान् महामान्य श्री शिवाशकर जी त्रिवेदी का ग्रन्थ का आद्यन्त अवलोकन कर सम्पादन-सम्बन्धी परिष्कार किसी भी कीमत पर उपेक्षणीय नही हो सकता है । उनके अमूल्य सहयोग से ही कृति को पूर्णता प्राप्त हुई, यह कहना वास्तविकता के वहुत करीव है । हिन्दी के प्रमुख समीक्षक और जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. नरेन्द्र भानावत, प्रोफेसर राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के सशोधनात्मक सुझावो का भी यथास्थान उपयोग किया गया है ।

अन्य सभी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोगियो की सस्मृति के साथ अपने इस विरत, किन्तु विपुल प्रयास को "त्वदीय वस्तु योगीन्द्र, तुभ्यमेवसमर्पयेत्" की भावना के साथ महामहिम आचार्य महाप्रभु के चरणो मे विनम्राञ्जलि रूप मे प्रस्तुत कर देता हू ।

श्रेयो भूयात

—शान्ति मुनि

□ अनुक्रमणिका □

□ □ □

युग-चेतना

भारतीय सस्कृति की गौरव-गरिमा, सत, महात्मा एव ऋषि-महर्षियो के त्याग के उपादानो से रही है। सस्कृति के ऐतिहासिक पृष्ठो से एकबारगी यदि सत, महात्मा एव ऋषि-महर्षियो के जीवनवृत्तो को पृथक् कर दिया जाय तो निश्चित रूपेण सस्कृति की चेतना लुप्त हो जायेगी, सस्कृति मात्र एक जड ढाँचा रह जायेगी। दूसरे शब्दो मे हम यो कह सकते हैं कि हमारी सस्कृति त्याग पर ही श्राधारित है। हमारा इतिहास बताता है कि जितने भी पूजनीय हुए हैं, श्रपने त्याग के बल से ही हुए हैं। महावीर, राम, कृष्ण श्रौर बुद्ध की पूज्यता का कारण उनका राजकीय वैभव न होकर यथोचित मात्रा मे लौकिक वैभव आदि का त्याग ही रहा है। भारतीय सास्कृतिक हिमालय से प्रवाहित मूल दो (श्रमण एव वैदिक) धाराश्रो मे श्रमण (निर्ग्रन्थ श्रमण) सस्कृति की धारा तो विशेषतया निवृत्ति प्रधान होने के कारण त्याग से ही ओतप्रोत रही है।

इस त्याग प्रधान सस्कृति की लौ को श्रनवरत प्रज्वलित रखने हेतु प्रत्येक युग मे कोई-न-कोई चेतना, प्रकाश-स्तम्भ बनकर अवनितल पर उत्तरित होती है और अपने जीवन-स्नेह द्वारा सस्कृति की परम्परागत चली श्रा रही लौ को अक्षुण्ण रूप से प्रज्वलित बनाये रखती है। इसे हम साहित्य की भाषा मे युग-चेतना किंवा युग-पुरुष की सज्ञा से अभिहित कर सकते हैं।

पारिभाषिक अर्थों मे युग-पुरुष वह होता है, जो श्रपने युग को तत्कालीन सन्दर्भो मे नूतन सन्देश द्वारा श्रान्दोलित एव आलोकित करता है। उसकी वैचारिकता मे युग का विचार मुखरित होता है, उसकी वाणी मे युग बोलता है श्रौर उसकी प्रत्येक क्रियान्विति से युग को नवीन चेतना, नई स्फूर्ति एव नूतन प्रेरणा मिलती है। वह युगीन चेतना का सफल एव सबल प्रतिनिधित्व करता है। वह अपनी महत्ता एव दिव्यता से समस्त मानव जाति को ही नही, अपितु सम्पूर्ण वायुमण्डल को महत्तम एव दिव्यतम रूप मे श्रालोकित एव श्रनुप्राणित करता है। वह श्रपनी क्रातिकारी प्रेरक विचार-रश्मियो से समाज मे चले आ रहे सडे-गले विश्वास एव मिथ्या श्राचार के अन्धकार को निरस्त करता हुआ उसमे सम्यग् नूतनता का स्नेह सिंचन कर उसे दिव्य श्रालोक से भर देता है। सीधे एव स्पष्ट शब्दो मे कहे तो जो स्व-पर कल्याण की गहरी निष्ठा, अविचल आस्था एव प्रगाढ श्रद्धा के साथ समाज को विकृति के गर्त से निकाल कर सस्कृति की ओर गति देता है वही महापुरुष, किंवा युग-पुरुष कहलाता है।

युग-पुरुष अपने सामर्थ्य एव पौरुष वल से दुर्गम एव वीहड कण्टकाकीर्ण गन्तव्य पथ को सुगम एव सरल (कोमल) पुष्प शय्या के रूप मे परिवर्तित कर देता है। वह जन-मुख पर होने वाली अपनी निन्दा-स्तुति, मान-अपमान से सर्वथा ऊपर उठकर निश्चित अपनी मजिल की ओर निरन्तर अग्रसर रहता है। वह तत्कालीन जन-जीवन का अनुसरण नही करता, अपितु जन-चेतना स्वय ही उसका अनुसरण करती है, क्योकि उसकी हर मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया लोक-मगल एव जन-कल्याण के लिये होती है, अत. उसके जीवन के कण-कण से एक ही स्वर झकृत होता है—

'अर्पित है मेरा मनुज काय,
सब जनहिताय, सब जनसुखाय।'

युग-पुरुष अपने युग का प्रतिनिधि तो होता है, किन्तु सामान्य जन से ऊपर। वह अपनी विचार-क्राति से तत्कालीन विचार, वाणी और कर्म को नया मोड देता है, नूतन मार्ग-दर्शन देता है। सक्षेप मे हम यो कह सकते है कि जब सामान्य जन-चेतना समस्याओ एव परिस्थितियो के सकुल पथ मे दिग्भ्रमित होने लगती है, तव उसका अन्तर स्वर युग-पुरुष का आह्वान करता है जो आकर उसे दिशा-बोध एव समाधान देकर हैरानी एव परेशानी की विडम्बना से मुक्त कर दे, तत्कालीन समस्त बोझिल रूढियो को ध्वस्त कर दे। जो चेतना ऐसी क्षमता एव ऊर्जा की धारक व सवाहक हो, वही युगीन चेतना युग-पुरुष के रूप मे विश्रुत हो जाती है।

प्रस्तुत है, ऐसे ही निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति किंवा जैन सस्कृति के दिव्य नक्षत्र, युग-पुरुष की जीवन-झाकी, जो कि अपने अध्यात्म आलोक से भौतिकता के गहन अन्धकार मे भटकते हुए जनमानस को आलोकित कर रही है, जो समता की पवित्र सरित धारा मे स्वय अवगाहन करती हुई जन-जन के लिए समता-धारा मे अवगाहन का प्रेरणास्रोत बनी हुई है, जिसने श्रमण सस्कृति के उत्थान हेतु सर्वतोभावेन अपने आपको समर्पित कर दिया है।

ज्योति-पुंज

उपर्युक्त शब्दावली मे आगत 'समताधारा' शब्द को पढते ही, मैं सोचता हूँ, सुज्ञो की दृष्टि मे वह ज्योति-पुंज उजागर हो चुका होगा, क्योकि आधुनिक सदर्भ मे समता दर्शन और वह ज्योति-पु ज प्राय एक अर्थ के दो पर्याय बन चुके है। फिर भी शब्द-चित्र के द्वारा यत्किञ्चित् अकन आवश्यक प्रतीत होता है।

नि.सीम ससीम मे

ससीम शब्दो के सीमा-बधन मे विराट् एव नि सीम व्यक्तित्व को आबद्ध करना गागर मे सागर भरने के समान दु साध्य अवश्य है, फिर भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर के शब्दो में—

"वालोऽपि किं न निज वाहुयुगम वितत्य ।
विस्तीर्णता कथयति स्व धियाऽम्वुराशे. ।।"

के अनुसार अपने श्रद्धेय के प्रति, जिन्होने कच्ची मिट्टी को एक हार का रूप दिया, आन्तरिक सहज श्रद्धा की अभिव्यक्ति के रूप मे कुछ लिखने के लिए मन का प्रेरित होना, निजी सौभाग्य मानता हूँ। एतदर्थमेव श्रद्धा के दो शव्द, शव्द-चित्र के रूप में प्रस्तुत हैं—

शव्द-चित्र

मझला कद, भरी-पूरी एव सुडौल, किन्तु कोमल देह, कान्तिमय गेहुँआ वर्ण, गम्भीर मधुर स्मिति युक्त प्रसन्न वदन, अमिताभ-तेज मडित विशाल भाल, चौडा वक्ष स्थल, प्रलम्व वाहु, अति कोमल एव हल्की लालिमा लिये हुए सामुद्रिक सुलक्षणो युक्त हस्त युगल। सिर पर विखरी हुई विरल, धवल एव श्यामल मिश्रित केश राशि। उपनेत्र मे से झाकते हुए दिव्य तेजोमय चक्षु जो सम्मुखस्थ व्यक्ति को चुम्वकीय शक्ति से प्रभावित करते हुए उसके अन्तरग भावो के परीक्षण मे परम प्रवीण है। गुदगुदी भरी कोमलता एवं सुकुमारता से रजित लघु पादागुलियाँ एव तदनुरूप पद्मरेखादि सुलक्षणो युक्त अत्यन्त सुकोमल रक्ताभ, चरण-सरोज। श्वेत, नाति-स्वच्छ खद्दर से समाकृत साध्वोचित सादगी का प्रतिरूप जादू भरा परम प्रभावक यह वाहरी व्यक्तित्व, आन्तरिक विशुद्धता "सादा जीवन उच्च विचार" का स्पष्ट अभिव्यजक है।

सीधा सादा रहन-सहन एव जैन श्रमणोचित अति सीमित उपकरण। धार्मिक एव दार्शनिक विचार व चर्या मे निष्णात कतिपय शिष्यो से परिवृत्त एव हजारो हजार उपासको के श्रद्धाभाजन। यही है परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालालजी म० सा० का वाहरी व्यक्तित्व।

व्यक्तित्व-अंकन

सरस और स्पष्ट मानस, सहज स्फूर्त, तर्क-पटु, तीक्ष्ण प्रज्ञा तथा वात्सल्यमयी कोमल, किन्तु सुस्पष्ट वाणी की अभिव्यजना। जिस तेजोमय व्यक्तित्व मे इन तीनो की समष्टि है उस महामहनीय व्यक्तित्व का परिचय है—परम श्रद्धेय, समतादर्शन प्रणेता, धर्मपाल-प्रतिबोधक, आचार्य श्री नानालालजी म० सा०, जिन्हे हम सक्षेप मे आचार्य श्री नानालालजी म० सा० और अति सक्षेप मे आचार्य श्री नानेश कहकर सम्बोधित करते हैं।

आपकी वाणी मे छोटे-बडे एव समवयस्क सभी के प्रति नवनीत-सी मृदुता व कुसुम सी कोमलता झलकती है, किन्तु तार्किक विचार-मथन मे आप वज्रादपि कठोर एव हिमालय से भी अधिक निष्प्रकप हैं। व्यवहार-पटु होने के

साथ ही अपनी वैचारिक एव व्यावहारिक चारित्रमय आचरण पद्धति मे मेरुवत अचल, निष्कप एव अडोल है । आधुनिक सदर्भ मे विज्ञान की चकाचौध से पराभूत जनचेतना मे विज्ञान, दर्शन एव सस्कृति के समन्वय-सूत्र प्रस्तुत कर जनजागृति करने वालो मे आप सर्वाधिक अग्रगामी, सर्वाधिक सजग एव सर्वतोभावेन लोकप्रिय हैं ।

आचार्य देव सौजन्य, सौहार्द, स्नेह, सद्भाव एव समत्वयोग के अद्भुत एव ध्रुव अपने आप मे एक विशिष्ट साधक है, और है इस नूतनता के द्वन्द्वपीडित युग मे दोनो चिन्तन-धाराओ मे समन्वय प्रस्तुत करने वाले स्नेह के नये सूत्रधार । पद की दृष्टि से सर्व-ज्येष्ठ होते हुए भी पर्याय-ज्येष्ठो के प्रति अप्रतिम विनम्र । छोटो एव समवयस्को के प्रति निष्कारण भावपूर्ण व स्नेहिल ।

निष्कर्ष की भाषा मे आचार्य देव का विराट् व्यक्तित्व उस इन्द्रधनुष की तरह सुनहला और मोहक है, जिसकी रमणीयता को अनेकानेक बार देख कर भी नेत्र कभी तृप्ति का अनुभव नही कर पाते ।

आपका व्यक्तित्व अति रमणीय, अद्भुत एव क्रियाशील है । जहाँ वह दर्शन के समान तर्कशील एव गूढ है वहाँ काव्य के समान सरस एव सुबोध भी । अध्यात्मनिष्ठ योगी की विशुद्ध व्यक्तिवादी दृष्टि उसमे झलकती है, तो एक समाज-सगठक का समूहवादी चिन्तन भी उसमे निखरता-सा लगता है । साधुत्व की दृष्टि से आप साधना के उच्च शिखर को छू रहे हैं, तो अनुशासनात्मक विचार-क्राति की दृष्टि से आप समाज की जडता को झकझोर कर उसको गतिशील योग्य नेतृत्व भी देते हैं । सचमुच आचार्य देव के व्यक्तित्व मे इन्द्रधनुष की तरह विभिन्न रग एक विलक्षण छटा लिए एक साथ उभरते दिखाई देते हैं ।

वैचारिक परिवेश

आचार्यश्री के परिदृष्ट व्यक्तित्व को 'अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्री नानेश' के प्रथम खड 'जीवन-दर्शन' मे आलेखित करने का प्रयास किया गया है । किन्तु किसी भी व्यक्तित्व के सम्यक् बोध हेतु उसके व्यक्तित्व एव कृतित्व दोनो पर दृग्पात करना होता है । व्यक्तित्व जीवन के एक पक्ष को उजागर करता है, तो कृतित्व दूसरे पक्ष को । कृतित्व ही ऐसी सशक्त विधा है, जो व्यक्तित्व को स्पष्टतया अभिव्यजित करती है ।

कृतित्व को हम दो भागो मे विभक्त कर सकते हैं, एक वैयक्तिक, दूसरा सामष्टिक । जीवन की कुछ कृतियाँ ऐसी होती हैं जो स्वय के जीवन से ही अधिक सम्बद्ध होती हैं । उनका समष्टि पर प्रभाव होना आनुषगिक मात्र होता है, जबकि कुछ कृतियाँ समष्टि के लिए—सामान्य जन-जीवन के लिए उत्प्रेरक होती है, जिनके द्वारा जन चेतना को दिशाबोध प्राप्त होता है ।

आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व एव वैयक्तिक कृतित्व का 'अन्तर्पथ के यात्री आचार्य श्री नानेश' नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ के प्रथम खण्ड 'जीवन दर्शन' मे विवेचन किया गया है, किन्तु इतने मात्र से उनके सामष्टिक व्यक्तित्व का आलेखन अपूर्ण ही रहता है अथवा यो कहे इतने श्रम के उपरान्त भी उनके व्यक्तित्व को अभिव्यजना के फलक पर पूर्णतया उकेरा नही जा सका है। उनके व्यक्तित्व का सर्वतोमहत् पक्ष है—विचार-क्राति। उन्होने समष्टि को विचार की एक नई दिशा दी है, जिसे हम क्राति शब्द मे अभिहित कर सकते हैं। क्राति का अर्थ होता है—विचारो का सामूहिक एव सशक्त रूपान्तरण। और यह कार्य किया है आचार्य प्रवर के वैचारिक परिवेश ने। अपनी वैचारिक क्राति मे उन्होने व्यक्ति एव देश को ही नही, विश्व-समस्याओ को रेखाकित कर उन्हे समाहित करने का मौलिक मार्ग-दर्शन प्रस्तुत किया है।

आज विश्व की ज्वलन्त समस्याएँ है—मानव-मानव मे व्याप्त विषमता की भेद रेखाएँ, मानसिक तनाव, सामाजिक विभेद एव जन-जन का प्रश्नाकुल मानस।

आचार्यश्री के उर्वरक ऊर्जस्विल मानस ने विचार क्राति के रूप मे प्रत्येक समस्या का स्पर्श किया और उसका स्थायी समाधान भी प्रस्तुत किया।

विषमता की धधकती ज्वालाओ मे आज एक राष्ट्र ही नही, समूचा विश्व जल रहा है। व्यक्ति-व्यक्ति के भेद ने समाज, राष्ट्र एव विश्व मे विभेद की सशक्त रेखाएँ खीच दी हैं।

इस वैषम्य के साथ ही आज का विश्व सर्वाधिक ग्रस्त है—मानसिक तनावो से। आज का आम व्यक्ति किसी-न-किसी तनाव से अनुवेष्टित है। वैयक्तिक, पारिवारिक एव सामाजिक सघर्षपूर्ण स्थितियो मे वह तनावमुक्त नही रह सका है और इस तनाव ने बहुत अधिक मनोरोगो को उत्पन्न किया है।

अध्यात्म के प्रति उपेक्षा एव सामाजिक सघर्षों ने भी विश्व-समस्याओ मे कम वृद्धि नही की है। मानव-मन की उद्दाम लालसाओ ने आम व्यक्ति का ध्यान अपनी ओर खीच लिया है, परिणामत. अध्यात्म साधना के प्रति जन-रुचि सहज ही क्षीण होती गई और आज विश्व उस स्थिति मे पहुँच गया है जहाँ आत्म-शान्ति नामक तत्त्व नाम शेष रह गया है।

इतना सब होने पर भी यह मानना पडेगा कि आज के विश्व ने बौद्धिक विकास के प्रतिमान स्थापित किये है। प्रतिभाओ मे बहुमुखता आई है। प्रकृति-विजय का अभियान आरम्भ किया है मानव प्रज्ञा ने। महा समुद्रो के विराट् वक्ष पर विशाल जलयान ही नही, जहाजी बेडो की गर्जना सुनाई दे रही है। पक्षियो की भाति आज का मानव आकाश को नाप रहा है। यही नही, वह

सृष्टि के समस्त रहस्यो को जान लेने के लिए कृत सकल्प है और विकास की ओर द्रुत गति से वढ रहा है, किन्तु दूसरी ओर उसी मानव-प्रज्ञा ने हाइड्रोजन एव न्यूट्रान जैसे अणु आयुधो का भी निर्माण किया है, जो विश्व सभ्यता को एक ही ग्रास मे आत्मसात कर सके। मानव प्रज्ञा की इस स्थिति को देखते हुए आज का जन-मानस प्रश्नाकुल ही अधिक बना है। उसकी तीक्ष्ण प्रज्ञा अनेक सामान्य-असामान्य जिज्ञासाओ से आक्रान्त बनी रहती है। अनेक जटिल-अजटिल प्रश्न उसके मानस मे तरगायित होते रहते हैं।

विश्व की इन सभी गम्भीर एवं पेचीदा समस्याओ पर आचार्य प्रवर ने मीमासापूर्ण चिन्तन किया है और उनके समाधान के लिए समता दर्शन, समीक्षण ध्यान, जैसे सशक्त आयाम प्रस्तुत किये हैं। इन सब की सविस्तार व्याख्या के द्वारा, जो आगे के पृष्ठो पर अंकित है, पाठक अपनी समस्याओ का ही नही, विश्व समस्याओ का भी समाधान प्राप्त कर सकेंगे।

आचार्य प्रवर का व्यक्तित्व अनुभूतिगत साधना का व्यक्तित्व है। उनकी साधना आत्मनिष्ठ साधना है और आत्मा के चरमान्त स्वरूप की उपलब्धि उनकी साधना का पुनीत लक्ष्य है। अस्तु, जो कुछ विचार-वैभव आचार्य प्रवर मे प्राप्त हुआ है वह आत्म-दर्शन की भूमिका का निदर्शन मात्र है। समस्त अनुभूतियो का अभिव्यजन एव आलेखन असम्भव ही है। अत. अगले पृष्ठो मे हम 'विचार-दर्शन' के माध्यम से आचार्य प्रवर के आन्तरिक व्यक्तित्व की किंचित् झलक प्राप्त कर सकेंगे।

• • •

समता-दर्शन

किसी भी महामानव के महनीय व्यक्तित्व को तब तक सर्वांगीण रूप से नही जाना जा सकता, जब तक उसके दार्शनिक विचार अथवा उसकी समाज किंवा राष्ट्रोत्थान के लिये समर्पित दार्शनिक विचारधारा को ठीक से न जान लिया जाय। महान् व्यक्तित्व की गरिमा उसके विचार-वैभव द्वारा ही आँकी जा सकती है। विचार ही उसकी ऐसी धरोहर है जो युग-युग तक उस व्यक्तित्व को अमर रखती है और समाज को निरतर आलोक प्रदान करती है।

आचार्यश्री एक युगपुरुष हैं और युग पुरुष वही होता है, जो समाज मे चली आ रही गली-सडी मान्यताओ, मानवता विरोधी रूढ धाराणाओ को ध्वस्त कर समाज को चिन्तन का नया आलोक प्रदान करे, युगीन समस्याओ का आध्यात्मिक दृष्टि से समयोचित समाधान प्रस्तुत करे तथा जनजीवन मे फैली हुई अन्ध श्रद्धा, विषमता एवं दौर्मनस्यपूर्ण परिस्थितियो पर स्थायी समाधान हेतु अनुभूतिमूलक दृष्टि प्रदान करे।

श्रद्धेय आचार्य देव अपने इस दायित्व के निर्वहन मे कितने सक्षम रहे हैं, इसे हम उनके द्वारा प्रस्तुत समता-दर्शन की वैचारिक एव दार्शनिक पृष्ठभूमि के आधार पर समझने का प्रयास करेंगे।

आज का जनजीवन जिस विषमता के दलदल मे फँस चुका है, अथवा फँसता जा रहा है, वह अत्यन्त शोचनीय है। चारो तरफ हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा है, प्रत्येक मानव का मन भयाक्रान्त है, विषमता की इस विभीषिका के भयकर परिणामो से उपराम पाने के लिये ही आचार्यश्री ने समता-दर्शन की मौलिक देन समाज के लिये प्रस्तुत की है।

समता-दर्शन के स्वरूप-विश्लेषण एव वस्तुनिष्ठ विवेचन के पूर्व "दर्शन" शब्द की निर्युक्ति तथा दर्शन-क्षेत्र की वर्तमान दशा पर कुछ चिन्तन अप्रासगिक नही होगा।

दर्शन-निर्युक्ति

दर्शन मानव मस्तिष्क की विचित्र किन्तु तर्कनिष्ठ उपज है। दर्शन, जीवन और जगत् की विचित्रताओ का पर्यावलोकन करने वाला दिव्य चक्षु है। दर्शन शब्द की निष्पत्ति 'दृश्' धातु से हुई है। 'दृश' का अर्थ है देखना। "दृश्यते अनेन इति दर्शनम्" जिसके द्वारा देखा जाये, वह दर्शन कहलाता है। नेत्रो का दर्शन चाक्षुष दर्शन कहलाता है, किन्तु प्रस्तुत मे दर्शन शब्द किन्ही भिन्न अर्थो मे प्रयुक्त हुआ है। जिन तत्त्वो का साक्षात्कार चर्म-चक्षुओ से नही किया जा सकता, उनका साक्षात्कार दर्शन-चक्षु का विषय क्षेत्र है। सक्षेप मे दर्शन का अर्थ है तत्त्व का साक्षात्कार।

दर्शन की सार्थकता केवल भौतिक पदार्थो की शक्ति-सीमा के परिवोध मे ही नही, अपितु, सृष्टि के चराचर तत्त्वो की अपरिमेयता एव सूक्ष्मता के प्रति अन्तर्दृष्टि के जागरण मे है।

दर्शन का उद्देश्य

विश्व के रगमच पर प्रतिपल घटित होने वाले घटना चक्रो की विविधता, विचित्रता, साश्चर्यता एव रमणीयता का तीक्ष्ण प्रज्ञा से तर्क-पटु विवेचन करना, विश्व मे चेतन-अचेतन-सत्ता का क्या स्वरूप है, उस सत्ता का जीवन और जगत् पर क्या प्रभाव पडता है, प्रकृति प्रदत्त उपादानो की रमणीय व्यवस्थाओ का केन्द्र क्या है, प्रकृति अपने सन्तुलन को कैसे बनाए रखती है आदि प्रश्नो की गहराई मे पहुँच कर उनकी तर्क-सगत व्याख्या करना दर्शन-शास्त्र का प्रमुख लक्ष्य रहा है।

पाश्चात्य दार्शनिको के अनुसार दर्शन का उद्देश्य है, विश्व की बौद्धिक एव तर्क-सगत व्याख्या प्रस्तुत करना, अर्थात् पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार मानसिक व्यायाम का ही अपर पर्याय दर्शन है। किन्तु पौर्वात्य दर्शन तर्क के साथ श्रद्धा के सवल को समुचित महत्त्व प्रदान करते हैं, अतएव पूर्व के दर्शन, विशेपकर भारतीय दर्शनो मे श्रद्धा एव तर्क का सुन्दर समन्वय मिलता है। दृश्य एव अदृश्य जागतिक तत्त्वो के प्रति नैसर्गिक श्रद्धा के साथ तर्क-पुरस्सर विवेचना प्रस्तुत करना भारतीय दर्शनो की प्रमुख विशेषता है। तात्पर्य यह है कि भारतीय दर्शन जगत् के साथ जीवन की भी व्याख्या प्रस्तुत करते है। आध्यात्मिक दृष्टि से भारतीय दर्शन आत्मा एव परमात्मा की सत्ता को उजागार करते हैं। इस प्रकार यदि भारतीय दर्शन की ऐसी कोई विशेषता है, जो उसे पाश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है, तो वह है, आत्मा की परम सत्ता (मोक्ष) का चिन्तन।

सृष्टि के दो प्रमुख घटक है, चेतनामय जगत् और अचेतन सृष्टि । जैन दर्शन की भाषा मे चेतन एव जड, साख्य दर्शन के शब्दो मे पुरुष और प्रकृति, वैदान्त के चिन्तन मे ब्रह्म एव माया का विस्तार कहा जाता है ।

उपर्युक्त दोनो तत्त्वो के अन्वेषण की मुख्य दो परम्पराएँ कायम हो गई हैं और वे दो परम्पराएँ ही निरन्तर प्रवहमान सरिता की तरह दर्शन-जगत् की दो धाराएँ बन गई हैं, एक पाश्चात्य और दूसरी पौर्वात्य । पाश्चात्य दर्शन भौतिक तत्त्वो के विश्लेषण की गहराई मे पहुँचे, तो पौर्वात्य दर्शन चेतन-आत्म तत्त्व के अन्वेषरण की दिशा मे प्रवृत्त हुए । इसी दृष्टि से भारतीय सभ्यता एव सस्कृति से प्रभावित सभी पौर्वात्य दर्शनो को आत्मवादी दर्शन कहा जाता है ।

भारत के प्राय सभी दर्शनो का प्रमुख ध्येय आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन करना रहा है । चेतन एव परम चेतन की सत्ता को जिस समग्रता एव सूक्ष्मता से भारतीय दार्शनिको ने समझने-समझाने का प्रयास किया, वह अपने आप मे अनूठा एव अतुलनीय है ।

जैन-दर्शन

सभी भारतीय दर्शनो मे जैन-दर्शन का अपना गौरवमय स्थान है । आत्म-तत्त्व की विवेचना मे तो उसका सानी कोई दर्शन है ही नही, क्योकि दिव्यद्रष्टा प्रभु महावीर का अध्यात्मवादी दर्शन "आत्मा" का ही दर्शन है । प्रभु महावीर के उपदेश "से आयावाई, एगे आया" जैसे आत्मवादी स्वरो से ही प्रारम्भ होते है । आत्मा के सदर्भ मे जितनी सूक्ष्म मीमासा जैनागमो मे उपलब्ध होती है, उससे सहज समझा जा सकता है कि आत्मा का स्वरूप विवेचन महावीर का प्रमुख प्रतिपाद्य रहा है । इतना होने पर भी वह आत्मा-सम्बन्धी चिन्तन केवल विचारपरक नही रहा । विचार के साथ आचारनिष्ठा महावीर दर्शन का प्राण है । महावीर का दर्शन केवल विचारो का एक कोष नही, अपितु जीवन जीने की कला है । वहाँ केवल सत्य की अन्वेषरणा नही, उसके साथ रमणता (आत्मासात् हो जाना) भी अनिवार्य मानी गई है ।

यही कारण है क वेदान्त और मीमासा, महायान और हीनयान, साख्य और योग की तरह महावीर-दर्शन, दर्शन और धर्म दो भागो मे विभक्त नही हुआ और न वहाँ किसी प्रकार का विरोध ही उपस्थित हुआ । दर्शन और धर्म वहाँ विचार और आचार के रूप मे परस्पर पूरक, सहचर अथवा सहगामी रहे हैं । महावीर-दर्शन मे विचार के साथ आचार की भी अतुलनीय महिमा तथा गरिमा है । दर्शन द्वारा विचार प्रस्फुटन और तद्द्वारा तत्त्व प्रतिपादन होता है, तो धर्म उसके क्रियान्वयन किंवा अनुशीलन पर बल देता है ।

महावीर-दर्शन की इस सक्षिप्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि समस्त भारतीय दर्शनो मे जैन-दर्शन सर्वाधिक प्रभावशाली दर्शन है। इस दर्शन की अनूठी एव वस्तुनिष्ठ विशेषताएँ है। अध्यात्म से सम्बन्धित जड-चेतन, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, आत्मा-परमात्मा तथा ससार-मुक्ति, सभी का सागोपाग तर्क-सगत विवेचन तथा तदनुसार जीवन-सर्जन जैन-दर्शन और जैन-धर्म के प्रथम प्रतिपाद्य हैं।

विडम्बना यह कि अन्यान्य दर्शनो की तरह जैन-दर्शन की तात्त्विक विवेचना भी बौद्धिक विलास बनकर रह गई है। आज का चिन्तन बौद्धिक विश्लेषण किंवा वैचारिक परिधि तक सीमित रह गया है। जीवन की सम्पूर्ण व्यावहारिक समस्याओ-अभीप्साओ का समयोचित तथ्यमूलक समाधान दर्शन की परिधि से वाहर रहता जा रहा है। दर्शन की चर्चा केवल तक के रूप मे जीवन की नही, मस्तिष्क की खुराक बनकर रह गई है और दर्शन अपने उद्देश्य (सत्य की खोज) से भटक गया है।

वैज्ञानिक दर्शन

यही कारण है कि पौर्वात्य दार्शनिक चिन्तन-प्रणाली की जटिलताओ एव दुरुहताओ से आज की जन-चेतना असम्पृक्त-सी होती जा रही है, और पाश्चात्य दार्शनिक चिन्तन, जो आज विज्ञान के रूप मे प्रस्तुत है, के प्रति समूचा पौर्वात्य जन-जीवन भी आकर्षित है। तथ्य यह है कि जीवन के चरम एव परम सत्य का आधार विज्ञान कथमपि नही बन सकता। विज्ञान का प्रारम्भ भौतिक जगत् के सत्य तत्त्व की खोज के लिये और तद्द्वारा जीवन मे बाह्य सुख-सुविधाओ और सुरक्षा जुटा लेने के लिये हुआ है। किन्तु विज्ञान अपने प्रारभिक उद्देश्य से भटक कर ठीक विपरीत दिशा की ओर मुड गया। उसकी तथाकथित उन्नति, अवनति की पराकाष्ठा बन गई है। आनुमानिक तथ्य के अनुसार ससार के वडे देशो मे वैज्ञानिक प्रयोगो पर होने वाले व्यय का लगभग ९९ प्रतिशत युद्ध और जासूसी के साधनो पर हो रहा है।[1] कैसी विडम्बना है कि जिस विज्ञान से यह अपेक्षा की गई थी कि वह मानव-जाति के लिये अधिक जीवन सामग्री, अधिक रोजगार, अधिक विश्राम और अवकाश, अधिक शान्ति और अधिक सौहार्द तथा पारस्परिक विश्वास का निर्माण करेगा, वही विनाश की सामग्रियो के अम्बार लगाने मे नियुक्त है। क्या मनुष्य की मूल प्रवृत्ति सृजनात्मक होने के वजाय विध्वसात्मक है ?

आज राष्ट्रीय रगमच ही नही, सम्पूर्ण जन-मानस त्रस्त है। विश्व युद्धो के सृजन मे सलग्न कूटनीति और सर्वनाशी आणविक अस्त्रो की घुड़-दौड़ के

१—नवभारत टाइम्स, वार्षिकाक १९७७।

जिस वैज्ञानिक युग मे हम जी रहे है, इसमे मानवीय मूल्य और मापदण्ड भी बदल गए है। लगता है, अब मानवीय अस्तित्व अनिश्चित है। उसमे न तो निश्चितता रह गई है और न निश्चितता। यायावरो की तरह हम भटक रहे है और अपने ही भविष्य के प्रति आतंकित बने हुए हैं। विज्ञान का तथाकथित विकास यहाँ तक पहुँच गया है कि एक उन्मादी आक्रामक इस धरती की अद्यावधि सचित सभ्यता को चुटकी बजाते भस्मसात कर सकता है, और समस्त सुरक्षा-साधन निरर्थक होकर ताकते रह सकते हैं।

पाश्चात्य वैज्ञानिक दर्शन की भयावह स्थिति के सुस्पष्ट चिह्न समक्ष होते हुए भी आज सम्पूर्ण जन-चेतना उसी से आप्लावित एव प्रभावित है तथा पौर्वात्य दर्शन के प्रति एक आम उपेक्षा प्राय. सर्वत्र परिलक्षित हो रही है।

कारण स्पष्ट है कि आज समूचा पौर्वात्य दर्शन केवल वैचारिक सिद्धान्त मात्र रह गया है, और दर्शन जब बौद्धिक परिधि मे ही आबद्ध होकर युगीन समस्याओ का समुचित समाधान प्रस्तुत करने मे अक्षम हो जाता है, तो वह दर्शन की व्युत्पत्ति मूलक परिभाषा से ही कट जाता है।

यह कहा जा चुका है कि दर्शन का अर्थ केवल बौद्धिक व्यायाम ही नही है। जीवन की मौलिक समस्याओ के समाधान पर दृष्टि-बोध देना भी दर्शन के कार्य क्षेत्र मे आता है। इस अर्थ मे दर्शन विचार एव तदनुरूप आचार का भी उत्प्रेरक होता है।

वर्तमान चिन्तन इस बात का प्रबल साक्षी बनता जा रहा है कि आज दर्शन का कार्य-क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो चुका है और उसकी उपयोगिता भी बढ चुकी है, किन्तु आवश्यकता है दर्शन को अपने पुरातन रूढ अर्थों की परिधि से बाहर निकाल कर उसे युगानुकूल शैली एव भाषा मे प्रस्तुत करने की। आज का जन-जीवन वैषम्य की जिस ज्वाला मे झुलस रहा है, दर्शन के समक्ष यह एक ज्वलन्त चुनौती है। दृष्टिकोण और आचार का सयोजन तो विज्ञान की बुनियाद है, किन्तु जब ध्वस्त आचार पर कोई दर्शन प्रस्तुत कर दिया जाता है, तो उसकी परिणति बडी शोचनीय हो जाती है। वही बात आज के वैज्ञानिक भौतिकवादी दर्शन की हो रही है, जो कुटिल युद्ध नीति के अत्याचारी जबडो मे आ फँसा है।

दर्शन का वर्तमान रूप : समता दर्शन

श्रद्धेय आचार्य देव ने समता दर्शन की जो विचार-प्रणाली प्रस्तुत की है,

वह निश्चित ही दर्शन-जगत् की जीवन्त माँग को पूरी कर सकती है और दर्शन-क्षेत्र के प्रति जो एक उपेक्षा का भाव सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, उसे समाप्त करने मे योगदान कर सकती है।

आचार्य श्री ने युगीन समस्याओ को अपने अध्यात्म-चिन्तन के व्यापक फलक पर लेकर तोला है और पाया है कि जब तक दर्शन को समता के धरातल पर युगान्तरकारी रूप मे प्रस्तुत नही किया जाएगा, तब तक दर्शन के प्रति विश्व-मानस आश्वस्त नही हो सकता।

वर्तमान का भयावह विज्ञान

मेरी अपनी दृष्टि से, ऐसे समय मे, समता दर्शन की उपयोगिता और अधिक बढ जाती है, जबकि समूचा वायुमण्डल विषमता के विष से सपृक्त एव विस्फोटक बन गया है। आज इस अध्यात्म-प्रधान सास्कृतिक मानवीयता के नीलाकाश मे भौतिकवाद का विस्फोटक गुब्बारा अपनी चरम सीमा तक फूल कर विनाश के कगार तक पहुँचने को है, क्योकि मानवीय सभ्यता एव सस्कृति को भूमिसात करने वाले विध्वसक अणुओ के ढेर पर हर राष्ट्र का अह ताण्डव नृत्य कर रहा है। सभ्यता और सस्कृति के श्वासो की धड़कन सीमातीत रूप से तीव्र हो चली है। पता नही कौन-सा क्षण उसके पर्यवसान की घण्टी बजा दे।

दो प्रलयकारी महायुद्धो के दुष्परिणाम हम देख चके हैं। तीसरे महायुद्ध के घनघोर बादल भी जब कभी तथाकथित राष्ट्राधिपतियो के अमानवीय अन्तराकाश मे मडराने लगते हैं। शीतयुद्ध तो प्राय चलते ही रहते हैं।

ब्रिटिश विज्ञान-शास्त्री गार्डरेटरेटेलर ने अपनी पुस्तक ' द बायलाजिकल टाइम बम" मे कीटाणु-युद्ध की विभीषिकाओ का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है, "अब इन आयुधो के प्रहार से यह सभव हो गया है कि किसी देश को शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्थायी तौर से दुर्बल बनाकर शताब्दियो तक पराधीन रखा जा सके। यह कितनी चिन्ताजनक दयनीय और अमानवीय स्थिति होगी ? अमेरिकी कृमिविज्ञानी साल्वे डोर लूरिया ने यह आशका व्यक्त की है कि अब सिर्फ राजनेता ही नही सामान्य रसायनवेत्ता भी किसी देश अथवा समस्त विश्व को बर्बाद करने की शक्ति से सुसज्जित हो गये है। इससे सार्वभौम विनाश को रोक सकना और भी अधिक जटिल हो गया है।"

कितनी दर्दनाक एव भयावह स्थिति मे पहुँच गई, हमारी मानवीय सभ्यता ! आज जिधर दृष्टि दौडाई जाय, उधर ही विषमता एव अशान्ति का दौर-दौरा मानव-मानव के अन्त करण को घेरे खडा है। मानवता टुकड़ो-टुकडो मे विभक्त हो चुकी है। हिंसा का दानव मानवीय हृदयो को कुचलकर सभ्यता और सस्कृति के रहे-सहे चिह्नो को भी दुर्दश्य किवा अदृश्य बना देना चाहता है।

इस विस्फोटक परिस्थिति का सवेदन राजनैतिक एव दार्शनिक मनीषियो के ग्राशकित हृदयो को विगत तीन दशो से अत्यधिक झकझोर रहा है। राजनीतिज्ञो की मनश्चेतना व्याकुल हो रही है। दार्शनिको एव सस्कृति-सरक्षको ने सावधान और सचेत होकर फूँक-फूँक कर पैर धरने के स्वर उठाये हैं, राजनीतिज्ञो ने जलावर्त्तो से बचते हुए नौका खेने का आग्रह प्रदर्शित किया है।

राजनीतिज्ञो द्वारा समाधान

अन्तश्चेतना को उद्वेलित करने वाले इन दृश्यो को देखकर विभिन्न राजनीतिज्ञ भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से समस्याओ पर समाधान पाने का निष्फल प्रयास कर रहे हैं। कोई समाजवाद का नारा लगाता है, तो कोई राजतन्त्र का। किन्ही की दृष्टि कम्युनिज्म पर ही केन्द्रित हो जाती है, तो कोई पूँजीपति बनकर शान्ति को हस्तगत करना चाहता है। लेनिनवाद, माओवाद के मनमोहक नारे लगाये जा रहे है।

ऐसे समय मे आवश्यकता है एक ऐसे शान्तिदूत की जो महावीरवत समतापूत, बुद्धवत करुणापूत और जीससवत सेवापूत हो, जिसकी समग्र अन्तश्चेतना अहिंसा एव समता की अन्तश्चेतना हो, जिसका प्रत्येक उद्घोष अहिंसक क्रान्ति के साथ समता का सिहनाद करने वाला हो, जिसकी हर प्रक्रिया अहिंसात्मक समता की गहराई हो, जिसके जीवन के अणु-अणु से मुखरित होता हुआ समता का समवेत स्वर विषमता से आप्लावित जन-जन के कर्ण-कुहरो को अजस्र वाहिनी समताधारा से भरनेवाला हो, किन्तु समस्या यह है कि उस समता-सर्जक अथवा दर्शक की खोज प्राय भौतिक, सामाजिक एव राजनैतिक क्षेत्रो मे ही की जा रही है। आध्यात्मिक क्षेत्र की ओर से प्राय सभी अन्वेषको की दृष्टि बन्द हो चुकी है जबकि शान्ति एव समता का वास्तविक प्रवाह-स्रोत अध्यात्म ही है।

जब तक इन उद्जन एव हाइड्रोजन विस्फोटको की सर्वनाशकारी प्रतिस्पर्धा का अन्त न आ जाए और उन चिन्तको की दृष्टि, जो अभी तक भौतिक शक्ति मे ही परिबद्ध रही है, मुडकर अध्यात्म की ओर करवट न ले ले, स्थायी शान्ति का सूत्र हस्तगत नही किया जा सकता।

आश्चर्य तो इस बात का है कि अन्तश्चेतना मे सन्निहित शान्ति का अन्वेषण चन्द्रलोक, मगलग्रह एव समुद्र की अतल गहराइयो मे किया जा रहा है। शान्ति बाहर नही है, अन्तर मे उपलब्ध होगी। आवश्यकता है, दृष्टि-परिवर्तन अथवा दृष्टि-समन्वय की।

वैसे राजनीतिज्ञो द्वारा शान्ति-स्थापन के छुटपुट प्रयास राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रो मे यदाकदा दृष्टिगत होते रहे हैं। हिंदुस्तान-पाकिस्तान का

ताशकद समझौता उसी प्रयास की एक कडी कहा जा सकता है, किन्तु जब तक सर्वमान्य मानवीय धरातल का सैद्धान्तिक भूमिका के रूप मे गठन नही किया जाये, ये छुटपुट प्रयास प्राणवान बनकर स्थायित्व ग्रहण नही कर सकते ।

अध्यात्मवादियो के छुटपुट प्रयास

आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी स्थायी विश्व शान्ति की उपलब्धि हेतु विभिन्न विचारात्मक एव समायोजनात्मक प्रयास किये गये व किये जा रहे हैं, किन्तु वहाँ भी कही साम्प्रदायिक हठाग्रह के घेरे मे तो कही व्यक्तिगत अह के सम्पोषण एव सवर्धन मे ही अवरुद्ध होकर प्राय. वे प्रयास इति श्री प्राप्त करते रहे हैं ।

आचार्य श्री द्वारा स्थायी समाधान

सम्भवत इन्ही दृष्टिकोणो को सन्मुख रखते हुए जैन-दर्शन को भाषा एव शैली की दृष्टि से नूतन परिवेश प्रदानकर तथा उसे वैचारिकता की एकान्त परिधि से बाहर निकालकर स्थायी विश्वशान्ति के अमोघ उपाय प्रशस्त करने के लिये एव मानव-मानव मे परिव्याप्त विषमता का सफल समाधान देने हेतु राष्ट्र के महान् मनीषी, सन्त, युगपुरुष, अध्यात्म जगत् के प्रखर चिन्तक, दार्शनिक गरिमा से युक्त, समतादर्शन एव समता-समाज के सृजेता तथा व्याख्याता, तप -पूत, समतासागर, आचार्यवर्य श्री नानालाल जी म० सा० ने समता-दर्शन का सिद्धात प्रस्तुत किया है। आचार्यश्री द्वारा प्रस्तुत समता-दर्शन वैचारिक, दार्शनिक एव व्यावहारिक क्षेत्रो मे समता का समुद्घोष कर अहिंसक उत्क्राति का आधार रखने वाला, साम्प्रदायिक घेरे-बन्दियो से मुक्त, वैचारिक और व्यावहारिक रूपरेखा तैयार करने वाला है। यदि चिन्तको, दार्शनिको तथा समाज व राष्ट्र के कर्णधारो की चेष्टाएँ इस दर्शन के अनुरूप हो, तो मैं समझता हूँ कि, निर्विवादेन विश्व शान्ति का प्रयास एक आश्वस्त दिशा पा सकता है । इसके साथ ही दर्शनजगत् अपने नव्य-भव्य रूप मे पुन स्थायी आलोक-स्तम्भ के रूप मे प्रस्तुत हो सकता है ।

आचार्य श्री की चिन्तन-प्रणाली सम्प्रदायवाद तथा व्यक्तिवाद से उन्मुक्त आत्मिक एव मानवीय मूल्यो को स्पर्श करने वाली है। उनका जीवन चिरपोषित साधना का जीवन है । उनकी साधना एक सच्चे योगी की अनुभूतिपूर्ण साधना है । अत उनके तप पूत मानस से नि सृत चिरसञ्चित अनुभूतियो से नियोजित समता दर्शन की विचार-भागीरथी जन-जन के हृदय-क्षेत्र मे परिव्याप्त विषमता-जन्य शुष्कता को समता की सरसब्जता मे अवश्य ही बदल सकती है ।

आचार्य प्रवर ने अपनी साधना के समुज्ज्वल अतीत मे जो कुछ चिन्तन, मनन एव अनुभव किया है उसी से समता दर्शन की विचारधारा का आकलन

प्रस्तुत हुआ है। समता दर्शन एक स्पष्ट दार्शनिक एवं व्यावहारिक विचार-धारा है। यह वैचारिक हवाई महलो का निर्माण नही है, जहाँ केवल विचार, विचार तक सीमित रह जाय। जीवन की समस्याओ का स्थायी समाधान केवल वैचारिक उत्क्रान्ति से ही नही होगा। उसके लिये जीवन के व्यवहारो की ओर भी दृष्टि दौडानी होगी। इन्ही दृष्टियो को सम्मुख रखते हुए समता दर्शन की विचार-सरणि मे सैद्धातिक एव दार्शनिक पहलुओ के साथ-साथ व्यावहारिक (Practical) प्रयोगात्मक प्रणालियो का भी समुचित समायोजन किया गया है। सक्षेप मे हम यो कह सकते है, वर्तमान विषमताजन्य समस्याओ का स्थायी समाधान समता दर्शन की दार्शनिक तथा व्यावहारिक पृष्ठभूमि के आधार पर ढूँढा जा सकता है।

समता दर्शन का उद्देश्य

समता दर्शन का प्रतिपाद्य (उद्देश्य) आध्यात्मिक (धार्मिक), सामाजिक, नैतिक एव राजनैतिक क्षेत्र मे परिव्याप्त विषमताओ का वैचारिक तथा प्रवृत्त्यात्मक स्थायी समाधान प्रस्तुत कर जन-जन मे समत्व, समन्वय, सामजस्य, सर्वधर्म सद्भाव एव भावात्मक एकता की प्रवल भावनाओ का विस्तार करना है।

आधुनिक सदर्भ मे युगीन पुकार के आधार पर यह नितान्त वाछनीय भी है कि समता, समन्वय, मैत्री एव सद् एकत्व की भावना जन-जनव्यापी बने। किन्तु इसके लिये पहले एक सुदृढ पृष्ठभूमि चाहिये। सशुद्ध वैचारिक भूमिका पर ही कर्मबीज पल्लवित हो सकता है। "यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" के अनुसार जैसी विचार-निष्ठा होगी, कर्म-प्रस्फुटन भी तदनुरूप ही होगा। अत. समन्वय और समतामूलक व्यवहार अपने लिये एक ऐसी भूमिका चाहते है जो एतन्मूलक विचारो से ओतप्रोत हो।

यह तभी सभव है, जवकि प्रवुद्ध जन-मानस समता-दर्शन की वैचारिक पृष्ठभूमिका की परिचिति प्राप्त कर लोकव्यापी अहिंसक सत्सगठनात्मक आदोलन द्वारा उसके व्यावहारिक क्रियात्मक रूप को विचार, उच्चार एव आचार द्वारा आत्मसात् करने का सवल प्रयास करे।

उसके सामान्य परिचय (परिवोध) के लिये समता-दर्शन की वैचारिक एव व्यावहारिक रूपरेखा "समता-दर्शन और व्यवहार" नामक ग्रथ मे साधुमार्गी जैन सघ द्वारा प्रस्तुत की गई है। यह आचार्यदेव के चिन्तन का व्याख्यान वद्ध अनुलेख है।

आचार्य श्री द्वारा प्रतिपादित समता-दर्शन के उद्देश्य एव विधेय को हृदयगम करने के लिये यह आवश्यक है कि उसके मूल सिद्धातो पर दृष्टिपात

किया जाए। समता-दर्शन के प्रारभिक प्रतिपादन मे सूत्रात्मक शैली के आधार पर आचार्य श्री ने समता-दर्शन को चार सोपानो मे विभक्त किया है। इन सूत्र-स्पर्शो की विस्तृत विवेचना आचार्य श्री अपने प्रवचनो मे किया करते हैं। यहाँ प्रस्तुत है आचार्य श्री के शब्दो एवं विचारो मे ही समता-सिद्धात का मूल सूत्रात्मक रूप।

समता-दर्शन के चार मुख्य विभाग किये जा सकते हैं—

(१) सिद्धान्त-दर्शन (२) जीवन-दर्शन
(३) आत्म-दर्शन और (४) परमात्म-दर्शन

(१) सिद्धान्त-दर्शन

मानव ही नही, प्राणि समाज से सवधित सभी क्षेत्रो मे यथार्थ की दृष्टि, वस्तुस्वरूप के उत्तरदायित्व तथा शुद्ध कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान एव सम्यक्, सर्वांगीण व सम्पूर्ण चरम विकास की साधना समता सिद्धान्त का मूलाधार है। इस प्रथम सोपान पर सिद्धान्त को प्रमुखता दी गई है।

(क) समग्र आत्मीय शक्तियो के सम्यक् और सर्वांगीण चरम विकास को सदा-सर्वत्र सम्मुख रखना।

(ख) समस्त दुष्प्रवृत्तियो के त्यागपूर्वक सत्साधना मे विश्वास रखना।

(ग) समस्त प्राणिवर्ग का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकार करना।

(घ) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थो के यथाविकास यथायोग्य सम-वितरण मे विश्वास रखना।

(ङ) गुण एव कर्म के आधार पर विश्वस्थ प्राणियो के श्रेणीविभाग मे विश्वास रखना।

(च) द्रव्य-सम्पत्ति व सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर चेतना तथा कर्तव्यनिष्ठा को प्रमुखता देना।

(२) जीवन-दर्शन :

सबके लिए एक व एक के लिए सब तथा जीओ व जीने दो के प्रतिपादक सिद्धान्तो तथा सयम-नियमो को स्वय के व समाज के जीवन मे आचरित करना समता का जीवन्त दर्शन करना होगा।

(क) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और सापेक्षवाद (स्याद्वाद) को जीवन मे उतारना।

(ख) जिस पद पर जीवन रहे, उस पद की मर्यादा को प्रामाणिकता से वहन करने का ध्यान रखना ।

(३) आत्म-दर्शन :

विश्व मे मुख्य दो तत्त्व हैं—एक चेतन तत्त्व और दूसरा जड तत्त्व । चेतन तत्त्व स्व-पर-प्रकाश-स्वरूप है और जड तत्त्व उससे भिन्न है । इन दोनो तत्त्वो के सम्मिश्रण से कर्म-युक्त ससारी प्राणी-जगत् है । इसमे व्यवस्थित न्यूनाधिक कलापूर्ण विकासशीलता आत्मा का प्रतीक है और घुणाक्षर-न्याय के तरीके से बननेवाली स्थिति का प्रतीक प्राय जड तत्त्व है ।

सम्यक् आचरण से आत्मा का साक्षात्कार चिन्तन, मनन व स्वानुभूति द्वारा करना आत्म-दर्शन है । इसके लिये निम्नोक्त भावना एव नियमितता आवश्यक है—

(क) प्रात काल सूर्योदय के पहले कम-से-कम एक घण्टा आत्म-दर्शन के लिये निर्धारित करना ।

(ख) जो भी घण्टा, जिन मिनिटो से नियुक्त किया जाये, ठीक उन्ही मिनिटो का हमेशा ध्यान रखकर साधना मे बैठना ।

(ग) साधना के समय पापकारी प्रवृत्तियो का निरोध करना और सत्प्रवृत्तियो को आचरण मे लाना ।

(घ) समस्त प्राणिवर्ग को आत्मा के तुल्य समझना ।

जैसा सुख-दु ख अपने को होता है अर्थात् सुख प्रिय और दु ख अप्रिय लगता है, वैसा ही अन्य प्राणियो को भी होता है । अत हम किसी को दु ख न दें । सबको सुख हो, इस भावना से अपनी सम्यक् प्रवृत्ति का ध्यान रखना ।

किसी भी जीव को हनन करने की भावना रखना अपने आपका हनन करना है । दूसरो के सुख मे अपना सुख समझना और कष्ट मे अपना कष्ट समझना परमावश्यक है । इस प्रकार आत्म-दर्शन की भावना को यथास्थान सम्यक् रीति से आगे बढाते रहना चाहिये तथा इन भावनाओ को पुष्ट करने के लिए सत्साहित्य का यथावकाश अध्ययन करना चाहिये ।

(४) परमात्म-दर्शन .

रागद्वेष, आदि विकारो के समूल नाशपूर्वक चरम विकास पर पहुँचने वाली आत्मा सही अर्थ मे परमात्म-दर्शन को प्राप्त होती है और परमात्म-दर्शन पद प्राप्त आत्मा ही समग्र आत्मीय तथा अनन्त गुणो का उपयोग करती हुई जगत् मे मगलमय कल्याण अवस्था की आदर्श स्थिति उपस्थित करती है ।

इस विषय मे निरन्तर ध्यान रखते हुए जो व्यक्ति क्रमिक विकास पर चलता है, वह समता-दर्शन की स्थिति से विश्व-कल्याण मे महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। अत समता-दर्शन को परिपूर्ण रूप से जीवन मे उतारना चाहिये।

उपर्युक्त चार सूत्र रूप सोपानो को माध्यम बनाकर आचार्यश्री अपने प्रवचनो मे समता-समाज की सर्जना के लिये मौलिक प्रकाश डालते है, जिसका सीधा सम्बन्ध वर्तमान की विषमताजन्य विभीषिका के समाधान से होता है। आचार्य देव सचोट, किन्तु स्पष्ट शब्दो मे फरमाया करते है कि असमानता के नाम से जो सर्वव्यापी विषमता चारो तरफ फैली हुई है, वही जन-जीवन मे घृणा, द्वेष, दौर्मनस्य एव असन्तोष का कारण बनी हुई है। अत इस स्थिति से उपराम पाने के लिये समता-दर्शन के माध्यम से समता-समाज का निर्माण नितान्त अपेक्षित है। जन-जन मे व्याप्त विषमता की आग की उप-शान्ति के लिये समता-सिद्धान्त-सरिता का शीतल जल ही एक अमोघ उपाय सिद्ध हो सकता है।

समता-सिद्धान्त के प्रतिपादन का मूल उद्देश्य है, विषमताजन्य द्वन्द्वो से उपराम पाना। वर्तमान विषमता की अग्नि का चित्रण आचार्यश्री के भावो मे ही प्रस्तुत है।

वर्तमान विषमता की विभीषिका

आज सारे ससार मे विषमता की सर्वग्राही आग धू-धू करके जल रही है। जहाँ दृष्टि जाती है, वही दिखाई देता है कि हृदय में अशान्ति, वचन में विशृ खलता एव जीवन में स्वार्थ की विक्षिप्तता ने सब ओर मनुष्यता के कोमल और हार्दिक भावो को आच्छादित कर दिया है। ऐसा लगता है कि चचलता में गोते लगाता हुआ मनुष्य का मन भ्रष्टता एव विकृति के गर्त की ओर निरन्तर अग्रसर होता ही चला जा रहा है।

सर्वव्यापी विषमता

अमावस्या की मध्य रात्रि का अन्धकार जैसे सर्वव्यापी हो जाता है, वैसी ही सर्वव्यापी यह विषमता हो रही है। क्या व्यक्ति के हृदय की आन्तरिक गहराइयो में, तो क्या बाह्य ससार में, व्यक्ति से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व में प्राय. यह विषमता फैलती जा रही है—गहराती जा रही है।

विषभरी यह विषमता सबसे पहले मानव-हृदय की भीतरी परतो में घुस कर उसे क्षत-विक्षत बनाती है और हृदय की सौजन्यता तथा शालीनता को

नष्ट कर देती है । जो हृदय समता की रसधारा मे समरस बनकर न केवल अपने भीतर, बल्कि बाहर भी सब ठौर आनन्द की उमग उत्पन्न कर सकता है, वही हृदय विषमता की आग मे जलकर स्वय तो काला-कलूटा बनता ही है, किन्तु उस कालिमा को बाह्य वातावरण मे भी चारो ओर विस्तारित कर देता है ।

फैलाव व्यक्ति से विश्व तक

यह विषमता इस तरह व्यक्ति के हृदय मे पोषण प्राप्त करके जब बाहर फूटती है, तो उसका सबसे पहला आक्रमण परिवार पर होता है, क्योकि परिवार ही आधारगत घटक है। परिवार मे जो रक्त-प्रभाव का सहज स्नेह होता है, वह भी विषम विचारो एव वृत्तियो मे पडकर विषाक्त बन जाता है ।

परिवार की सहृदयता एव स्नेहिल वृत्ति को लूटती हुई विषमता जब आगे फैलती है, तो वह समाज और राष्ट्र के विभिन्न क्षेत्रो मे भेद-भाव व पक्ष-पात की असख्य दीवारे खडी कर देती है और पग-पग पर पतन की खाइयाँ खोद देती है । जिन क्षेत्रो से वास्तव मे दुर्बलता के क्षणो मे मनुष्य को सम्हलने और उठने का सहारा मिलना चाहिये, वे ही क्षण आज उसकी अपनी ही लगाई हुई आग मे जलते हुए उसकी जलन मे वृद्धि ही कर रहे हैं ।

सहकार के सूत्र मे अतीत से बधे हुए भारत पर ही यदि दृष्टिपात करे, तो क्या यह स्पष्ट नही होगा कि ज्यो-ज्यो सब ओर विषमता पसरती जा रही है, त्यो-त्यो सहकार की कडियाँ ही नही टूट रही है बल्कि मानवीय सद्गुणो का शनै शनै ह्रास भी होता चला जा रहा है । विषमता के वशीभूत होकर क्या आज सामान्यतया भारतीय जन हृदयहीन, गुणहीन और कर्त्तव्यहीन नही होता जा रहा है ?

जहाँ विभिन्न राष्ट्र विषमता के जाल मे ग्रस्त होकर अपने स्वार्थो को अन्तर्राष्ट्रीय हित से ऊपर उठाते जा रहे है, तो उसका स्वाभाविक परिणाम सबके सामने है । वियतनाम-युद्ध, जो अभी-अभी समाप्त हुआ है, क्या मानव सभ्यता के भाल पर सदैव कलक के रूप मे नही बना रहेगा, जहाँ व्यक्तियो और राष्ट्रो की पशुता ने नगा नृत्य किया था । युद्ध और विनाश—यह विश्व-गत विषमता का खुला परिणाम होता है। और नित प्रति प्रकट होने वाले परिणामो से स्पष्ट रूप से माना जा सकता है कि व्यक्ति से लेकर विश्व तक समूचे रूप से प्राय यह विषमता फैली हुई है। इसने विश्व के कोने-कोने मे आत्मीयता का मरण-घण्टा बजा दिया है ।

बहुरूपी विषमता

जितने क्षेत्र—उससे कई गुनी भेद की दीवारें—इस विषमता के कितने रूप हैं—यह जानना भी आसान नही है ।

राजनीति के क्षेत्र मे नजर फैलावे, तो लगता है कि सैकडो वर्षों के कठिन सघर्ष के बाद मनुष्य ने लोकतत्र के रूप मे समानता के कुछ सूत्र बटोरे, किन्तु विषमता के पुजारियो ने मत जैसे समानाधिकार के पवित्र प्रतीक को भी ऐसे व्यवसाय का साधन बना दिया है कि प्राप्त राजनीतिक समानता भी जैसे निरर्थक होती जा रही है । वैसे मत का समानाधिकार साधारण उपलब्धि नही है, इससे स्वस्थ परिवर्तन का चक्र घुमाया जा सकता है । किन्तु देश मे यही चक्र किस दिशा मे घुमाया गया और किस तरह घूम रहा है—यह सर्वविदित है ।

विषमता के पक मे से राजनीति का उद्धार तो नही हुआ सो न सही, किन्तु वह तो जब इस दलदल मे गहरी डूबती जा रही है, तब आर्थिक क्षेत्र मे समता लाने के सशक्त प्रयास किये जा सकें—यह और भी अधिक कठिन हो गया है । राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत मे आर्थिक प्रगति के सारे दावो के बावजूद इस क्षेत्र की विषमता बेहद बढी है । एक ओर भव्य भवनो मे ऐश्वर्य तथा विलास के झूलो मे झूलते इठलाते हुए अति अल्पसख्यक नागरिक तो दूसरी ओर जीवन के आधार-भूत आवश्यक पदार्थों—साधारण भोजन, वस्त्र एव निवास से भी वचित, कठिनाइयो एव कष्टो मे जर्जर बने करोडो नर-ककालो का विवश और असहाय समूह । यह कैसी दर्दनाक विषमता है ?

विज्ञान का विकास और विषमता

यह कहना सर्वथा उचित ही होगा कि अनियत्रित विज्ञान के विकास ने मानव-जीवन को असन्तुलित बना दिया है और यह असन्तुलन नित प्रति विषमता को बढाता जा रहा है । विज्ञान जहाँ वास्तव मे निर्माण का साधन बनना चाहिये, वहाँ वह उसके दुरुपयोग से विनाश और महाविनाश का साधन बनता जा रहा है ।

विज्ञान तो विशेष ज्ञान का नाम है और भला स्वय ज्ञान और विज्ञान विनाशकारी कैसे बन सकता है ? उसे विनाशकारी बनाने वाला है उसका अनियत्रण अथवा उसका दुष्प्रवृत्तियो के बीच सरक्षण । उस्तरे से हजामत बनाई जाती है, मगर वही अगर बन्दर के हाथ मे पड जाये तो वह उससे किसी का भी गला काट सकता है ।

विषमताजन्य समाज मे विज्ञान का जितना विकास हुआ है, वह बराबर बन्दर स्वभावी लोगो के हाथ मे पडता रहा है। आखिर विज्ञान एक शक्ति है, इसके नये-नये अन्वेषण और अनुसधान शक्ति के नये-नये स्रोतो को प्रगट करते हैं। ये ही स्रोत अगर सदाशयी और त्यागी लोगो के नियत्रण मे आ जाये, तो उनसे समता की ओर गति की जाकर सामूहिक कल्याण की साधना की जा सकती है। परन्तु आज तो यह शक्ति स्वार्थ और भोग के पडो के हाथो मे है, जिसका परिणाम है कि तत्त्व अधिक-से-अधिक शक्तिशाली होकर इस शक्ति का अपनी सत्ता और अपना वर्चस्व वढाने मे प्रयोग कर रहे हैं।

शक्ति स्रोतो का असन्तुलन

वैज्ञानिक शक्तियो का यह दुरुपयोग, सभी क्षेत्रो मे निरन्तर विषमता मे वृद्धि करता जा रहा है। हमारी सस्कृति का जो मूलाधार गुण और कर्म पर टिकाया गया था, वह इस असन्तुलित वातावरण के बीच उखडता जा रहा है। शक्ति-स्रोतो के इस असन्तुलन का सीधा प्रभाव यह दिखाई दे रहा है कि योग्य को योग्य नही मिलता और अयोग्य सारा योग्य हडप जाता है। योग्य हताश होकर निष्क्रिय होता जा रहा है और अयोग्य अपनी अयोग्यता का ताडव नृत्य कर रहा है।

विलास और विनाश की विषमता

ससार की बाह्य परिस्थितियो मे विलास और विनाश की विषमता आज पतन के दो अलग-अलग कगारो पर खडी हुई है। विलास की कगार पर खडा इन्सान अट्टहास कर रहा है तो विनाश की कगार पर खडा इन्सान इतना व्यथाग्रस्त है कि दोनो को यह भान नही है कि वे किसी भी क्षण पतन की खाई मे गिर सकते हैं।

एक विहगावलोकन करें इस विषम दृश्य पर कि स्वार्थ और भोग की लिप्सा के पीछे पागलपन किस सीमा तक बढता जा रहा है। भारतीय दर्शन-शास्त्रो ने तृष्णा को वैतरणी नदी कहा है, ऐसी नदी जिसका कही अन्त नही।

तैरते जाइये, तैरते—न कूल, न किनारा। एक पश्चिमी दार्शनिक ने भी इसी दृष्टि से मनुष्य को उसकी स्वार्थ वृत्ति के कारण भेडिया कहा है। यह वृत्ति जितनी अनियन्त्रित होती है, उतनी ही यह विनाश रूपी होती हुई अधिकाधिक भयावह होती जाती है।

वर्तमान युग मे सन्तोष की सीमाएँ टूट गई हैं और वितृष्णा व्यापक हो रही है। जिसके पास कुछ नही है—वह आवश्यकता के मारे कुछ पाना चाहता

है, लेकिन जिसके पास काफी कुछ है, वह भी और अधिक पा लेने के लिये और पाते रहने के लिये पागल बना हुआ है। जितना वह पाता है, उसकी तृष्णा उससे कई गुनी अधिक बढती जाती है और फिर सारे कर्त्तव्यो को भूलकर वह और अधिक पाना चाहता है। सिर्फ स्वय के लिये वह पाता रहता है, या यो कहे कि वह लूटता रहता है तो एक शक्तिशाली की लूट का असर हजारो के अभावो मे फूटता है। विषमता की दूरियाँ इसी तरह आज तीखी बनती जा रही हैं।

आज आदमी धन की लिप्सा मे पागल है, सत्ता की लिप्सा मे मत्त बन रहा है, तो यश और झूठे यश की लिप्सा मे अपने अन्तर को कालिमामय बनाता जा रहा है। सभी जगह सिर्फ अपने लिये वह लेना ही लेना सीख गया है। भोग उसका प्रधान धर्म बन गया है, त्याग से उसकी निष्ठा उठती जा रही है और यही सारी विषमता का मूल है। आज का व्यापार और व्यवसाय इसी कारण नैतिकता की लीक से हटकर शोषण एव उत्पीड़न का साधन बनता जा रहा है। धन कम हाथो मे अधिक और अधिक हाथो मे कम-से-कम होता जा रहा है। इसका नतीजा है कि कुछ सम्पन्न लोग विलास की कगार पर इठलाते हैं, तो अधिक-सख्य जन अपनी प्रतिभा, अपनी गुणशीलता और अपने सामान्य विकास की बलि चढाकर विनाश की कगार पर खडे हैं।

धन-लिप्सा, सत्ता-लिप्सा मे बदल कर और अधिक आक्रामक बन रही है। आँखे मूँदकर सत्ता-लिप्सा अपना अणुबम इस तरह गिराती है कि वहाँ दोषी और निर्दोष के विनाश मे भी कोई भेद नही है। सत्तालिप्सु एक तरह से राक्षस हो जाता है कि उसे अपनी कुर्सी से मतलब—फिर दूसरो का कितना अहित होता है, यह सब उसके लिये बेमतलब रह जाता है। यश-लिप्सा इस परिप्रेक्ष्य मे और अधिक भयानक हो जाती है। ये लिप्साये ही बड़ा-से-बड़ा रूप धारण करती हुई आज ससार को विषमतम बनाए हुए हैं।

विषमता का मूल कहाँ ?

सारभूत एक वाक्य मे कहा जाय तो इस सर्वव्यापिनी पिशाचनी विषमता का मूल मनुष्य की मनोवृत्ति मे है। जैसे हजारो गज भूमि पर फैले एक वट वृक्ष का बीज राई जितना ही होता है, उसी प्रकार इस विषमता का बीज भी छोटा ही है, किन्तु है कठिन अवश्य। मनुष्य की मनोवृत्ति मे जन्मा और पनपा यह बीज बाह्य और आन्तरिक जगत् मे वट वृक्ष की तरह प्रस्फुटित होकर फैलता है और हर क्षेत्र मे अपनी विषमता की शाखाएँ एव उपशाखाएँ विस्तारित करता है।

'समता-दर्शन और व्यवहार' पुस्तक के उपर्युक्त कुछ उद्धरणो से समता-

दशन का उद्देश्य सुस्पष्ट प्रकाशित हो जाता है। किन्तु किसी भी सिद्धान्त के उद्देश्य प्रतिपादन से ही समस्याओ का समाधान नही हो जाता है, चाहे वे उद्देश्य कितने ही सुन्दर क्यो न हो। अत· उद्देश्य के साथ विधेय एव उसके क्रियात्मक पक्ष को उजागर करना भी सिद्धान्त की मौलिक प्रतिपादना के लिये आवश्यक है।

प्रस्तुत है आचार्य देव के भावो मे ही उपर्युक्त विषमता का स्थायी एवं रचनात्मक समाधान।

एक जटिल प्रश्न ?

"वर्तमान विषमता की विभीषिका मे इसलिये यह जटिल प्रश्न पैदा होता है कि क्या व्यक्ति और समाज के जीवन को इस विषमता के चहुँमुखी नागपाश से मुक्त बनाया जा सकता है ? क्या समग्र जीवन को न सिर्फ अन्तर्जगत मे, बल्कि बाहर की दुनिया मे भी समता, सहयोगिता और सदाशयता पर खडा किया जा सकता है ? और क्या उल्लास, उत्साह और उन्नति के द्वार सभी के लिये समान रूप से खोले जा सकते हैं ?

प्रश्न उत्तर मांगता है

"प्रश्न गहरा है—जटिल भी है, किन्तु प्रबुद्ध वर्ग के सद् विवेक पर चोट करने वाला है—काश, कि इसे वैसी ही गहरी अनुभूति से समझने और अपनी कार्य-शक्ति को कर्मठ बनाने का यत्न किया जाये।

यह प्रश्न उत्तर मागता है—समाधान चाहता है। यह माग गूँजती है—उत्तर दीजिये, समाधान कीजिये अथवा अपने और अपने समस्त सगठनो के भविष्य को खतरे मे डालने के लिये तैयार हो जाइये।

इस गूँज को सुनिये और उत्तर तथा समाधान खोजिये। प्रश्न विपमता का है—उत्तर समता मे निहित है।

समतामय जीवन

समता शब्द का अर्थ भिन्न-भिन्न रूपो मे लिया जाता है। वैसे मूल शब्द सम है, जिसका अर्थ समान होता है। अब यह समानता जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे किस-किस रूप मे हो—इसका विविध विश्लेपण किया जा सकता है।

सबसे पहले आध्यात्मिक क्षेत्र की समानता पर सोचे तो अपने मूल स्वरूप की दृष्टि मे सारी आत्माएँ समान होती हैं—चाहे वह एकेन्द्रिय याने अविकसित

प्राणी की आत्मा हो या सिद्ध भगवान् की पूर्ण विकसित आत्मा। दोनो में वर्तमान समय की जो विषमता है, वह कर्मजन्य है। कुविचारो एव कुप्रवृत्तियो का मैला अविकसित अवस्था मे आत्मा के साथ सलग्न होने से उसका स्वरूप भी मैला हो जाता है और जैसे मैले दर्पण मे प्रतिविम्व नही दिखाई देता, उसी तरह मैली आत्मा भी श्रीहीन वनी रहती है। तो आध्यात्मिक समता यह है कि इस मैल को दूर करके आत्मा को अपने मूल निर्मल स्वरूप मे पहुँचाया जाय।

एक-एक आत्मा इस तरह समता की ओर मुडे तो दूसरी ओर परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मे भी ऐसा समतामय वातावरण वनाया जाय जिसके प्रभाव से समूहगत समता भी सशक्त वनकर समग्र जीवन को समतामुखी वना दे। राजनीति मे समानता, अर्थनीति मे समानता और समाजनीति मे समानता के जब पग उठाये जायेंगे और उसे अधिक-से-अधिक वास्तविक रूप दिया जायेगा, तो समता की द्विधारा वहेगी—भीतर से वाहर और वाहर से भीतर। तव भौतिकता और आध्यात्मिकता सघर्षशील न रहकर एक दूसरे की पूरक वन जायेगी जिसका समन्वित रूप जीवन के वाह्य और अन्तर को समतामय बना देगा।

यह परिवर्तन समाजवाद या साम्यवाद से आवे अथवा अन्य विचार के क्रियान्वयन से—किन्तु लक्ष्य हमारे सामने स्पष्ट होना चाहिये कि मानवीय गुणों की अभिवृद्धि के साथ सासारिक व्यवस्था मे अधिकाधिक समता का प्रवेश होना और ऐसी समता का जो मानव-जीवन के आभ्यन्तर को न सिर्फ सन्तुलित रखे, वल्कि उसे सयम-पथ पर चलने के लिये प्रेरित भी करे। धरातल जव समतल और साफ होता है तो कमजोर आदमी भी उस पर ठीक व तेज चाल से चल सकता है, किन्तु इसके विपरीत अगर धरातल ऊबडखावड और कँटीला-पथरीला हो तो मजबूत आदमी को भी उस पर भारी मुश्किलों का सामना करना पडेगा।

व्यक्ति की सक्षमता का तालमेल यदि सामाजिक विकास के साथ वैठ जाता है तो व्यक्ति की क्षमता भी कई गुनी वढ जाती है।

व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध

यो देखा जाय तो समाज कुछ भी नही है। व्यक्ति-व्यक्ति मिलकर ही तो समाज की रचना करते हैं, फिर व्यक्ति से विलग समाज का अस्तित्व कहाँ हैं ? किन्तु सभी के अनुभव मे आता होगा कि व्यक्ति की शक्ति प्रत्यक्ष दीखती है, फिर भी समूह की शक्ति उससे ऊपर होती है, जो व्यक्ति की शक्ति को नियत्रित भी करती है। एक व्यक्ति एक सगठन की स्थापना करता है—उसके

नियमोपनियम बनाता है तथा उनके अनुपालन के लिये दण्ड-व्यवस्था भी कायम करता है। एक तरह से सगठन का वह जनक है, फिर भी क्या वह स्वय ही नियम-भग करके दण्ड से बच सकता है ? यही शक्ति समाज की शक्ति कहलाती है। जिसे व्यक्ति स्वेच्छा से वरण करता है। राष्ट्रीय सरकारो के सविधानो मे यही परिपाटी होती है।

जब-जब व्यक्ति स्वस्थ धारा से अलग हटकर निरकुश होने लगता है— शक्ति के मद मे झूमकर अनीति पर उतारू होता है, तब-तब यही सामाजिक शक्ति उस पर अकुश लगाती है। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता होगा कि कई बार वह कुकर्म करने का निश्चय करके भी इसी विचार से रुक जाता है कि लोग क्या कहेगे ये लोग चाहे परिवार के हो—पड़ौस के हो, मोहल्ले, गाँव, नगर या देश-विदेश के हो, इन्हे ही समाज मान लीजिये।

व्यक्ति स्वय से नियत्रित हो—व्यक्ति समाज से नियन्त्रित हो, ये दोनो परिपाटियाँ समता लाने के लिये सक्रिय बनी रहनी चाहिये। यही व्यक्ति एवं समाज के सम्बन्धो की सार्थकता होगी कि विषमता को मिटाने के लिये दोनों ही नियत्रण सुदृढ बने।

समता मानव मन के मूल मे है

प्रत्येक मानव अपने जीवन को सुखी बनाना चाहता है और उसके लिये प्रयास करता है, किन्तु आज की दुविधा यह है कि सभी तरह की विषमताओ के बीच सम्पन्न भी सुखी नही है, विपन्न भी सुखी नही और शान्ति-लाभ तो जैसे एक दुष्कर स्थिति बन गई है। इसका कारण यह है कि मानव अपने साध्य को समझने के बाद भी उसके प्रतिकूल साधनो का आश्रय लेकर जब आगे बढता है तो बबूल उगाने से आम कहाँ से फलेगा ?

समता मानव मन के मूल मे है—उसे भुलाकर जब वह विपरीत दिशा मे चलता है तभी दुर्दशा आरम्भ होती है।

एक दृष्टान्त से इस मूल प्रवृत्ति को समझिये। चार व्यक्तियो को एक साथ खाने पर बिठाया गया। पहले की थाली मे हलुवा, दूसरे की थाली मे लप्सी, तीसरे की थाली मे सिर्फ गेहूँ की रोटी तो चौथे की थाली मे बाजरे की रोटी परोसी गई, तो क्या चारो साथ बैठकर शान्तिपूर्वक खाना खा सकेंगे ? ऊपरवाला नीचे वाले के साथ घमड से ऐंठेगा तो नीचे वाला भेदभाव के दर्द से कराहेगा। इसके विरुद्ध सभी की थालियो मे केवल बाजरे की रोटी ही हो तो सभी प्रेम से खाना खा लेगे। इसलिये गहरे जाकर देखें, तो पदार्थ मनुष्य के सुख और शान्ति के कारण नही होते, बल्कि उसके मन की विचारणा ही अधिक

सशक्त कारण होती है। समता का व्यवहार करें—ऐसी जागृति होना भी अनिवार्य है।

समता का मूल्यांकन

समता या समानता का कोई यह अर्थ ले कि सभी लोग एक ही विचार के या एक से शरीर के बन जावें अथवा बिल्कुल एक-सी ही स्थिति मे रखे जावे तो यह न सभव है और न ही व्यावहारिक। एक ही विचार हो तो बिना आदान-प्रदान, चिन्तन और सघर्ष के विचार का विकासशील प्रवाह ही रुक जायगा। इसी तरह आकृति, शरीर अथवा सस्कारो मे भी समानपने की सृष्टि सभव नही।

समता का अर्थ है कि पहले समतामय दृष्टि बने तो यही दृष्टि सौम्यता पूर्वक कृति मे उतरेगी। इस तरह समता समानता की वाहक बन सकती है। आप ऐसे परिवार को लीजिये, जिसमे पुत्र अर्थ या प्रभाव की दृष्टि से विभिन्न स्थितियो मे हो सकते हैं, किन्तु सब पर पिता की जो दृष्टि होगी, वह समतामय होगी। एक अच्छा पिता ऐसा ही करता है। उस समता से समानता भी आ सकेगी।

समता कारण रूप है, तो समानता कार्यरूप क्योकि समता मन के धरातल पर जन्म लेकर मनुष्य को भावुक बनाती है तो वही भावुकता फिर मनुष्य के कार्यों पर असर डाल कर उसे समान स्थितियो के निर्माण मे सक्रिय सहायता देती है। जीवन मे जब समता आती है तो सारे प्राणियो के प्रति सम-भाव का निर्माण होता है। तब अनुभूति यह होती है कि बाहर का सुख हो या दु ख, दोनो अवस्थाओ मे समभाव रहे—यह स्वय के साथ-के-साथ की स्थिति। अन्य सभी प्राणियो को आत्म-तुल्य मानकर उनके सुख-दु ख मे सहयोगी बने—यह दूसरो के साथ व्यवहार करने की स्थिति। ये दोनो स्थितियाँ जब पुष्ट बनती हैं, तो यह मानना चाहिये कि जीवन समतामय बना रहेगा। कारण कि सही पुष्ट भावना आचरण मे उतरकर व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति की दो राहो पर विषमता को नष्ट करती हुई समता की सृष्टि करती है।

समता का आविर्भाव कब ?

समता का श्रीगणेश चूँकि मन से होना चाहिये, इसलिये मन की दो वृत्तियाँ प्रमुख होती हैं—राग और द्वेष। ये दोनो विरोधी वृत्तियाँ हैं। जिसे आप चाहते हैं उसके प्रति राग होता है। राग से मोह और पक्षपात जन्म लेता है। जिसे आप नही चाहते उसके प्रति द्वेष आता है। द्वेष से कलुष, प्रतिशोध और हिंसा पैदा होती है। ये दोनो वृत्तियाँ मन को चचल बनाती रहती हैं तथा मनुष्य को स्थिरचित्ती एव स्थिरधर्मी बनने से रोकती हैं। चचलता

विषमता बनती और बढती है । मन विषम, तो दृष्टि विषम होगी और उसकी कृति भी विषम होगी ।

समता का आविर्भाव तभी सभव होगा, जब राग और द्वेष को घटाया जाय । जितनी निरपेक्ष वृत्ति पनपती है, समता सगठित और सस्कारित बनती है । निरपेक्ष दृष्टि मे पक्षपात नही रहता और जब पक्षपात नही है तो वहाँ उचित के प्रति निर्णायक वृत्ति पनपती है तथा गुण और कर्म की दृष्टि से समता अभिवृद्ध होती है । अगर एक पिता के मन मे एक पुत्र के प्रति राग और दूसरे के प्रति द्वेष हो, तो वह स्थिति समता-जीवन की द्योतक नही है । मैं सबकी आँखो मे प्रफुल्लता देखना चाहूँ—मैं किसी की आँख मे आँसू नही देखना चाहूँ—ऐसी वृत्ति जब सचेष्ट बनती है तो मानना चाहिये कि उसके मन मे समता का आविर्भाव हो रहा है ।

बाह्य समानता के लिये प्रयास करने के पूर्व अन्तर की विषमता नही मिटाई और कल्पना कर ले कि बाहर की विषमता किसी भी बल-प्रयोग से एक बार मिटा भी दी गई हो, तो भी विषमतामय अन्तर के रहते वह समानता स्थायी नही रह सकेगी । एक ध्वजा, जो उच्च गगन मे वायु मण्डल मे लहराती है—उसकी कोई दिशा नही होती । जिस दिशा का वायु वेग होता है, वह उधर ही मुड जाती है, किन्तु ध्वजा का जो दण्ड या स्तूप होता है वह सदा स्थिर रहता है । तो समता के विकास के लिये दण्ड या स्तूप बनने का प्रयास करे, जो स्थिर और अटल हो । फिर समता का सूक्ष्मतम विकास होता चला जायगा ।

अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि

समता के दो रूप हैं—दर्शन और व्यवहार । अन्तर के नेत्रो की प्रकाशमय दृष्टि से देखकर जीवन मे गति करना समता दर्शन का मुख्य भाव है और यह जो गति है उससे समता के व्यवहार का स्वरूप स्पष्ट होता है । अत: अन्तर और बाह्य दोनो दृष्टियो से समतापूर्ण जीवन का सचालन करने से सार्थक जीवन की उपलब्धि हो सकती है । दर्शन की गति व्यापक नही हो, तो व्यवहार मे भी एकरूपता नही आती है । इसके लिये अन्तर्दृष्टि और बाह्य दृष्टि मे सम्यक् समन्वय होना चाहिये ।

आप एक मकान को देखते हैं । उसमे कही पत्थर होता है, कही चूना, सीमेट, लोहा, लकडी आदि । साथ ही उसमे रहने या बैठने वालो की स्थिति भी एक-सी नही होती है– अलग-अलग आकृतियाँ, वेषभूषा, आदि । फिर भी यदि अन्तर्दृष्टि मे सबके समता आ जाय तो इन विभिन्नताओ के बावजूद सारा

समूह एकरूपता की अनुभूति ले सकता है। बाह्य दृष्टि की विपमता इसी भाव एव विचार-समता के दृढ आधार पर समाप्त की जा सकती है।

समता दर्शन का व्यावहारिक रूप

अधिकाश मे दार्शनिक सिद्धात विचारो तक सीमित रह जाते हैं, किन्तु विचार जब तक आचरण मे ढले नही, तब तक उनकी उपयोगिता सदिग्ध ही बनी रहती है। हम देखते हैं दर्शन-क्षेत्र जितना विचारो मे परिष्कृत हुआ, उतना आचार मे नही। इसीलिये उसकी उपयोगिता आज उपेक्षा का कारण बनी हुई है। आचार्य देव ने इस दृष्टि पर अत्यन्त गम्भीर मनन एव मन्थन किया और पाया कि समता-दर्शन भी यदि विचारो का एक कोप अथवा हवाई महल ही बना रहा, तो उसकी कोई उपयोगिता नही रह जायगी। किसी भी सिद्धान्त की व्यावहारिक कसौटी यही है कि सामान्य जन-जीवन तथा उसकी सामयिक समस्याओ पर उसका क्या और कैसा प्रभाव पडता है, साथ ही उन दार्शनिक सिद्धान्तो का सामान्य जन-चेतना अपने आचरणो के द्वारा किस रूप मे अनुसरण कर सकती है।

इसी दृष्टिकोण से समता-दर्शन के सैद्धान्तिक पक्ष के साथ उसके रचनात्मक रूप अर्थात् क्रिया (आचरण) पक्ष पर भी आचार्य श्री ने पर्याप्त प्रकाश डाला है।

समता दर्शन अपने नवीन परिप्रेक्ष्य मे

समता, साम्य या समानता मानव जीवन एव मानव समाज का शाश्वत दर्शन है। आध्यात्मिक या धार्मिक क्षेत्र हो अथवा आर्थिक, राजनीतिक या सामाजिक—सभी का लक्ष्य समता है, क्योकि समता मानवमन के मूल मे है। इसी कारण कृत्रिम विषमता की समाप्ति और समता की अवाप्ति सभी को अभीष्ट होती है। जिस प्रकार आत्माएँ मूल मे समान होती हैं, किन्तु कर्मों का मैल उनमे विभेद पैदा करता है, वैसे ही मानव-सम्बन्धो मे भी विषमता एव विकार उत्पन्न होते हैं। इन्हे सयम और नियम द्वारा समान बनाया जा सकता है। उसी प्रकार समग्र मानव समाज मे भी स्वस्थ नियम-प्रणाली एव सुदृढ सयम की सहायता से समाजगत समता का प्रसारण किया जा सकता है।

आज जितनी अधिक विषमता है, समता की माँग भी उतनी ही अधिक गहरी है। काश, कि हम उसे सुन और महसूस कर सके तथा समता-दर्शन के विचार को व्यापक व्यवहार मे ढाल सकें। विचार पहले और बाद मे उस पर व्यवहार—यही क्रम सुव्यवस्था का परिचायक होता है। वर्तमान विषमता के मूल मे सत्ता व सम्पत्ति पर व्यक्तिगत या पार्टीगत लिप्सा की प्रबलता ही विशेष

रूप से कारणभूत है और यही कारण सच्ची मानवता के विकास मे बाधक है। समता ही इसका स्थायी व सर्वजन हितकारी निराकरण है।

समता दर्शन का लक्ष्य है कि समता, विचार मे हो, दृष्टि और वाणी मे हो तथा समता आचरण के प्रत्येक चरण मे हो। वह समता जीवन के अवसरो की प्राप्ति मे होगी, सत्ता और सम्पत्ति के अधिकार मे होगी, वह व्यवहार के समूचे दृष्टिकोण मे होगी। समता मनुष्य के मन मे, तो समता समाज के जीवन मे। समता भावना की गहराइयो मे तो, समता साधना की ऊँचाइयो मे। प्रगति के ऐसे उत्कट स्तरो पर फिर समता के सुप्रभाव से मनुष्यत्व को क्या-ईश्वरत्व को भी उपलब्ध और स्थापित किया जा सकता है।

समता दर्शन का नवीन परिप्रेक्ष्य

युग बदलता है, तो परिस्थितियाँ बदलती हैं, व्यक्तियो के सहजीवन की प्रणालियाँ बदलती हैं, तो उनके विचार और आचार के तौर-तरीके मे तदनुसार परिवर्तन आता है। यह सही है कि शाश्वत तत्त्व मे एव मूल व्रतो मे परिवर्तन नही होता। सत्य ग्राह्य है, तो वह हमेशा ग्राह्य ही रहेगा। किन्तु सत्य प्रकाशन के रूपो मे युगानुकूल परिवर्तन होना स्वाभाविक है। मानव-समाज स्थगित नही रहता, बल्कि निरन्तर गति करता रहता है। गति का अर्थ होता है एक स्थान पर टिके नही रहना और एक स्थान पर टिके नही रहे तो परिस्थितियो का परिवर्तन अवश्यभावी है।

मनुष्य एक चिन्तनशील और विवेकशील प्राणी है। वह प्रगति भी करता है, तो विगति भी। किन्तु यह सत्य है कि वह गति अवश्य करता है। इसी गति-चक्र मे परिप्रेक्ष्य भी बदलते रहते हैं। जिस दृष्टि से एक तत्त्व या पदार्थ को कल देखा था—शायद समय, स्थिति आदि के परिवर्तन से वही दृष्टि आज उसे कुछ भिन्न रूप मे पायेगी। कोण भी तो देश, काल और भाव की अपेक्षा से बदलते रहते हैं। अत स्वस्थ दृष्टिकोण यह होगा कि परिवर्तन के प्रवाह को भी समझा जाय तथा परिवर्तन के प्रवाह मे शाश्वतता तथा मूल व्रतो को कदापि विस्मृत न होने दिया जाय। दोनो का समन्वित रूप ही श्रेयस्कर होता है।

इसी दृष्टिकोण से समता-दर्शन को भी आज हमे उसके नवीन परिप्रेक्ष्य मे देखने एव उसके आधार पर अपनी आचरण-विधि निर्धारित करने मे अवश्य ही जिज्ञासा रखनी चाहिये। इस अध्याय मे आगे इस जिज्ञासा मे विचार किया जा रहा है।

समता के समरस स्वर

वर्तमान विषमता की कर्कश ध्वनियो के बीच आज साहस करके समता के समरस स्वरो को सभी दिशाओ में गुंजित करने की आवश्यकता है। सम्पूर्ण

मानव-समाज ही नही, समूचा प्राणी-समाज भी इन स्वरो मे आह्लादित हो उठेगा। जीवन के सभी क्षेत्रो मे फैली विपमता के विरुद्ध मनुष्य को सघर्ष करना ही होगा, क्योकि मनुष्यता का इस विपम वातावरण मे निरन्तर ह्रास होता जा रहा है।

यह ध्रुव सत्य है कि मनुष्य गिरता, उठता और वदलता रहेगा, किन्तु समूचे तौर पर मनुष्यता कभी समाप्त नही हो सकेगी और आज भी मनुष्यता का अस्तित्व डूवेगा नही। वह सो सकती है, मर नही सकती और अव समय आ गया है, जव मनुष्यता की सजीवता लेकर मनुष्य को उठना होगा, जागना होगा और क्रान्ति की पताका को उठाकर परिवर्तन का चक्र घुमाना होगा। क्रान्ति यही कि वर्तमान विषमता जन्य सामाजिक मूल्यो को हटाकर समता के नये मानवीय मूल्यो की स्थापना की जाय। इसके लिये प्रवुद्ध एव युवा वर्ग को विशेष रूप से आगे आना होगा और व्यापक जागरण का शख फूँकना होगा जिससे समता के समरस स्वर उद्‌भूत हो सकें।

जीवन-दर्शन की क्रियाशील प्रेरणा

क्रियाहीन ज्ञान पगु होता है, तो ज्ञानहीन क्रिया निरर्थक। जानना, मानना और करना का सतत क्रम ही जीवन को सार्थक वनाता है। जानने को वास्तविकता का ज्ञान करलें और उस जाने हुए को चिन्तन की कसौटी पर कसकर खरा भी पहचान ले और उसके वाद करने के नाम पर निष्क्रियता धार ले, तो उससे तो कुछ वनने वाला नही है। यह दूसरी वात है कि सही जानने और मानने के बाद करने की सवल प्रेरणा जागती ही है। सम्यक् ज्ञान और सयम्क् दर्शन का वल सम्यक् चरित्र का अनुप्रेरक अवश्य ही वनता है, फिर भी कर्मठता का तीव्र अनुभाव उत्पन्न होना ही चाहिये।

सिद्धान्त भी वही प्रेरणोत्पादक कहलाता है, जो तदनुकूल कार्य-क्षमता को जागृत करता है। जीवन-निर्माण का यही मूल मत्र होता है। ज्ञान और क्रिया की सयुक्त शक्ति ही मनुष्य को वन्धनो से मुक्त करती है। चाहे वे वन्धन कैसे भी हो, विषमता या तज्जन्य विकारो के ही क्यो न हो, इस शक्ति के सामने वे कभी भी टिके नही रह सकते हैं।

दृढ एव अटल सकल्प के साथ जव इस शक्ति का पग आगे वढता है, तो विपमता से मुक्ति भी सहज वन जाती है। व्यक्ति का अटल सकल्प अपने क्रम मे परिवार, समाज, राष्ट्र एव समूचे विश्व की सकल्प शक्ति को प्राणवान वनाता है और यही सामूहिक प्राण शक्ति समाजगत प्रभाव लेकर ज्ञान एव क्रियाहीन व्यक्तियो को सावधान वनाती है। व्यक्ति के जागने से विकास का

विशिष्ट स्तर बनता है, तो समाज के जागने से सभी व्यक्तियो मे विकास का सामान्य स्तर निर्मित होता है ।

समतामय आचरण के २१ सूत्र

समतामय आचरण के अनेकानेक पहलू एव रूप हो सकते है, किन्तु सारे तत्त्वो एव परिस्थितियो को समन्वित करके उसके निचोड मे इन २१ सूत्रो की रचना इस उद्देश्य से की गई है कि आचरण के पथ पर इन्हे पकड कर समता की गहन साधना आरम्भ की जा सकती है। इन २१ सूत्रो का समायोजन इस भाँति किया गया है कि वे मानव के अन्तर्बाह्य को समुज्ज्वलित करने के साथ ही जगत् की आन्तरिक एव बाह्य पीडाओ का निराकरण कर सके। इनको आधार बनाकर चलने से जहाँ व्यष्टि को आत्म-साक्षात्कार तक पहुँचाया जा सकता है, वही समष्टिगत जीवन मे शान्ति, सद्भाव एव समत्व की स्थापना हो सकती है। यह समझना चाहिये कि यदि समुच्चय रूप से एक समता-साधक इन २१ सूत्रो को आधार मानकर सक्रिय बनता है, तो वह साधना के उच्चतर स्तरो पर सफलता प्राप्त कर सकता है। ये २१ सूत्र इस प्रकार हैं :—

(१) ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि की सुव्यवस्था अर्थात् तत्सम्बन्धी सामाजिक (नैतिक) नियमो का पालन करना। उसमे कोई कुव्यवस्था पैदा नही करना एव कुव्यवस्था पैदा करने वालो का सहयोगी नही बनना ।

(२) अनावश्यक हिंसा का परित्याग करना तथा आवश्यक हिंसा की अवस्था मे भी भावना तो व्यक्ति, परिवार, समाज व राष्ट्र आदि की रक्षा की रखना तथा विवशता से होने वाली हिंसा मे लाचारी अनुभव करना, न कि प्रसन्नता ।

(३) झूठी साक्षी नही देना। स्त्री, पुरुष, पशु, भूमि, धन आदि के लिये झूठ नही बोलना ।

(४) वस्तु मे मिलावट करके धोखे से नही बेचना ।

(५) ताला तोडकर, चाबी लगाकर तथा सेंध लगाकर वस्तु नही चुराना। किसी की अमानत को हजम नही करना ।

(६) परस्त्री का त्याग करना, स्व-स्त्री के साथ भी अधिक-से-अधिक ब्रह्मचर्य का पालन करना ।

(७) व्यक्ति, समाज व राष्ट्र आदि के प्रति दायित्व-निर्वाह के आवश्यक अनुपात से अतिरिक्त धन-धान्य पर अधिकार नही

रखना । आवश्यकता से अधिक धन-धान्य हो तो ट्रस्टी वनकर उसके यथा-आवश्यक सम-वितरण की भावना रखना ।

(८) लेन-देन और व्यवसाय आदि की सीमा एव मात्रा का अपनी सामर्थ्य के अनुसार मर्यादा रखना ।

(९) स्वय के, परिवार के, समाज के एव राष्ट्र के चरित्र मे कलंक लगाने वाला कोई भी कार्य नही करना ।

(१०) आध्यात्मिक जीवन के निर्माणार्थ नैतिक सचेतना एव तदनुरूप सत्य प्रवृत्ति का ध्यान रखना ।

(११) मानव जाति मे गुणकर्म के अनुसार वर्गीकरण पर श्रद्धा (विश्वास) रखते हुए किसी भी व्यक्ति से घृणा व द्वेष नही रखना ।

(१२) सयम की मर्यादाओ का पालन करना एव अनुशासन को भग करने वालो को अहिसक-असहयोग के तरीके से सुधारना, परन्तु द्वेष की भावना न लाना ।

(१३) प्राप्त अधिकारो का दुरुपयोग नही करना ।

(१४) कर्त्तव्य-पालन का पूरा ध्यान रखना, लेकिन प्राप्त सत्ता मे आसक्त (लोलुप) नही होना ।

(१५) सत्ता और सम्पत्ति को मानव-सेवा का साधन मानना न कि साध्य ।

(१६) सामाजिक व राष्ट्रीय चरित्र-पूर्वक भावात्मक एकता को महत्त्व देना ।

(१७) जनतत्र का दुरुपयोग नही करना ।

(१८) दहेज, बीटी, तिलक, टीका आदि की मागनी, सौदेवाजी तथा प्रदर्शन नही करना ।

(१९) सादगी मे विश्वास रखना और बुरे रीति-रिवाजो का परित्याग करना ।

(२०) चरित्र-निर्माण पूर्वक धार्मिक शिक्षण पर वल देना एव नित्य प्रति कम-से-कम एक घण्टा धार्मिक क्रियापूर्वक स्वाध्याय, चिंतन, मनन करना ।

(२१) समता दर्शन के आधार पर सुसमाज-व्यवस्था मे विश्वास रखना।

उपर्युक्त २१ सूत्रो पर गम्भीर चिन्तनपूर्ण हृदयस्पर्शी विस्तृत विवेचना श्रद्धेय आचार्यश्री के पावन प्रवचनो मे उपलब्ध होती है। ग्रन्थ-विस्तार के भय से उसे यहाँ प्रस्तुत नही किया जा रहा है।

समता दर्शन : सामाजिक परिप्रेक्ष्य में

इस प्रकार समता-दर्शन के सैद्धान्तिक एव क्रियात्मक पहलू को स्पष्ट करने के पश्चात् उसके सामाजिक रूप को भी एक सुनियोजित क्रम से प्रस्तुत किया गया है—समता-समाज-रचना के रूप मे।

प्रश्न है कि समाज का प्रत्येक घटक समता-दर्शन को अपने आचरण के आधार पर जीवन मे किस प्रकार आत्मसात् कर सकता है तथा तद्द्वारा समता-समाज का निर्माण किस रूप मे हो सकता है। प्रारम्भ मे समता साधको की योग्यता एव शक्ति के अनुसार उन्हे तीन श्रेणियो मे विभाजित किया गया है, तदनन्तर उसके सामाजिक सगठनात्मक रूप को प्रस्तुत किया गया है। समता-दर्शन के इस सामाजिक पहलू को आचार्यश्री के भावो मे ही समझाने का यहाँ विनम्र प्रयास है।

आचरण की आराधना के तीन चरण

साधुत्व से पूर्व स्थिति मे समता-साधक की साधना के तीन चरणो या सोपानो का इस हेतु निर्धारण किया जा रहा है, जिससे साधक को स्वय प्रतीति हो तथा समाज मे उसकी पहचान हो कि समता की साधना मे वह किस स्तर पर चल रहा है। इस प्रतीति और पहचान से साधक के मन मे उन्नति की आकाक्षा तीव्र बनी रहेगी। ये तीन चरण निम्न हैं—

(१) समतावादी।
(२) समताधारी।
(३) समतादर्शी।

समतावादी की पहली श्रेणी

पहली एव प्रारम्भिक श्रेणी उन समता-साधको की है, जो समता-दर्शन मे गहरी आस्था, शोध की जिज्ञासा एव अपनी परिस्थितियो की सुविधा से समता के व्यवहार मे सचेष्ट होने की इच्छा रखते हो। पहली श्रेणी वालो को समतावादी इस कारण कहा है कि वे समता के दर्शन एव व्यवहार-पक्षो का

सर्वत्र समर्थन करने वाले एव सबके समक्ष २१ सूत्रो एव तीन चरणो की श्रेष्ठता प्रतिपादित करने वाले होगे । स्वय भी आचरण की दिशा मे आगे बढने के सकल्प की तैयारी कर रहे होगे और किन्ही अशो मे आचरण का श्रीगणेश कर चुके होगे । ऐसे साधको के लिये निम्न प्रारम्भिक नियम आचरणीय हो सकते हैं—

(१) विश्व मे रहने वाले समस्त प्राणियो मे समता की मूल स्थिति को स्वीकार करना एव गुण तथा कर्म के अनुसार ही उनका वर्गीकरण मानना । अन्य सभी विभेदो को अस्वीकार करना और गुण-कर्म के विकास से व्यापक समतापूर्ण स्थिति बनाने का सकल्प लेना ।

(२) समस्त प्राणिवर्ग का स्वतत्र अस्तित्व स्वीकारना तथा अन्य प्राणियो के कष्ट-क्लेश को स्व-कष्ट मानना ।

(३) पद को महत्त्व देने के स्थान पर सदा कर्त्तव्यो को महत्त्व देने की प्रतिज्ञा करना ।

(४) सप्त कुव्यसनो को धीरे-धीरे ही सही पर त्यागते रहने की दिशा मे आगे बढना ।

(५) प्रात काल सूर्योदय से पूर्व कम-से-कम एक घण्टा समय नियमित रूप से समता-दर्शन के स्वाध्याय, चिन्तन एव समालोचन मे व्यतीत करना ।

(६) कदापि आत्मघात न करने एव प्राणि-रक्षा करने का सकल्प लेना ।

(७) सामाजिक कुरीतियो को त्याग कर विषमता जन्य वातावरण मिटाना तथा समतामयी नई परम्पराएँ ढालना ।

सक्रिय, सो समताधारी

समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक धरातल पर जो दृढ चरणो से चलना शुरू कर दे, उसे समताधारी की दूसरी उच्चतर श्रेणी मे लिया जाय । समताधारी दर्शन के चारो सोपानो को हृदयगम करके २१ सूत्रो पर व्यवहार करने मे सक्रिय बन जाता है । आशय है कि समतामय आचरण की सर्वांगीणता एव सम्पूर्णता की ओर जब साधक गति करने लगे तो उसे समताधारी कहा जाय । समताधारी निम्न अग्रगामी नियमो का अनुपालन करे—

(१) अपने विषमताजन्य विचारो, सस्कारो एव आचारो को समझना तथा विवेकपूर्वक उन्हे दूर करना। अपने आचरण से किसी को भी क्लेश न पहुँचाना य सबसे सहानुभूति रखना।

(२) द्रव्य, सम्पत्ति तथा सत्ता-प्रधान व्यवस्था के स्थान पर समता-पूर्ण चेतना एव कर्त्तव्यनिष्ठा को मुख्यता देना।

(३) अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह एव अनेकान्तवाद के स्थूल नियमो का पालन करना, उनकी मर्यादाओ मे उच्चता प्राप्त करना एव भावना की सूक्ष्मता तक पैठने का विचारपूर्वक प्रयास करते रहना।

(४) समस्त जीवनोपयोगी पदार्थों के सम-वितरण मे आस्था रखना तथा व्यक्तिगत रूप से इन पदार्थों का यथाविकास, यथायोग्य जन-कल्याणार्थ परित्याग करना।

(५) परिवार की सदस्यता से लेकर ग्राम, नगर, राष्ट्र एव विश्व की सदस्यता को निष्ठापूर्वक आत्मीय दृष्टि एव सहयोगपूर्ण आचरण से अपने उत्तरदायित्वो के साथ निभाना।

(६) जीवन मे जिस किसी पद पर या कार्यक्षेत्र मे रत हो, उसमे भ्रष्टाचार से मुक्त होकर समताभरी नैतिकता एवं प्रामाणिकता के साथ कुशलता से कार्य करना।

(७) स्व-जीवन मे सयम को तो सामाजिक जीवन मे सर्वदा नियम को प्राथमिकता देना एव अनुशासित बनना।

साधक की सर्वोच्च सीढ़ी—समतादर्शी

समतादर्शी की श्रेणी मे साधक का प्रवेश तब माना जाय, जब वह समता के लिये बोलने और धारने से आगे बढकर ससार को समतापूर्ण बनाने व देखने की दृष्टि और कृति प्राप्त करता है। तब वह साधक व्यक्ति के व्यक्तित्व से ऊपर उठकर एक समाज और सस्था का रूप ले लेता है। उसका लक्ष्य परि-वर्तित निजत्व को व्यापक परिवर्तन मे समाहित कर लेना बन जाता है। ऐसा साधक साधुत्व के सन्निकट पहुँच जाता है, जहाँ वह अपने स्वहित को भी पर-हित मे विलीन कर देता है और समाज मे सर्वत्र समता लाने के लिये जूझने लग जाता है। वह समता का वाहन बनने की बजाय, समता का वाहक बन जाता है। समतादर्शी निम्न उच्चस्थ नियमो को अपने जीवन मे रमा ले—

(१) समस्त प्राणिवर्ग को निजात्मा के तुल्य समझना व आचरना

तथा समग्र आत्मीय शक्तियो के विकास मे अपने जीवन के विकास को देखना । अपनी विषमताभरी दुष्प्रवृत्तियो को त्याग करके आदर्श की स्थापना करना एव सबमे समतापूर्ण प्रवृत्तियो के विकास को बल देना ।

(२) आत्म-विश्वास की मात्रा को इतनी सशक्त बना लेना कि अन्य प्राणियो के साथ अथवा स्वय के साथ जाने या अनजाने भी विश्वासघात सम्भव न रहे ।

(३) जीवन-क्रम के चौवीसो घण्टो मे समतामय भावना एव आचरण का विवेकपूर्ण अभ्यास एव आलोचन करना ।

(४) प्रत्येक प्राणी के प्रति सौहार्द, सहानुभूति एव सहयोग रखते हुए दूसरो के सुख-दु ख को अपना सुख-दु ख समझना—आत्मवत् सर्व भूतेषु ।

(५) सामाजिक न्याय का लक्ष्य ध्यान मे रखकर, चाहे राजनीति के क्षेत्र मे हो अथवा आर्थिक या अन्य क्षेत्र मे, आत्मबल के आधार पर अन्याय शक्तियो से सघर्ष करना तथा समता के समस्त अवरोधो पर विजय प्राप्त करना ।

(६) चेतन व जड तत्त्वो के विभेद को समझ कर पर से ममता हटाना, जड की सर्वत्र प्रधानता हटाने मे योग देना तथा चेतन को स्वधर्मी मान उसकी विकासपूर्ण समता मे अपने जीवन को नियोजित कर देना ।

(७) अपने जीवन मे और बाहर के वातावरण मे राग और द्वेष दोनो को सयमित करते हुए सर्व प्राणियो मे समदर्शिता का अविचल भाव ग्रहण करना, वरण करना तथा अपनी चिन्तन-धारा में उसे स्थायित्व देना । समदर्शिता को जीवन का सार बना लेना ।

साधुत्व तक पहुँचाने वाली ये तीन श्रेणियाँ

इन तीनो श्रेणियो में यदि एक समता-साधक अपना समुचित विकास करता जाय तथा समदर्शी श्रेणी में अपनी हार्दिकता एव कर्मठता को रमाले, तो उसके लिये यह कहा जा सकता है कि वह साधक भावना की दृष्टि से साधुत्व के सन्निकट पहुँच गया है । तीसरी श्रेणी को गृहस्थ-धर्म का सर्वोच्च विकास माना जायगा ।

तीनो श्रेणियो के जो नियम बताये गये हैं, इनके अनुरूप एक से दूसरी व दूसरी से तीसरी श्रेणी में अग्रसर होने की दृष्टि से प्रत्येक साधक को अपना आचरण, विचार एव विवेकपूर्ण पृष्ठभूमि के साथ स्वय को सन्तुलित एव सयमित करते रहना चाहिये, ताकि समता व्यक्ति के मन मे और समाज के जीवन मे चिरस्थायी रूप ग्रहण कर सके। यही आत्म-कल्याण एव विश्व-विकास की सही प्रेरणा है।

समता-साधना के इस क्रम को व्यवस्थित एव अनुप्रेरक स्वरूप प्रदान करने के उद्देश्य से एक समता-समाज की स्थापना की जाय, उसकी सदस्यता हो, सदस्यो के विकास का सम्पूर्ण लेखा-जोखा रखा जाय एव अन्य प्रवृत्तियाँ चलाई जाय—इसके लिए यहाँ एक सक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत की जा रही है।

आचरण शुद्धि का पहला पग :
सप्त कुव्यसन का त्याग

समता-मार्ग के साधक को प्राथमिक शुद्धि रूप सप्त कुव्यसनो का त्याग तो करना ही चाहिये। ये कुव्यसन जीवन को पतन के गर्त मे डुबोने वाले तो होते ही हैं, समाज मे भी इनका बुरा असर पडता है और पतन की सभावनाओ को स्थायी भाव मिलता है। इन सात कुव्यसनो के सम्बन्ध मे निम्न जानकारी जरूरी है—

(१) **मांस-भक्षण** . समता के ससार मे प्रत्येक जीव को दूसरे जीव की रक्षा मे आस्था रखनी चाहिये—"जीवो जीवस्य रक्षणम्।" फिर मास खाने का मूल अभिप्राय इस वृत्ति के विपरीत बन जाता है। अपने लिए जीव को मारें और मास-भक्षण करें—यह तो विषमता को पूजना हुआ। स्वास्थ्य की दृष्टि से भी आज पश्चिमी ससार मे शाकाहार की आवाज उठ रही है और मास-भक्षण को हानिकारक बताया जाता है। यह तामसिक भोजन विकारो को भी पैदा करता है। अत इसको छोडना अनिवार्य समझा जाना चाहिये।

(२) **मदिरा-पान** देश भर मे आज शराबवन्दी के बारे मे उग्र आन्दोलन चल रहा है। सरकार आय का लोभ नही छोड पा रही है, वरना शराब की वुराई को तो त्याज्य मानती है। इससे ही शराब के कुप्रभाव का अनुमान कर लेना चाहिये। शराव को समस्त बुराइयो की जड़ कह दें तो भी कोई अत्युक्ति नही होगी। गाजा, भाग, धतूरा और आज की एल० एस० डी० की गोलियाँ आदि के सारे नशो का त्याग मदिरा-त्याग के साथ ही आवश्यक समझा जाना चाहिये।

(३) **जुआ** जहाँ भी विना परिश्रम के अनर्थ तरीको से धन आने का स्रोत हो, उसे जुए की ही श्रेणी मे लेना चाहिये। इस नजर से सट्टा व तस्कर

व्यापार भी त्याज्य है। विना श्रम का धन व्यसनो की वढोतरी मे ही खर्च होता है।

(४) **चोरी** चोरी की व्याख्या को भी सूक्ष्म रीति से समझने की जरूरत है। दूसरे के परिश्रम की आय को व्यक्त या अव्यक्त रूप से स्वय ले लेना भी चोरी है। यही आज के आर्थिक शोषण का रूप है। टैक्स चोरी भी इसका दूसरा रूप है। चोरी सदा सत्य का हनन करती है, अत त्याज्य होनी चाहिये।

(५) **शिकार** सर्वजीव रक्षण की भावना मे अपने मनोविनोद के लिए जीव हरण सर्वदा निन्दनीय है।

(६) **परस्त्री गमन** . समाज मे सैक्स की स्वस्थता को वनाये रखने के उद्देश्य से ही विवाह-सस्था का प्रारम्भ हुआ था। काम का विकार अतिप्रवल होता है और उसे नियमित एव सयमित करने के लिये ससारी मनुष्य के लिये स्वस्त्री सन्तोष का व्रत वताया गया है। यदि काम के अन्वेषन को छूट दे दी जाय, तो वह कितने अनर्थो एव अपराधो की लडी वाँध देगा—इसका कोई हिसाव नही। परस्त्री गमन तो इस कारण भी जघन्य अपराध माना जाना चाहिये कि ऐसा दुष्ट पुरुष दो या अनेक परिवारो के सदाचरण को नष्ट करता है।

(७) **वेश्या गमन :** यह कुव्यसन सारे समाज के लिये घातक है, जो नारी जैसे पवित्र जीवन को मोरी के कीडो की तरह पतित वनाता है। आज राज्य और समाज इसके विरोधी वन चुके है तथा वेश्याओ के धन्धे को समाप्त किया जा रहा है। फिर भी व्यक्ति का सयम इसे समाप्त करने मे विशेष सहायक वन सकेगा।

इन सातो कुव्यसनो के वैयक्तित्व एव सामाजिक कुप्रभावो को ध्यान मे रखते हुए इनके त्वरित परित्याग की ओर कदम आगे वढने ही चाहिये।

समता-समाज की संक्षिप्त रूपरेखा

अन्तर मे जो कुछ श्रेष्ठ है, वह गूढ हो सकता है, किन्तु जव तक उसे सहज रूप मे वाहर प्रकट नही करें उसकी विशेषताओ का व्यापक रूप से प्रसार नही हो सकता है। समता-दर्शन के सम्वन्ध मे भी यह कहा जा सकता है कि यदि इसके भी वाह्य प्रतीक निर्मित किये जायें, तो इसके प्रचार-प्रसार मे सुविधा होगी। कोई समता-दर्शन का अध्ययन करे तथा उसके व्यवहार पर भी सक्रिय हो, किन्तु यदि ऐसे साधको को एक सूत्र मे आवद्ध रहने हेतु किसी सगठन की रचना की जाय तो साधको को यह सुविधा होगी कि वे पारस्परिक सम्पर्क से अपनी साधना को अधिक सुगठित एवं सुचारु वना सकेंगे और साधारण रूप से

सगठित साधको का सुप्रभाव समूचे समाज पर इस रूप से पडेगा कि लोग इस दिशा मे अधिकाधिक आकर्षित होने लगेगे।

एक प्रकार से समता के दर्शन एव व्यवहार पक्षो का मूर्त रूप ऐसा समता-समाज होना चाहिये जो समता-मार्ग पर सुस्थिर गति से अग्रसर हो और उस आदर्श की ओर सारे ससार को प्रभावित करे।

समता-समाज क्यो ?

सारे मानव-समाज को यदि भिन्न-भिन्न भागो मे विभाजित करे, तो विविध विचारधाराओ, मान्यताओ एव सम्बन्धो पर आधारित कई वर्ग निकल आवेंगे। सम्पूर्ण मानव-समाज विभिन्न समाजो का एक समाज ही है। प्रश्न है समता-समाज के नाम से एक और समाज की वृद्धि क्यो ?

मानव-समाज इतना विशाल समाज है कि एक ही बार मे एक मानव उसे समग्र रूप से आन्दोलित करना चाहे, तो एक दुस्साध्य-सा कार्य होगा। कार्य एक साथ नही साधा जाता, क्रमबद्ध रूप से ही आगे बढते हुए उसे साधना सरल एव सुविधाजनक होता है। सारे ससार मे याने कि सभी विभिन्न क्षेत्रो मे समतामय जीवन की प्रणाली की स्थापना एक साथ सरल नही हो सकती। अपने नवीन परिप्रेक्ष्य मे समता के विचार-बिन्दु को हृदयगम कराना तथा उसके आचरण को जीवन मे उतारना एक क्रमबद्ध कार्यक्रम ही हो सकता है। समता-समाज इस क्रमबद्ध कार्यक्रम को सफल बनाते हुए समता के निरन्तर विस्तार का ही एक सगठन कहा जा सकता है। सगठन की शक्ति उसके सदस्यो पर आधारित होती है तथा समता-समाज भी कितना शक्तिशाली बन सकेगा, यह इसके साधक सदस्यो पर निर्भर करेगा।

समता समाज के नाम से कायम होने वाला यह सगठन एक जीवन्त सगठन होना चाहिये, जो बिना किसी भेदभाव के सिर्फ मानवीय धारणाओ को लेकर मात्र मानवता के धरातल पर मानवीय समता की उपलब्धि हेतु कार्य करे एव विभिन्न क्षेत्रो मे विषमता भरे वातावरण को हटाकर समतामय परि-स्थितियो के निर्माण मे योग दे।

समता-समाज का कार्यक्षेत्र

समता-समाज का कार्य क्षेत्र किसी भौगोलिक सीमा मे आवद्ध नही होगा। जहाँ-जहाँ विषमता है और जहाँ-जहाँ समता के साधक खडे होते जायेंगे, वहाँ-वहाँ समता समाज के कार्य क्षेत्र खुलते जायेंगे। प्रारम्भ मे किसी भी एक विन्दु से इस समाज का कार्यारम्भ किया जा सकता है। फिर उस केन्द्र से ऐसा यत्न किया जाय कि देश मे चारो ओर इस समाज के ऐसे सदस्य वनाये जाये, जो

निष्ठापूर्वक चार सोपानो, इक्कीस सूत्रो एव तीन चरणो मे आस्था रखे तथा व्यावहारिक रूप से अपने जीवन मे समता तत्त्व को यथाशक्ति समाहित करें। यदि प्रारम्भिक प्रयास सफल वने तथा देश मे समता-समाज का स्वागत हो और समता-समाज के सदस्य चाहे, तो कोई कठिन नही कि इस अभियान को विदेशो मे भी लोकप्रिय वनाया जा सके। समाज के उद्देश्य सवको छूने एव सव मे समाने वाले हो।

समाज के उन्नायक उद्देश्य

जो अव तक विश्लेषरण किया गया है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति एव समाज के आन्तरिक एव वाह्य जीवन मे समता रम जाय एव चिरस्थायी रूप ग्रहण करले—यह समता-समाज को अभीष्ट है। कहा नहीं जा सकता कि इस अभियान को सफल वनाने मे कितना समय लग जायेगा, किन्तु कोई भी अभियान कभी भी सफलता तभी प्राप्त कर सकेगा, जव उसके उद्देश्य स्पष्ट हो एव उसमे जनकल्याण की व्यापक भावना झलकती हो।

समाज के उन्नायक उद्देश्यो को सक्षेप मे निम्न रूप से गिनाया जा सकता है—

१— व्यक्तिगत रूप से समता-साधक को समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी की श्रेणियो मे साधनारत वनाते हुए अपने व्यक्तित्व को विकेन्द्रित करने की ओर अग्रसर वनाना।

२— मन की विषमता से लेकर विश्व के विभिन्न क्षेत्रो की विषमताओ से सघर्ष करना एव सर्वत्र समता की भावना का प्रसार करना।

३— व्यक्ति और समाज के हितो मे इस भाति तालमेल विठाना, जिससे दोनो समतामय स्थिति लाने मे पूरक शक्तियाँ वनें। समाज व्यक्ति को धरातल दे तो व्यक्ति उस पर समता-सदन का निर्माण करे।

४— स्वार्थ, परिग्रह की ममता एव वितृष्णा को सर्वत्र घटाने का अभियान छोडकर स्वार्थो एव विचारो के टकराव को रोकना तथा सामाजिक न्याय एव सत्य को सर्वोपरि रखना।

५— स्थान-स्थान पर समता-साधको को सगठित करके समाज की शाखाओ-उपशाखाओ की स्थापना करना, साधारणजन को समता का महत्त्व समझाने हेतु विविध सयत प्रवृत्तियो का सचालन करना एव सम्पूर्ण समतामय परिवर्तन के लिए सचेष्ट रहना।

समता-समाज किनका ?

यह समाज किसी देश-प्रदेश, जाति-सम्प्रदाय, वर्ण-वर्ग या दल विशेष का

नही होगा । प्रारम्भ मे समाज का आकार छोटा हो सकता है, किन्तु इसका प्रकार कभी छोटा नही होगा । जो अपने आपको सीधे और सच्चे रूप मे मनुष्य नाम से जानता है और मनुष्यता के सर्वोपरि विकास मे रुचि रखता है, वह इस समाज का सदस्य बन सकता है। समता समाज सम्पूर्ण मानव जाति का समाज होगा और इसकी सदस्यता का मूल आधार गुण और कर्म होगा, क्योकि इसकी साधना-श्रेणियो का निर्माण भी गुण एव कर्म के आधार से ही बनाया गया है ।

दूसरे शब्दो मे यो कहे कि समता-समाज उन लोगो का सगठन होगा, जो समाज के उद्देश्यो मे विश्वास रखते होगे, इसके २१ सूत्रो तथा ३ चरणो को अपनाने के लिए आतुर होगे एव अपने प्रत्येक आचरण मे समता के आदर्श की झलक दिखायेंगे । समाज अपने सदस्यो की कर्मठता का केन्द्र होगा, तो अन्य सभी के लिए प्रेरणा का स्रोत भी, क्योकि अन्ततोगत्वा समाज का लक्ष्य राजनीतिक, आर्थिक एव अन्य सभी क्षेत्रो मे मानवीय समता स्थापित करके आध्यात्मिक क्षेत्र मे समता के महान् आदर्श को प्रकाशमान बनाना है ।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि समता समाज २१ सूत्रो के पालक एव ३ चरणो मे साधनारत साधको का सगठन होगा, जो गृहस्थ धर्म मे रहते हुए भी उज्ज्वल नक्षत्रो के रूप मे ससार के विविध क्षेत्रो मे समता के सुखद सन्देश को न केवल फैलावेंगे, बल्कि उसे क्रियान्वित कराने के काम मे सर्वदा एव सर्वत्र निरत रहेगे ।

विषमता से सघर्ष मन को हर्ष

आपके सामने पग-पग पर विषमताओ के जाले बुने हुए हैं, जिनमे उलझ-उलझ कर अपने कई साथियो को ही गिरते हुए आप नही देखते, बल्कि जानते-अजानते खुद भी उनमे उलझ-उलझकर गिरते रहते हैं। इन्ही जालो को काटते जाना जीवन का उद्देश्य बन जाना चाहिये और यही समता की साधना का मार्ग है, क्योकि जहाँ-जहाँ अन्धेरा मिटेगा वहाँ-वहाँ प्रकाश का फैलते जाना अनिवार्य है। विषमताओ को काटने का अर्थ ही होगा कि वहाँ-वहाँ आत्मीय समता का प्रसार सुगम होता जायेगा ।

समता-समाज के सदस्यो को अपने जीवन-क्रम मे इसी उद्देश्य को सर्वोपरि रखना होगा। वे एक क्षण के लिये भी न भूलें कि वे अपने मन, वचन या कर्म से किसी भी रूप मे विषमता पैदा करने वाले न बनें। उन्हे तो स्वय सम बनकर प्रत्येक स्थान से विषमता को नष्ट करना है और समता की दृष्टि पनपानी है। विषमता से सघर्ष उनकी भावना, वाणी और कृति का शृङ्गार बन जाना चाहिये ।

व्यक्ति और समाज का समन्वित स्वर

यह आन्दोलन, यह सघर्ष, व्यक्ति और समाज के समन्वित स्वर से उठना और चलना चाहिये । व्यक्ति समाज की ओर उन्मुख हो तथा समाज एक-एक व्यक्ति को गले लगावे—तब ऐसे सहज समन्वय का स्वर मुखर हो सकेगा । व्यक्ति और समाज इस आन्दोलन के साथ एक-दूसरे की प्रगति के अनुपूरक बनते रहेगे और समता की ऊँचाइयो पर चढते रहेगे । व्यक्ति-व्यक्ति से समाज बनता है और समाज व्यक्ति से अलग नही है, फिर भी दोनो शक्तियाँ एक दूसरे की सहायक होकर चलेंगी तभी अन्दर-बाहर की सच्ची समता भी प्रकट हो सकेगी । जितनी विषमता है, वह व्यक्ति के स्वार्थ के गर्भ से जन्म लेती है । जितने अशो मे स्वस्थ रीति से इस स्वार्थ का सफल समाजीकरण कर दिया जायगा उतने ही अशो मे विषमता की मात्रा घटेगी और व्यक्ति एव समाज का समन्वय बढेगा । यह स्वाभाविक प्रक्रिया है ।

समता-समाज इस लक्ष्य की ओर अग्रसर बने कि व्यक्ति का सत्ता और सम्पत्ति के स्वार्थों पर अधिक-से-अधिक स्वैच्छिक नियत्रण किया जाय । यह नियत्रण भावात्मक होना चाहिये एव जहाँ आवश्यकता हो, वहाँ सामाजिक नियत्रण-प्रणाली द्वारा व्यक्ति के स्वार्थ के भूत को फैलने से रोका जाना चाहिये । अपने ही सदस्यो के माध्यम से यदि समता-समाज इस लक्ष्य को पकड सका, तो यह सन्देहरहित भविष्यवाणी की जा सकती है कि समता समाज की सर्वोच्च उन्नति होकर रहेगी ।

क्रान्ति का चक्र और कल्याण

कल्पना करे कि किसी भी टिकट-खिडकी के बाहर अगर लोग पूरे अव्यवस्थित रूप मे टिकट लेने के लिये टूट पडेगे तो कितने और कौन लोग टिकट ले पायेंगे ? वे ही जो शरीर से, बल से या किसी तरह ताकतवर होंगे—कमजोर तो बेचारा भीड मे पिस ही जायगा । आज के विषम समाज की ऐसी अव्यवस्था से तुलना की जा सकती है जहाँ सत्ता और सम्पत्ति को लूटने की भागमभाग मची हुई है । जो न्याय से नही, नीति से नही, बल्कि अन्याय और अनीति से लूट जारी है । इस दुर्व्यवस्था मे दुर्जन आगे बढकर लूट का सरदार बन जाता है, तो हजारो सज्जन नीति और न्याय के पुजारी होकर भी विवश खडे देखते रह जाते है ।

टिकट-खिडकी के बाहर ऊपर उचकने वालो को समझा-बूझा कर उनकी बाहें पकडकर एक क्यू मे खडा कर देने का जो प्रयास है, उसी को समाज के क्षेत्र मे क्रान्ति का नाम दे दिया जाता है । सारी भीड उमडे नही, अपनी-अपनी

बारी से हर एक को टिकट मिल जाये, यह किसी क्रान्तिपूर्ण व्यवस्था का ही फल हो सकता है। मानव समाज मे अपराधवृत्ति मिटे, विषमता कटे और सभी मानव न्याय और नीति का फल प्राप्त करे—यही क्रान्ति का उद्देश्य हो सकता है।

क्रान्ति का चक्र यदि योजनाबद्ध नीति से घुमाया जाय तो निस्सन्देह वह विषमता को भी काटेगा और समता की रक्षा भी करेगा। इस चक्र को जन-कल्याण का चक्र कहा जा सकता है। समता-समाज का यही प्रयास होना चाहिये कि वह अपनी सशक्त गति से क्रान्ति के चक्र को पूरे वेग से घुमावे ताकि नये समाज की नई धारणाए और परम्पराए जन्म ले तथा उनका निर्वहन करने-कराने वाली नई पीढी का निर्माण किया जा सके।

सर्वव्यापी समता

सर्वरूपी समता सर्वव्यापी भी बननी चाहिये। जीवन के सभी रूपो मे समता ढले, किन्तु अगर वह सभी जीवनो मे नही ढले तो समता का सामूहिक चित्र साकार नही हो पायेगा और इसके बिना समता का सर्वव्यापी बन पाना भी सभव नही होगा। सर्वव्यापी समता को जीवन के स्थूल स्थानो से लेकर सूक्ष्म स्थानो तक प्रवेश करना होगा। अन्तर्मन यदि समता के मूल्यो को गहराई से धारण करले, तो राजनीति, अर्थ या समाज के क्षेत्र मे भी समता की प्रतिष्ठा करने मे अधिक कठिनाई नही आवेगी। किन्तु अगर मनुष्य का अन्तर्मन ही स्वार्थ और विकार मे डूबा हो, तो समता के स्थूल क्षेत्रो मे परिवर्तन काफी टेढा और कठिन होगा।

यही कारण है कि पहले आन्तरिक विषमता को मिटाने का निर्देश किया जाता है। किसी भी सामहिक कार्य का सफल श्रीगणेश भी इसी अवस्था मे किया जा सकता है, जब कुछ ऐसे लोग तैयार होते है, जो अपने अन्तर की विषमता को घटाकर समता का सन्देश लेकर आगे बढते हैं। साथ मे यह भी सत्य है कि ऐसे लोग किसी भी सगठन अथवा आन्दोलन के जरिये जिस वातावरण का निर्माण करते है, वह भी अन्य व्यक्तियो की जागृति का कारण बनता है। कुछ लोगो की आन्तरिक समता बाह्य समता की स्थापना मे योग देती है, तो वह स्थापित बाह्य समता भी अन्य व्यक्तियो की आन्तरिक समता को जगाती और प्रेरित करती है। सर्वव्यापी समता की पारस्परिक प्रक्रिया ऐसी ही होती है।

समता-समाज को यह बिन्दु ध्यान मे रखते हुए अपने कार्यक्रमो मे आन्तरिक विषमता को घटाने व मिटाने के अभियान को प्राथमिकता देनी चाहिये ताकि आन्तरिक समताधारियो की एक सशक्त अहिंसक सेना तैयार की जा सके

और उसका वह जूझना न सिर्फ वाह्य समता की स्थापना को यत्र-तत्र और सर्वत्र साकार रूप दे, वल्कि वहुसख्यक लोगो की आन्तरिक समता को भी प्राणवान् वनावे ।

समता-साधक का जीवन धन्य होगा ही

अन्त मे यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि जो समता की साधना करेगा, उसका स्वय का जीवन तो धन्य होगा ही, वह समाज के जीवन को भी धन्य वनायेगा ।

समता-समाज के साधको के लिये यह ऊँचा लक्ष्य प्रकाशस्तभ का काम दे और वे जीवन के सभी अन्दर-वाहर के क्षेत्रो मे समता का प्रसार करे, यह वाछ-नीय है । क्रान्ति की मशाल को जो अपने मजवूत हाथो मे पकडते है, वे उस मशाल से विकृति को जलाते है साथ ही प्रगति की दिशा भी प्रकाशित करते हैं । समता की मजिल इसी मशाल की रोशनी मे मिलेगी ।

आचार्य देव के समतादर्शन रूपी चिन्तन-सागर से कुछ ही मुक्ताकण यहाँ प्रस्तुत किये गये हैं । ये समता दर्शन के लिये दिग्वोध का काम करते हैं ।

वास्तव मे समता को आचार्य श्री ने पूर्णत· आत्मसात् किया है, उसे सम्पूर्ण रूप से जिया है । अनुभूति के उन क्षणो को शब्द-वद्ध कर पाना शक्य नही है । यह जो कुछ दिग्दर्शन है, वह केवल आचार्य श्री के अनुभूतिमूलक चिन्तन से नि सृत विचारो का एक सन्दोह मात्र है इससे आचार्य श्री के दार्शनिक एव सामाजिक विचार-जगत् का सामान्य परिवोध हो सकता है । यह परिवोध आचार्य श्री के जीवन-दर्शन की जाज्वल्यता का प्रथम परिचायक हो सकता है ।

अन्त मे यह कहते हुए किन्चित् मात्र भी सकोच नही करूँगा कि वह दिन भारत के लिये क्रान्तिकारी एवं सौभाग्य का होगा जव विश्व-मानव समता-दर्शन की पुनीत छाया मे जाति, भाषा और वर्ण, आदि के कृत्रिम भेदो को भूलकर विश्व मानवता के आदर्श को अपनायेगा ।

"नाना" निर्देशित समता का—
समुद्घोष यदि विश्व सुने,
दूर हो जन-जन व्याप्त विषमता,
सत् "शान्ति" साम्राज्य वने ।

• • •

समीक्षण
ध्यान

समीक्षण ध्यान

अन्तर्दर्शन

अधिक श्रेष्ठ होगा, एक छोटी-सी कहानी से मैं अपनी बात प्रारम्भ करूँ। बडा सुहावना-मनभावन मौसम, आकाश कही-कही छितरे किन्तु काले कजरारे मेघो की चादर ओढे हुए था। कभी-कभी किसी दिशा मे बिजली कौंध जाती और हल्की सी गर्जना भी हो जाती। मौसम की अनुकूलता देख कुछ मछुआरे निकल पडे अपनी टोकनियाँ लेकर—किसी झील के किनारे पहुँचे और अपने जाल झील मे फैला दिये। सहसा छितरे बादल सघन हो गये। काली घटा घिर आई। देखते-देखते गर्जन-तर्जन के साथ मूसलाधार पानी बरसने लगा। शीघ्रता से अपनी जालें समेट कर सभी भागे, कही आश्रय पाने।

कुछ ही दूरी पर एक रमणीय उद्यान था। किन्तु वहाँ पहुँचते-पहुँचते वे सभी पूरे भीग चुके थे। बागवान से अनुनय किया—"हम ठिठुर रहे है, हमे कोई आश्रय दो।" बागवान सहृदय था, अपनी कोठरी के द्वार खोल दिये। बिखरे हुए फूलो को एकत्र किया और उनके सोने योग्य स्थान बना दिया। अपनी टोकनियो को कोठरी के बाहर पटक, वे सभी अन्दर जाकर सो गये।

सर्दी तो कुछ कम हुई किन्तु उन्हे नीद नही आ रही थी। सभी परेशान थे। रात्रि के बारह बजे करीब बागवान को आवाज दी—"भाई, हमे नीद नही आ रही है, बडी दुर्गन्ध आती है यहाँ तो, इस दुर्गन्ध मे हम सो नही सकेंगे। क्या बिखरा है, यहाँ चारो ओर ?"

बागवान कुछ चतुर था, कहा—"भाई, यहाँ तो सुगन्धित पुष्प बिखरे है। चारो ओर सुवासित पुष्पो की पौध है। इसके अतिरिक्त तो यहाँ कुछ भी नही है।"

"भाई, इस सुगन्धि को जाने दो, हमे तो और कोई स्थान बताओ। हम इस दुर्गन्ध मे नही सो सकेंगे।"

बागवान बुद्धिमान था, समझ गया कि इन्हे फूलो मे दुर्गन्ध आती है। इनका स्वभाव मछलियो की टोकनियो मे रहने का है। वही इन्हे सुगन्धित

लगती हैं । वह उठा, बाहर से उन सभी की मछली पकडने की टोकनियाँ उठा लाया और उन्हे देते हुए कहा—"लो, इन्हे अपने मुँह पर ढक लो, देखो अभी निद्रा आती है ।" और सच मे उन्हे कुछ ही क्षणो मे नीद ने आ घेरा ।

कहानी कितनी सच है, कहा नही जा सकता । किन्तु आज के जन-जीवन पर यह पूर्णत घटित होती है । वैभाविक परिणतियो एव भौतिक उपादानो के बाह्य परिवेश मे जीता हुआ आम जन-मानस बाहर की इस यात्रा का इतना अभ्यस्त हो गया है कि अन्तर्यात्रा ही उसे दुर्गन्धमय लगने लगी है । बाहर के सभी-साधन सयोग, जो वास्तव मे क्षणिक सुखदायी है, अत दुर्गन्धमय ही है, तथापि वे ही सब कुछ माने जाने लगे हैं । अन्तर्यात्रा की न उसे प्यास है और न इसके लिये उसके पास अवकाश ही । बल्कि भौतिक उपादानो के एकत्रिकरण की प्यास ही तीव्र से तीव्रमय होती जा रही है । परिणाम भी हमारे सामने हैं—मानसिक तनाव, वायु प्रदूषण के द्वारा स्नायविक विकार एव अनेक विकृतियो से परिवेष्टित जिन्दगी का भार ।

यह वैपरीत्याभास इतना तीव्र हो चला है कि सत्-असत् और असत्-सत् भासित होने लगा है । अविनाशी विनश्वर और विनाशी अविनश्वर लगने लगा है । हेय मे उपादेयता का और उपादेय मे हेयता का बोध उत्पन्न हो गया है । और यह सब हो रहा है एक लम्बे अभ्यास के कारण ।

तथापि यह हर्ष का विषय है कि इस अति ने अब हल्की सी करवट ली है । बुद्धिवादियो एव विचारको ने इस ज्वलन्त समस्या का अनुभव किया है । वैज्ञानिक स्वय भी अपने तथाकथित विकास की अति से हत-प्रभ हो, चिन्ता मग्न हुए हैं । तकनीकी विकास और उसके परिणामस्वरूप वायु प्रदूषण के द्वारा होने वाले मानसिक एव शारीरिक रोगो की बेमाप वृद्धि ने इनकी विकास मे सलग्न प्रज्ञा को झकझोरा है । अब उच्चतम बौद्धिको को यह अनुभव होने लगा है कि हमारी विकास की दौड विपथगामी थी । हम पूर्व की बजाय पश्चिम मे धावमान थे । हमारी यात्रा की दिशा ही गलत हो गई थी । हम अन्तर मे नहीं, बाहर मे ही सब कुछ ढूँढ रहे थे ।

और इस चिन्तन ने पुन आम आदमी का ध्यान अध्यात्म की ओर खीचा । तनाव की चरम सीमा ने अध्यात्म शक्ति की ओर उन्मुख होने को बाध्य कर दिया और साधना के विभिन्न आयाम उपस्थित हुए । विपश्यना, सक्रिय ध्यान एव प्रेक्षा ध्यान जैसे विभिन्न मनोरजक, सागर की सतह पर तैरने के समान कुछ उथले प्रयोग चले । कुछ लोगो को सामयिक शान्ति मिली, एक आकर्षण बढा, किन्तु इन सभी प्रयासो मे देह एव श्वास-प्रश्वास पर ही अधिक बल दिया गया । आत्म शक्ति को प्राय ओझल ही रखा गया । परिणामत क्षणिक स्नायविक विश्रान्ति के अतिरिक्त इसमे अधिक लाभ नही मिल सका ।

उदयपुर के कुछ बुद्धिजीवियो ने भी इस समस्या का अनुभव किया और उसे अपने आराध्य, समता साधना के ज्वलन्त प्रतीक, समता-विभूति आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म० सा० के चरणो मे प्रस्तुत किया। उसी के प्रतिफलन के रूप मे समीक्षण ध्यान का प्रगटीकरण हुआ है।

आचार्य प्रवर स्वय एक ध्यानयोगी साधक है। ध्यान की तलस्पर्शी अनुभूतियो का सन्दोह है उनके पास। अत. वे इसके वैधानिक अधिकारी हैं। उन्होने अपनी इस साधना पद्धति को 'समीक्षण ध्यान' की सज्ञा प्रदान की। समीक्षण का अर्थ है—'सम्यग्+ईक्षण' सम्यग्प्रकार से अथवा समतापूर्वक देखना। विपश्यना एवं प्रेक्षा ध्यान प्रणालियो मे केवल 'ईक्षण'—देखने को महत्त्व प्रदान किया गया है जबकि देखना उभयमुखी होता है। सम्यग् भी और मिथ्या भी। अत समीक्षण ध्यान की महत्ता इस अर्थ मे और बढ जाती है कि वह वीतराग सम्मत सम्यग्दर्शन मे अन्तर्गभित होकर मोक्ष मार्ग के त्रिअगो मे स्थान प्राप्त कर लेता है। विपश्यना, प्रेक्षा अथवा सक्रिय ध्यान की पद्धतिया मे वह अर्थवत्ता ध्वनित नही होती जो समीक्षण शब्द मे होती है, क्योकि इसे "पण्णा समिक्खए धम्म" वाला आगमिक आधार भी प्राप्त है।

प्रस्तुत विधि के उद्भव की एक सामान्य सी भूमिका है। उदयपुर वर्षावास समाप्ति पर था, प्रबुद्ध वर्ग मे कुछ जिज्ञासा बढी कि हम प्रतिदिन प्रवचन सुनकर भी कोरे के कोरे हैं। साधना की दिशा मे हमने कोई रचनात्मक कदम नही बढाए। और एक दिवस कुछ बन्धुओ ने पूज्य चरणो मे निवेदन किया—"आचार्य देव, आप अपने प्रवचनो मे समीक्षण-ध्यान की बहुत चर्चा किया करते हैं। हम उसका प्रेक्टिकल (रचनात्मक) दिग्बोध चाहते है।"

आचार्य प्रवर ने मधुर स्मिति के साथ कहा—"बडा हर्ष का विषय है, आप मे ध्यान के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। साधना की रूपरेखा मेरे मानस मे स्फुरित हुई। मैं लम्बे समय से उसे प्रयोग के पथ पर आत्मसात् करता रहा तथा उसके कुछ सामान्य सकेत भी प्रवचन के माध्यम से देता रहा। किन्तु समाज की वैसी भूमिका की प्रतीक्षा मे था। आज वह भी आप लोगो के माध्यम से समक्ष प्रस्तुत हैं।" और आचार्य प्रवर की आत्मस्पर्शी अनुभूतियाँ अभि-व्यञ्जित होने लगी।

'समीक्षण ध्यान के अनुसन्धान' के रूप में आचार्य प्रवर ने जो उद्बोधन दिया, वह उदयपुर वर्षावास की सर्वतो महत् उपलब्धि है, जो कि आचार्य प्रवर के वैचारिक परिवेश एव उनकी ध्यान साधनागत स्थिति को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान करती है, अत आचार्य प्रवर के वैचारिक परिवेश का सम्यग्बोध प्राप्त करने हेतु इसका प्रस्तुतिकरण मैं अनिवार्य मानता हूँ और मेरा विश्वास है कि

ध्यान की इस नूतन विधा से आचार्य प्रवर के व्यक्तित्व को तो सम्यक् अभिव्यक्ति मिलेगी ही, किन्तु इससे मुमुक्षु ध्यान साधको को एक अभिनव प्रयोगात्मक दिशा भी प्राप्त होगी, अस्तु ।

प्रयोग-विधि प्रवेश

वर्तमान युग विभिन्न झञ्झाओ से आक्रान्त है । वायु प्रदूषण के समान मन प्रदूषण भी अपनी चरम सीमा का स्पर्श कर रहा है । विज्ञान के नित नूतन आविष्कारो ने जहाँ सुविधाओ के अम्बार लगाए हैं, वहाँ उद्दाम लालसाओ के द्वारा मानसिक तनावो मे भी वृद्धि की है । आज का आम व्यक्ति एक मशीन-सी जिन्दगी जी रहा है, जिसे न अपने परिवेश का सम्यग्बोध है और न अपने परिपार्श्व का । इन्सान खोया-खोया-सा जिन्दगी का भार ढो रहा है । उसे अपने ओर का पता है न छोर का ।

इस सब के उपरान्त भी अध्यात्मवादियो के हर्ष का विषय यह है कि भौतिक विज्ञान के अथक विकास ने इन्सान को अध्यात्म की ओर उन्मुख होने की परोक्ष प्रेरणा भी प्रदान की है । जब सुविधावाद ने अपना जाल फैलाया और अनेक भौतिकविदो को फँसाने का प्रयास किया तो अपनी चरम परिणति मे वह स्वय भी उसका शिकार बन गया । परिणामत चिन्तन ने स्वस्थ मोड लिया और अध्यात्म साधना पर आम व्यक्ति का दृष्टिकोण सक्रिय होने लगा । तनाव-मुक्ति की जिज्ञासाओ ने समाधान की अपेक्षा का अनुभव किया । फलस्वरूप साधना के परिदृष्ट आयामो पर ध्यान केन्द्रित हुआ । जिज्ञासाओ के बाहुल्य ने समाधानो के भी अम्बार लगाए । यह अलग बात है कि अधिकाश समाधान भी असफल होकर रह गए ।

चूंकि जिज्ञासा तनाव-मुक्ति की है, अत: समाधान के सन्दर्भ भी वे ही अपेक्षित हैं । तनाव आभ्यन्तरिक सन्दर्भो से अनुवेष्टित है, अत समाधान भी आभ्यन्तरिक ही होने चाहिये । और वे होगे मन.साधना के सन्दर्भ ।

मन साधना के अगणित प्रयोग प्रचलित हुए हैं । हठयोग, भक्तियोग, लययोग, कर्मयोग, सहजयोग आदि । किन्तु सहजयोग के अतिरिक्त प्राय. सभी प्रयोग एक सीमा तक जाकर अपनी उपयोगिता को अवरुद्ध कर लेते हैं । अत महावीर-दर्शन ने सहजयोग की साधना को ही अधिक सम्पुष्टि प्रदान की है । सहजयोग की साधना के द्वारा ही तनाव-मुक्ति एव उसकी फलश्रुति के रूप मे अमाप शान्ति का साक्षात्कार किया जा सकता है । सहजयोग की साधना "आत्मान विद्धि" अर्थात् आत्म-दर्शन की साधना है । इसकी प्रारम्भिक भूमिका है—मन साधना ।

मनस्साधना मे चित्त वृत्तियो के नियत्रण-सशोधन का प्रमुख प्रावधान है। यही आकर "योगश्चित्त वृत्ति सशोध" वाली परिभाषा सार्थक होती है। किन्तु चित्त वृत्तियो की विशुद्धि सहज साध्य नही है। अनन्त-अनन्त काल से विपथ पर धावमान चित्त को नियत्रित वना लेना सहज हो भी कैसे सकता है ? इस पर सख्यातीत साधको ने अगणित प्रयोग किये और अपनी अनुभूति को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया। भटकते साधको को सामयिक समाधान मिले। साध्य की दिशा मे गति वढी। किन्तु स्थायी समाधान स्वानुभूति की अपेक्षा रखता है। अनुभूति वोध से गुजरे विना साधना की उपयोगिता सदा सदिग्ध ही वनी रहती है तथापि अनुभूतियो के निर्देशन अथवा अभिव्यञ्जन की शृ खला मे एक कडी के सयोजन का विनम्र-सुगम किन्तु सशक्त प्रयास यहाँ प्रस्तुत है, जिसे प्रारम्भिक ध्यान साधक अथवा मनस्साधक के लिए अतीव उपयोगी माना जा सकता है।

भूमिका-शुद्धि

साधना का अर्थ है—वाहर से सिमट कर अन्तरग मे प्रवेश करना। विश्रृ खलित चित्तवृत्तियो को विशोधन पूर्वक नियत्रित करना। अनादि अनन्त काल से चित्तवृत्तियाँ वहिर्मु खी वनी हुई है, उनमे अस्थैर्यपूर्ण भटकाव है। उन्हे सुनियोजित करने के लिए एक विशेष प्रकार की भूमिका ही अपेक्षित है। बीज वपन के पूर्व कृषक क्षेत्र पर अपना ध्यान केन्द्रित करता है। चित्र-निर्माण के पूर्व कलाकार फलक-चित्रपट की विशुद्धि एव उसके उचित अनुमाप को अवश्य देख लेता है। ठीक इसी प्रकार, विकेन्द्रित वृत्तियो के नियत्रण के पूर्व स्थान एव वातावरण की विशुद्धि के साथ तीव्रतम सकल्प शक्ति की अपेक्षा भी अनिवार्य है।

संकल्प

सर्व प्रथम मनस्साधना के प्रति तीव्रतम सकल्प की आवश्यकता है। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि हमारे सकल्प ही हमारे विकास एव ह्रास की दिशा का निर्धारण एव वरण करते हैं। हम जितने सकल्प से किसी भी आचरण के प्रति सक्रिय होते हैं, उतनी ही मात्रा मे हम सफल भी होते हैं। अत साधना के क्षणो मे उपस्थित होने से पूर्व हमारा मनस् सकल्प से भर जाए। तीव्रतम सकल्प हो कि आज मैं निश्चित रूप से साध्य के प्रति अधिक गतिशील बनूँगा। और यह स्मरण रहे कि हमारा वह सकल्प सकर्म बन कर ही विश्रान्ति ले।

स्थान एवं वातावरण

तीव्र सकल्प के साथ क्षेत्र एव वातावरण का प्रभाव भी साधक-चित्त को

उद्वेलित करता है। साधना के लिए सर्वोत्तम उपयोगी स्थान एकान्त, नीरव एव सभी प्रकार के इन्द्रियाकर्षणो से रहित होना चाहिये। पुन पुन उठने वाला जनरव प्रारम्भिक ध्यान साधक को विचलित करता रहता है। परिणामत सफलता मे समय की दूरी बढ जाती है, अत द्रव्य एव भाव उभय मुखी शुद्धि वाला स्थान ही साधना की उचित भूमिका का निर्वहन कर सकता है।

इसी प्रकार ध्यान साधक को परिपार्श्विक वातावरण पर भी दृष्टि केन्द्रित करनी होती है। भौतिक ऐश्वर्य एव बाह्य आकर्षणो से घिरा हुआ साधक अन्त प्रवेश की साधना मे शीघ्र सफल नही हो सकता। अन्त प्रवेश के लिए सहजता अनिवार्य है और वह सहज सरल परिधान एव पर्यावरण के द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। साधक के वेश-विन्यास एव रहन-सहन मे जितनी सात्विकता-सादगी होगी, चित्त उतना ही शीघ्र साधना के प्रति सर्मपित होगा। यह अनावश्यक है कि साधना मे बैठने के पूर्व साधक अपने बाह्य परिवेश को भी सहजता प्रदान करे। 'सादा जीवन उच्च-विचार' यह सामान्य सूक्त साधक जीवन का अभिन्न अग बन जाए। क्योकि परिवेश के साथ विचारो का गहरा सम्बन्ध है। सीधी-सादी पोशाक विचारो की ऋजुता मे निमित्त बनती है तो तडक-भडकपूर्ण परिवेश विचारो की वक्रता मे सहयोगी बनता है। अत परिपार्श्विक वातावरण की सहजता को भी साधना की भूमिका के रूप मे स्वीकार किया जाय।

समय की नियमितता

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से समय के साथ भी मन के कुछ तादात्म्य स्थापित हो जाते हैं। उदाहरण के लिए—तीन बजे चाय पीने की आदत मन को तत्काल प्रभावित करती है। तीन बजते ही मन सहजतया चाय की स्मृति मे खो जाता है। ठीक यही स्थिति साधना की भी बनती है। साधना हेतु जिस भी औचित्यपूर्ण समय का निर्धारण किया जाता है, उसी समय मन उन पवित्र विचारो का वाहक बन जाता है। अत· समय की नियमितता भी साधना का एक अग बन जाती है। अर्थात् यदि साधक को चार बजकर दस मिनिट पर साधना के लिए प्रस्तुत होना है तो प्रतिदिन उसी समय उसे साधना मे उपस्थित हो जाना चाहिये। न एक मिनिट आगे, न पीछे। समय की यह नियमितता साधक चित्त को अधिक सक्रियता प्रदान करेगी और मनोनियमन मे भी शीघ्र सफलता प्राप्त होगी। यहाँ यह चिन्तन आवश्यक है कि दैनिक चर्या मे उसी उपयुक्ततम समय का निर्धारण हो, जिसमे शारीरिक, पारिवारिक अथवा सामाजिक किसी प्रकार के व्यवधान उपस्थित न हो। और वह सर्वोत्तम समय होगा अपर रात्रि-ब्रह्म मुहूर्त।

विधि-क्रम

पूर्व निर्देशनो के औचित्य-निर्धारण के साथ यदि साधनाकाल अपर रात्रि निर्धारित होता है, तो साधना-काल के आधा घटा पूर्व निद्रा भग एव आसन-बिछौना परित्याग आवश्यक है। उस तीस मिनिट के काल मे यदि आवश्यक हो तो दैहिक चिन्ताओ से निवृत्त हो, निश्चित किन्तु उपयुक्त स्थान पर प्रमार्जनिका से स्थान प्रमार्जन कर सामान्य पतले आसन पर साधना-सामग्री—माला, मुख वस्त्रिका आदि लेकर बैठा जाय। सामायिक सुविधा को दृष्टिगत रखते हुए सामायिक अथवा सवर के प्रत्याख्यान किये जाए। प्रमाद-निवारण एव सजगता साधने हेतु सामायिक प्रत्याख्यान के पूर्व पूर्वाभिमुख ग्यारह बार पचाग-नमन-वन्दन 'तिक्खुतो' के पाठ के उच्चारण के साथ किया जाना आवश्यक है। विधिपूर्वक वन्दन से आलस्य तो टूटेगा ही साथ ही विनय भाव की भी अभिवृद्धि होगी, जो कि साधना का मूल सेतु है। विनय-अभिवृद्धि का सीधा अर्थ है—अहकार पर चोट। अहकार पर चोट का प्रतिफल होगा लाघवता एव चेतना का ऊर्ध्वारोहण। अत साधक-चित्त के निर्माण के लिए विनय अनिवार्य है और वह प्राप्त होगा वन्दन-नमन के द्वारा।

विधिपूर्वक वन्दन का दूसरा लाभ और होगा—सहजरूप से योगासन की साधना। विधि के अनुसार तीन आवर्तनपूर्वक ऊठ-बैठकर पचाग नमन होता है। आवर्तनो के द्वारा सीने के कोष्ठको (माँस-पेशियो) मे हरकत होती है, उनमे अधिक सक्रियतापूर्वक रक्त-सचार होता है, फलस्वरूप सीने (वक्षस्थल) का व्यायाम हो जाता है। साथ ही प्राण-वायु (ऑक्सीजन) की मात्रा अधिक प्राप्त होने से जीवन-शक्ति का भी विकास होता है। इस प्रकार वन्दन की इस सामान्य-सी प्रक्रिया मे अहकार विसर्जन के द्वारा आध्यात्मिक एव व्यायाम तथा प्राण-वायु सवर्द्धन के द्वारा शारीरिक, उभयमुखी लाभ प्राप्त होता है। विधि एव विवेकपूर्वक सामायिक अथवा सवर ग्रहण करने के पश्चात् पद्मासन अथवा अन्य किसी सुखासन (जिसमे किसी प्रकार का तनाव न हो) से बैठा जाए। स्मरण रहे आसन अथवा बैठक इस प्रकार हो कि उसमे मेरु-दण्ड (रीढ की हड्डी) सीधा-सरल हो ताकि प्राणो के सचार मे किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो।

अन्तर्यात्रा

उपर्युक्त विधि-क्रिया के उपरान्त हमारी अन्तर्यात्रा प्रारम्भ होती है। प्राय सम्पूर्ण जीवन बाहर की यात्रा मे गतिशील है। चौवीसो घटो इन्सान वहिर्दर्शन की ओर दौड रहा है। अन्तर्दर्शन की न तीव्र प्यास है और न अभिरुचि। वाहर की प्रतिस्पर्धात्मक दौड मे उसे अवकाश भी नही कि वह अन्तर्यात्रा के सम्बन्ध मे भी कुछ चिन्तन कर सके। किन्तु जब साधक-चित्त का सृजन हो

जाता है, तो अन्त प्रवेश की प्यास जागृत होती है, अभिरुचि मे सामान्य-सा मोड़ आता है, साधना के लिए समुचित मनोभूमि का निर्माण होता है, और ऐसी स्थिति मे चित्त वृत्तियो को सम्यग् दिशा प्रदान करने मे विशेष कठिनाई नही होती है।

सकल्प की दृढता, परिवेश की शुद्धता, वातावरण की पवित्रता तथा विनय-विवेक के साथ त्याग-भावना की ओजस्विता के द्वारा साधना के लिये उपयोगी भूमिका का निर्माण हो जाता है । अब आवश्यकता है मन को सुझाव व निर्देशन देने की । सर्वप्रथम मन के लिए यह निर्देश अपेक्षित है कि वह कम से कम साधना काल तक अर्थात् पचास अथवा न्यूनाधिक मिनिट तक आपके निर्देशो का अनुगामी बने । उसकी समस्त बहिर्गामी दौड रुक जाए । वह आपके इशारो का अनुसरण करे । यह निर्विवाद है कि जितने तीव्र सकल्प के साथ मन को सजेशन (निर्देश) दिये जाएगे, निर्देशो का अनुपालन उतनी ही अधिक सक्रियता के साथ होगा । अत निर्देशो के साथ सकल्प का सयुक्तीकरण अनिवार्य है । साधक इतने अधिक ऊर्जस्विल सकल्प का सहयोग ले कि मन की समस्त वृत्तियाँ अपने केन्द्र का अतिक्रमण नही कर सके । किसी भी प्रकार की झझाएँ उसे डोला न सके और कोई भी रागात्मक अथवा द्वेषात्मक वृत्ति उसे आकर्षित नही कर सके । तीव्रतम सकल्प के बल पर निश्चित अवधि तक इन्द्रियो पर सम्यग् नियन्त्रण साधने का प्रयास भी अनिवार्य है ।

परमोच्च भावना के साथ परमात्म भाव की साक्षी से यह सकल्प किया जाय कि मैं इस (५० मिनिट की) अवधि मे किसी भी प्रकार के दृश्य-श्रव्य आदि विषयो के आकर्षण-विकर्षण मे नही उलझूगा । कोई भी पापजनक असत्यप्रवृत्ति मेरे द्वारा नही होगी । रस, गध एव स्पर्श के लुभावनेपन पर भी नियत्रित रहते हुए सभी इन्द्रियो को अप्रशस्त से हटाकर प्रशस्त सम्बल प्रदान करूँगा । साथ ही पानी, अग्नि आदि एकेन्द्रिय प्राणियो की भी रक्षा करता हुआ विश्व मैत्री की उच्च भावना का सृजन करूँगा ।

मन एक बालक

इन सब सकल्पो की सम्पूर्ति हेतु यह आवश्यक है कि मन को शृङ्खलाबद्ध कार्यक्रम मे नियुक्त कर दिया जाय । एक अग्रेजी लोकोक्ति है कि "वेकेन्ट माइण्ड इज डेविल'स् वर्कशाप" अर्थात् खाली दिमाग शैतान का घर होता है । अस्तु मन को विपथगामिता से उपराम पाने के लिए उसे सम्यग् दिशा प्रदान करना आवश्यक है । यहाँ मुझे एक छोटी-सी घटना का स्मरण आ रहा है । एक बालक के हाथ मे कुल्हाडी आ गई । बस, वह किवाड, फर्नीचर आदि पर प्रहार करने लगा । माँ परेशान हो गई । बालक चचल था, समझाने के सभी प्रयास निष्फल हो रहे थे । सहसा एक विचारक उस मार्ग से निकल रहे थे । उन्होने माता की

परेशानी को समझा। बालक को निकट बुलवाया, उसके सिर पर स्नेह से हाथ फिराते हुए कहा—"बेटे, तुम काम करने मे बहुत चतुर हो, तुम कितनी शीघ्रता से काम सम्पन्न कर देते हो।" जलाऊ लकडी (ईन्धन) की ओर सकेत करते हुए उन्होने कहा—"देखो बेटा, वे लकडियाँ पडी है, उनके जलाने लायक छोटे-छोटे टुकडे करना है। देखे, कितनी जल्दी करते हो।"

बस किशोर को काम मिल गया। उसकी कुल्हाडी ध्वस के बजाय सृजन मे लग गई। माता की समस्या समाहित हो गई और उसका एक अधूरा पडा कार्य भी सम्पन्न हो गया।

हमारा मन भी उस बालक के समान है। जब तक उसे व्यवस्थित दिशा नही मिल जाती, किसी भी सत्प्रवृत्ति का आधार नही मिल जाता, वह उछल-कूद करता रहता है। विध्वस के ताने-बाने बुनता रहता है। क्योकि मन का स्वभाव ही मनन करना है, गतिशीलता है। उसकी गति तो होगी ही, उसे मनन से रोका नही जा सकता है। मन साधना का अर्थ इतना ही है कि मन की दिशा को बदल दिया जाय। उसे असत् से हटाकर सत्प्रवृत्ति मे सयोजित कर दिया जाय। विभाव से मोडकर स्वभाव का प्रशस्त मार्ग दिया जाय।

हमारी चेतना अनन्त अनादि से कर्म बन्धन से सम्पृक्त है। कर्म की कालिख उसकी विशुद्ध अवस्था को आवृत्त कर मलिन बनाए हुए है। वही कालुष्य मनोवृत्तियो को भी विकृत बनाता रहता है। तात्पर्य यह है कि अनादि-कालीन कर्मजनित काम, क्रोधादि की वासना मन के केन्द्र को विकृत करती रहती है। यही वासना समस्त विषमताओ, विद्वेषो एव विरूपताओ की जननी है। चूँकि यह अनादिकालीन है, अत इस पर त्वरित विजय नही हो पाती है। मनोवैज्ञानिक पद्धति का अनुसरण इस विजय मे सहयोगी बन सकता है। यहाँ यह विशेष रूप से समझ लेना चाहिये कि मनोवृत्तियो का अवरुन्धन साधना का उद्देश्य नही है, साधना का उद्देश्य है—वृत्तियो का सशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण और वह सशोधन, उदात्तीकरण अथवा रूपान्तरण होगा समीक्षण ध्यान-साधना के द्वारा।

समीक्षण–अर्थ–सन्दर्भ

समीक्षण शब्द का अर्थ है—सम्यक् प्रकार से अथवा समतापूर्वक देखना निरीक्षण करना। 'सम + ईक्षण' इन दो शब्दो के मेल से 'समीक्षण' शब्द बना है। 'सम' का अर्थ है—समता अथवा सम्यक् और 'ईक्षण' का अर्थ है—देखना। अत. समीक्षण का तात्पर्य हुआ अपनी ही वृत्तियो को सम्यग्रीत्या समभाव पूर्वक निश्चित रूप से देखना। इस अर्थ मे चित्त वृत्तियो के सम्यग्निरीक्षण को भी साधना का अनिवार्य अग माना गया है। किसी वस्त्र की धुलाई के पूर्व यह

जान लेना आवश्यक होता है कि उस पर कितने और किस-किस प्रकार के दाग लग रहे हैं, कितना प्रयास अपेक्षित होगा इन दागो को छुडाने-मिटाने मे । ये दाग तेल घृतादि चिकने पदार्थों के तो नही हैं ? इस जानकारी के उपरान्त ही वस्त्र का सम्यक् प्रक्षालन प्रारम्भ किया जाता है । ठीक इसी प्रकार से समीक्षण ध्यान-साधना के द्वारा चित्तवृत्तियो का सम्यग् अवलोकन होना आवश्यक है । मन पर किस प्रकार की अप्रशस्त वृत्तियाँ हावी हो रही है ? कौन-कौन से चिकने दाग मन की चादर को कलुषित बना रहे हैं ? तथा कितनी साधना के द्वारा उस कालुष्य से मुक्ति प्राप्त हो सकती है ? आदि । यद्यपि समीक्षण ध्यान की उपयोगिता यही तक सीमित नही है, उसकी उपयोगिता आत्म-दर्शन की पराकाष्ठा पर जाकर नि सीमता मे रूपान्तरित हो जाती है । तथापि यहाँ उसकी प्रारम्भिक उपयोगिता का निर्देशन मात्र किया गया है ।

समीक्षण ध्यान एक अन्त प्रज्ञा चक्षु है, जिसके द्वारा अन्तरग को देखा जाता है जहाँ बाहर के चर्म चक्षु अपनी स्थूल रूप बोध की परिधि मे अवरुद्ध हो जाते है, उससे ऊपर अन्तरचक्षु के रूप मे समीक्षण ध्यान का कार्यक्षेत्र प्रारम्भ होता है । यह ईक्षण-देखना मनोवृत्तियो का होगा । उस पर लगे कालुष्य दाग का होगा । किन्तु वह होगा समत्वपूर्वक । क्योकि समत्वपूर्वक किया जाने वाला निरीक्षण ही पक्षपात से रहित होगा और निरपेक्ष भाव से मन शुद्धि के कार्यक्षेत्र मे सक्षम होगा । यदि ध्यान के उन क्षणो मे भी निरपेक्षता नही आएगी तो मन पुन: भौतिक आकर्षणो मे उलझ जाएगा । लुभावने प्रलोभनो का शिकार हो जाएगा । अस्तु, समीक्षण ध्यान की प्रारम्भिक भूमिका मे केवल चित्तवृत्तियो के सम्यग्निरीक्षण का कार्य होगा और वह इतना ही कि मन किन-किन अशुभ प्रवृत्तियो मे गतिशील होता है ? उसकी राग-द्वेषात्मक एव वैकारिक वृत्तियाँ कितनी तीव्र हैं ? उन वृत्तियो के उद्दीपन मे कौन-कौन से निमित्त कारण है ? उनकी निवृत्ति के लिए कौन से प्रयास सफल हो सकते है ? इस प्रकार का अनुचिन्तन पूर्ण निरीक्षण समीक्षण ध्यान की भूमिका का कार्य करेगा ।

व्यवहार-दर्शन

समर्पण की इस प्रक्रिया के उपरान्त पुन. व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित स्थूल चिन्तन पर आ जाना श्रेष्ठ होगा । चूँकि मानव सामाजिकता से अनुबन्धित होता है, अत उसे समाज एव परिवार से सम्बद्ध अनेक प्रवृत्तियो मे प्रवृत्त होना पडता है । और यह उसके व्यावहारिक जीवन की अनिवार्यता भी है । किन्तु साधक-चित्त मानव के लिए यह चिन्तन अपेक्षित है कि पारिवारिक दायित्वो के निर्वहन हेतु जिन किन्ही विवशताओ से गुजर कर असत्य आदि अशुभ प्रवृत्तियो मे संलग्न होना पडा हो, उन्हे आत्मिक दुर्बलता जन्य विवशता ही माना जाय । अशुद्ध को अशुद्ध के रूप मे सहजता पूर्वक स्वीकार किया जाय ।

व्यवसाय आदि मे भी जहाँ कही असत्य आदि अनैतिक आचरणो का सहारा लेना पड रहा हो, उसे भी अपनी मानसिक दुर्बलता मानकर उसके प्रति हार्दिक पश्चात्ताप किया जाय और यह चिन्तन भी किया जाय कि वह दिवस मेरे लिये परम सौभाग्य का होगा जबकि मैं इन दुर्बलताओ एव विवशताओ से ऊपर उठ कर समस्त असत् प्रवृत्तियो से मुख-मोड कर आत्म-दर्शन के लक्ष्य के प्रति समर्पित बनूँगा।

विवशताजनित असत्प्रवृत्तियो के प्रति पश्चात्ताप के साथ ही असावधानी, प्रमाद एव आलस्यवश विगत २४ घन्टो मे हुई त्रुटियो के लिए भी सघन पश्चात्ताप करते हुए कोई सशक्त प्रायश्चित्त रखना आवश्यक है। प्रायश्चित्त से पूर्व यह निर्धारण अनिवार्य होगा कि उन प्रमादजनित अशुभ प्रवृत्तियो का अनुगणन किया जाय। दिन भर मे किस प्रमत्त भाव में कौनसी असत्प्रवृत्ति हुई ? कितनी मात्रा मे मलिन विचारो ने अपना प्रभाव दिखाया ? ताकि प्रायश्चित्त की मात्रा का निर्धारण भी सम्यक् प्रकारेण हो सके। प्रायश्चित्त इस प्रकार का हो कि उसका मन पर गहरा प्रभाव अकित हो सके और इसके लिए सुगम उपाय यह है कि मन की अत्यन्त प्रिय वस्तु उसे नही दी जाए। अर्थात् कोई खाद्य-पदार्थ, जिस पर मन की अत्यधिक आसक्ति हो, छोड दिया जाए। इस प्रक्रिया का प्रभाव तो मन पर होगा ही, साथ ही मन को कुछ सशक्त निर्देश भी प्राप्त होगे कि वह पुन वैसी त्रुटि के प्रति प्रवृत्त न हो। इस निर्देश के सत्परिणाम कुछ दीर्घकालावधि अवश्य चाहेगे, किन्तु वे होगे प्रभावशील।

मन को दिये जाने वाले निर्देशनो मे यह ध्यान रखना आवश्यक है कि विवशताओ एव प्रमत्तताओ से होने वाली भूलो को उसी क्रम से उसी सक्रिय सशक्तता के साथ परिमार्जित किया जाय ताकि समीक्षण की क्रिया भी वैधानिक रूप ले सके।

यह निश्चित है कि सभी त्रुटियो का समीक्षण, निरीक्षण अथवा परिमार्जन एक साथ नही हो सकेगा तथापि स्थूल प्रवृत्तियो से उपराम पाते हुए सूक्ष्म दोषो को भी परिमार्जित किया जा सकेगा।

आत्मावलोकन अथवा व्यवहार दर्शन की इस प्रक्रिया मे तब तक सलग्न रहना चाहिये जब तक चित्त मे उत्साह-उमग हो, मन की क्षुधा बनी रहे—मन चाहे कि अभी कुछ समय और यही चिन्तन किया जाय। इस प्यासपूर्ण स्थिति मे ही—ऊब के पूर्व साधना के आयाम मे कुछ परिवर्तन कर देना अधिक श्रेष्ठ होगा। क्योकि प्रारम्भ मे ही मन को ऊबा देने से पुन. उसी साधना-क्रम मे गति लाना अत्यन्त कठिन हो जाता है।

परमोच्च आदर्श—द्वितीय चरण

जीवन के व्यावहारिक परिवेश मे मनोवृत्तियो के समायोजन के उपरान्त

पुन साधना के द्वितीय चरण आत्म-लक्ष्य मे प्रवेश अपेक्षित है। वह चरण होगा आदर्श-स्थैर्य का। किसी उच्च आदर्श की स्थिरता के अभाव मे साधना मे निराबाध गति नही हो सकती है। साधना ही नही किसी भी कार्य के प्रति समर्पित होने के पूर्व किसी आदर्श की परिकल्पना अनिवार्य मानी गई है। एक व्यवसायी व्यवसाय-क्षेत्र मे उतरने के पूर्व किसी समर्थ व्यवसायी को आदर्श मानकर अपने क्षेत्र मे गति करता है। ठीक इसी प्रकार मै साधना के क्षेत्र मे चरण गतिशील हो, इसके पूर्व किसी आदर्श की अनिवार्यता अपरिहार्य है। हाँ, वह आदर्श हो परमोच्च एव परम श्रेष्ठ। आदर्श जितना उच्चतम होगा, साधना की गति उतनी ही ऊर्ध्व होगी। अत आदर्श के निर्धारण मे सजग वृत्ति की नितान्त आवश्यकता है। आदर्श वह होना चाहिये जो लक्ष्य का सर्वोत्तम प्रतिमान हो और साधना के क्षेत्र मे वह होगा आत्मा का सर्व विशुद्ध रूप सिद्धावस्था का। आदर्श के अनुचिन्तन मे साधक का प्रथम चिन्तन होगा मेरा जीवन केवल वर्तमान परिवेश-मानव पर्याय तक ही सीमित नही है। अनादि अनन्त के ससरण मे मैं अनेक योनियो मे मनुष्य, तिर्यञ्च एव नरक की पर्यायो मे भ्रमण कर चुका हूँ। अनन्त पुण्य के शुभ सयोग का परिणाम है, यह मानव का तन। उससे भी अधिक पुण्य का प्रतिफल है आर्य क्षेत्र एव सुकुलोत्पत्ति। और अधिक प्रबल पुण्य का प्रभाव है—अध्यात्म के अनुकूल वातावरण का प्राप्त होना।

इस सब सयोग की उपलब्धि के उपरान्त भी यदि मैं आत्म कल्याण के लक्ष्य से विचलित रहा, पुण्यमय सयोगो का सम्यगुपयोग नही किया, भौतिक पदार्थों के अर्जन-सर्जन मे ही अमूल्य उपलब्धि एव बहुमूल्य समय को समर्पित करता रहा तो क्या अर्थ होगा इस सब उपलब्धि का ? क्या मैं दृढ विश्वास के साथ आत्म साक्षी से कह सकता हूँ कि मुझे पुन आगामी जन्म मे ये सयोग सुलभ हो जाएँगे ? यदि यह आत्म विश्वास सुदृढ नही है तो मुझे किस प्रकार के प्रयासो के प्रति सलग्न होना चाहिए। केवल भौतिक उपादानो की उपलब्धि का मार्ग अन्धकाराच्छन्न मार्ग है। अन्धकार की ओर गतिशील होना मेरा लक्ष्य नही है। इन्द्रियो के आकर्षण भी चेतन सत्ता को अन्धकार की ओर ही ले जाते हैं। समस्त दृश्य, श्रव्य एव आस्वाद्य पदार्थ मुझे अपने आदर्शभूत लक्ष्य से विचलित करने वाले हैं। मुझे इन सब से ऊपर उठकर परम चेतना के साक्षात्कार के आदर्श को स्वीकार करना है जहाँ अन्धकार की एक रेखा भी न हो। प्रकाश-प्रकाश केवल प्रकाश ही शेष बचे। किन्तु वह प्रकाश भी रवि-शशि-तारो का अथवा दीपक का नही, इन सबसे भिन्न आत्म-ज्ञान का प्रकाश, जिसे सूर्य से भी उपमित नही किया जा सकता है। क्योकि सूर्य के प्रकाश मे भास्वरता के साथ सतप्तता भी है जबकि आत्म प्रकाश मे अनन्त भास्वरता के साथ परम शान्ति का आलोक होता है। इसीलिए 'लोगस्स' के पाठ मे सिद्ध स्वरूप के वर्णन मे कहा गया है—"आइच्चेसु अहिय पयासयरा" अर्थात् अनन्त सूर्यों से भी

अधिक प्रकाश करने वाले । आचार्य मानतु ग ने अपने 'भक्तामर स्तोत्र' मे कहा—
"सूर्यातिशायि महिमासि ।"

अनन्त सूर्यों से भी अधिक महिमा वाले ।

तो हमारा आदर्श यह भौतिक पदार्थों से अनुबन्धित आलोक भी नही होगा । हमारा आदर्श होगा, अनन्त सूर्यों से भी अधिक प्रकाशमान चेतना की सर्वोच्च सत्ता का, जहाँ केवल परम आनन्द ही शेष बचता है । शान्ति ही शान्ति का अजस्र स्रोत प्रवाहित होता रहता है । जिसकी चरम परिणति होगी सत्-चित्त आनन्दमयता ।

इस परमोच्च आदर्श को समक्ष रख कर ही साधक साधना मे चरण बढा सकता है और तद् द्वारा उद्देश्य प्रपूर्ति तक पहुँच सकता है । इस सर्वोत्तम आदर्श को विस्मृत कर केवल वर्तमान जीवन और तत्सम्बन्धी उपलब्धियो को ही सब कुछ मान बैठने वाला साधक अपनी अनन्त सामर्थ्य-सत्ता को भी विस्मृत कर जाता है । परिणामत इस शरीर की क्षुद्र परिधि के सकुचित घेरे मे ही अपनी अनन्त शक्ति को अवरुद्ध कर लेता है और उसके लिए विकास के समस्त द्वार ही बन्द हो जाते हैं ।

अत साधना के द्वितीय चरण मे साधक सजगवृत्या अपने आदर्श के निर्धारण, उसके प्रति समर्पण एव उसमे होने वाली त्रुटियो के प्रति पश्चात्ताप पूर्ण चिन्तन मे अपनी सम्पूर्ण चिन्तना शक्ति को नियोजित करता है । जहाँ भी विवशता आती है, साधक-चित्त पश्चात्ताप से भर जाना चाहिए । क्योकि पश्चात्ताप भविष्य के प्रति सजगता का सकेत करता है । फलस्वरूप साधक की साधना मे अधिक निखार आता है ।

साधना के इसी चरण मे यह चिन्तन भी आवश्यक है कि ससार की समस्त गतियो, समस्त योनियो मे एक मानव तन की पर्याय ही साधना मे सम्बल प्रदान कर सकती है । अतीत काल मे अनन्त सिद्ध भगवन्तो ने इस मानव तन के द्वारा ही उस परम चैतन्य रूप आत्मसत्ता का साक्षात्कार किया है । बिना मानवीय तन के मोक्ष मार्ग की—आत्म ज्योति के साक्षात्कार की साधना नही हो सकती है । अत इस क्षण-भगुर, किन्तु महत्त्वपूर्ण तन के महत्त्व को समझकर तथा सिद्ध-स्वरूप के परम आदर्श को समक्ष रखकर दृढ सकल्प के साथ मुझे जीवन की अर्थवत्ता को सार्थक करना है । क्षण भर के लिए भी मुझे अपने आदर्श-लक्ष्य को विस्मृत नही करना है । मेरा उपयोग सतत साधना के उच्चतम लक्ष्य के प्रति समर्पित हो ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रारम्भ मे साधक को आदर्श का अनुचिन्तन अनिर्वचनीय एव काल्पनिक उडान ही लगेगा । क्योकि उतनी उच्च स्थिति का

साक्षात्कार उसकी सामर्थ्य-सीमा से वाहर होगा। किन्तु यह नही भूलना चाहिये कि साधक स्वय भी अनन्त सत्ता का धारक होता है। अपनी शक्ति का अनवरत स्मरण उसे अपने आदर्श के स्वरूप वोध मे अवश्य सहयोगी वनेगा। उसकी दृढ सकल्पनात्मक साधना उसे निश्चित लक्ष्य तक पहुँचाएगी। इस जन्म मे नही तो आगामी जन्म मे और आगामी जन्म मे वह अवश्य ध्येय का साक्षात्कर्ता बनेगा।

तीसरा आयाम—भविष्य का निर्धारण

आदर्श के निर्धारण एव लक्ष्य के सस्मरण के द्वारा आत्म-लक्ष्यी अन्तराव-लोकन कर साधक पुन. अपने व्यावहारिक जीवन मे लौट आता है। यही से साधना का तृतीय चरण अथवा तीसरा आयाम प्रारम्भ होता है।

साधक की यात्रा बाहर से भीतर की ओर हुई। व्यवहार से अध्यात्म की ओर हुई। देह से चैतन्य की ओर हुई। किन्तु चेतना की ओर होने वाली यह यात्रा सामयिक थी, अत निश्चित अवधि के उपरान्त उसे पुन अपने व्याव-हारिक जीवन मे लौटना पडता है। हाँ, वह लौटना भी अध्यात्म साधना का सम्पूरक ही होगा। उसी को गति देने वाला होगा।

पुन व्यावहारिक जीवन मे लौटने की प्रक्रिया स्वरूप इस तृतीय चरण मे सकल्प की बलवत् शक्ति का सम्बल अपेक्षित होगा। वाहर लौटने की इस क्रिया मे सर्वप्रथम प्रबलतम सकल्प के साथ सामयिक निश्चितता, समय की पाबन्दी पर बल दिया जाना आवश्यक है और उसी के आधार पर साधनावधि के उपरान्त आगामी चौबीस घन्टो के कार्यक्रम का निर्धारण होना चाहिये। साधना से उठते ही जिस कार्य के प्रति सलग्न होना है, उसका समय निश्चित कर लिया जाय कि इतने बजकर इतने मिनिट पर मुझे इस कार्य से निवृत्त होकर इससे अगले कार्य के प्रति इतने बजे संलग्न हो जाना है। इसी प्रकार समस्त दैनिक कार्यक्रमो का सामयिक विभाजन दृढ सकल्प के साथ किया जाय। उदाहरण के लिए, साधना से उठते ही देह चिन्ता-निवारण अथवा शारीरिक अन्य आवश्यकताओ की पूर्ति मे सलग्न होना है तो उनकी कालावधि निश्चित कर ली जाय। इस निश्चिति मे भी मन को सशक्त सुझाव दिये जाएँ कि उसे उस समय उसी क्रिया के प्रति समर्पित होना है, जो समय जिस के लिए नियुक्त है। उससे किंचित्-मात्र भी इधर-उधर नही होना है।

सहज योग

इस समय-निर्धारण के साथ साधक चित्त की दृष्टि से यह भी आवश्यक है कि जिस कार्य मे साधक सलग्न हो, उसकी समग्र वृत्तियाँ उसी के प्रति सम-र्पित हो, उसका सम्पूर्ण उपयोग-अवधान उसी के प्रति हो। जिस समय वाचन

कर रहा है तो उसका ध्यान वाचन के प्रति ही हो । उसकी चित्तवृत्तियाँ उसी मे उपयुक्त हो । उस समय वह भोजन को अपनी स्मृति-पथ पर नही आने दे । और जब भोजन अथवा अन्य कार्यों के प्रति समर्पित हो, स्नान अथवा अन्य अपर कार्य का स्मरण नही होना चाहिए ।

कार्य के प्रति एकावधानता की यह साधना ही सहज योग की साधना कहलाती है । अस्तु, साधना के तृतीय चरण मे कार्य के प्रति पूर्णतया समर्पण के सकल्प बने । सकल्प की दृढता यहाँ तक हो कि मैं आज भोजन करते समय उसकी एक-एक क्रिया पर सजगता की साधना करूँगा । कौर तोडते हुए, ग्रास मुखार्पित करते हुए, उसका चर्वण (चबाना) करते हुए सभी क्रियाओ मे मेरा उपयोग सजग रहेगा । प्रत्येक क्रिया का सूक्ष्मतापूर्वक अवलोकन करूँगा । उसके प्रत्येक एक्शन के प्रति सजगता का अभ्यास करूँगा । एक भी कौर-ग्रास बिना सजगता के अन्दर नही जाएगा ।

भोजन के समय की जाने वाली इस जागृति-साधना के द्वारा सहज योग की साधना तो होगी ही साथ ही पाचन-प्रक्रिया पर भी इसका प्रभाव होगा । सतत जागृति के कारण खाद्य-पदार्थ ठीक प्रकार से चबाया जाएगा । उसमे पाचक रस का सम्मिश्रण समुचित मात्रा मे होगा, परिणामत वह सुपाच्य हो जाएगा । यह स्मरणीय है कि भोज्य पदार्थ जितना सात्विक होगा, उतना ही सुपाच्य होगा और पाचन प्रक्रिया का सुव्यवस्थित होना, प्राण-शक्ति के सवर्धन मे आवश्यक है और प्राण-शक्ति का सवर्धन साधना के लिए आवश्यक है । इस प्रकार भोजन करते समय जागरुकता का होना शारीरिक दृष्टि से भी एव साधना की दृष्टि से भी लाभप्रद होता है ।

भोजन ग्रहण के समान ही प्रत्येक दैनन्दित क्रिया मे सतत सावधानता की साधना का सकल्प साधना के तृतीय चरण मे किया जाना आवश्यक है ।

साधना का त्रिचरणात्मक अथवा तीन आयाम रूप यह क्रम, जिसमे अतीत २४ घन्टो का सस्मरण, आगामी २४ घन्टो की रूप-रेखा का निर्धारण एव इन दोनो के मध्य आदर्श लक्ष्य का एकावधान अनुचिन्तन हो, नियमित रूप मे प्रतिदिन किया जाय । जहाँ कही मनोवृत्तियो मे स्खलन हो, पुन उसे सावधानी का सम्बल प्रदान किया जाय । इस साधना के क्षणो मे मन को अपना अनुचर बने रहने का सकल्प दोहराना और उसे वैसा बने रहने को बाध्य करना अधिक श्रेष्ठ होगा । क्योंकि मन को अनुचरवत अनुशासित किये बिना सकल्प सशक्त नहीं बन पाते है । और उनके अभाव मे लक्ष्य सिद्धि असम्भव ही है । अस्तु, लक्ष्य के प्रति प्रतिपल जागरण के साथ मनोवृत्तियो का समीक्षीकरण अनिवार्य माना जाना चाहिये ।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि हमारा लक्ष्य सिद्ध-स्वरूप का साक्षात्कार है—परम चैतन्य-सत्ता की अवाप्ति एव अविचल शान्ति मे सदा-सदा के लिए विश्रान्ति, यही हमने साधना के उच्चतम लक्ष्य के रूप मे स्वीकार किया है। अत, उपर्युक्त त्रिआयामी साधना मन स्थिति को सुदृढ-एकावधानी बनाने की भूमिका मात्र है। इसे ही साधना का सर्वोत्तम आदर्श या सर्वोच्च लक्ष्य नही मान लेना चाहिये।

यहाँ यह स्मरणीय है कि साधना की पूर्व भूमिका स्वरूप इन तीन आयामो मे भी प्रतिदिन प्रखरता के साथ सूक्ष्मता मे अवगाहन अपेक्षित है। कुछ घिसी-पिटी बातो का ही प्रतिदिन चिन्तन साधना नही होगी। विषय वे ही हो किन्तु उन्ही विषयो का सूक्ष्म चिन्तन हो और वह सूक्ष्मता-तलस्पर्शिता प्रतिदिन बढती ही जाय। जितनी गहराई मे पहुँचा जा सके, चिन्तन को उतनी ही गहराई मे ले जाना चाहिये। "जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ" वाली सूक्ति को सदा स्मरण रखना चाहिये। हाँ, यह ध्यान अवश्य रहे कि चिन्तन की गम्भीरता वही तक हो कि मस्तिष्क मे किसी भी प्रकार का तनाव उत्पन्न न हो। चिन्तन के प्रति उत्साह-उमग कुछ शेष रहे उसके पूर्व ही चिन्तन को विषयान्तर मे ले जाना चाहिये। यह सावधानी तो साधना के प्रत्येक चरण मे आवश्यक है। जहाँ भी मस्तिष्क मे हल्का सा भी तनाव अनुभव हो, तुरन्त उस चरण का स्थगन और कुछ विश्रान्ति के पश्चात् नवीन चरण का प्रारम्भ हो जाय।

आदर्श के अनुस्मरण रूप द्वितीय आयाम मे भी यह जागरण आवश्यक है कि साधक अपने आपको तदनुरूप ढलता हुआ अनुभव करे। उसके सुदृढ-सकल्प हो कि मेरी अन्तश्चेतना मे अनन्त सूर्यो से भी अधिक प्रकाश है, मेरे चित्ताकाश मे उस प्रकाश की लौ जल रही है। आलोक का एक व्यापक विस्फोट मेरी आत्मा में हो रहा है। मेरी आत्मा मे अनेक शक्तिस्रोत प्रवाहित हो रहे हैं। अनेक शक्तियो की अभिव्यक्ति का मैं अनुभव कर रहा हूँ।

यह निश्चित है कि साधना का यह क्रम कुछ अधिक कालावधि की अपेक्षा रखता है। कारण स्पष्ट है कि सुदीर्घकाल से विश्रृखलित चित्तवृत्तियो पर सहसा विजय नही पाई जा सकती है तथा सर्वोच्च सिद्धि के लिए सर्वोत्कृष्ट प्रयत्न भी तो अपेक्षित होता है। व्यवहार मे हम देखते हैं कि बीज-वपन के साथ ही फल की प्राप्ति नही हो जाती है। कुछ फलो मे महीनो की तो कुछ आम्रादि फलो मे वर्षों की प्रतीक्षा करनी पडती है। जब भौतिक फलो की प्राप्ति मे हम प्रतीक्षा कर सकते हैं, उसमे अविश्वास भी नही करते हैं तो अध्यात्म साधना मे त्वरित फल कामना के साथ धैर्य कैसे छोड़ सकते है? निश्चित विश्वास एव अगाध धैर्य के साथ साधना मे गतिशील रहते हुए

निश्चित साध्य का साक्षात्कार हो सकता है। यह अवश्य है कि अध्यात्म का विषय इन्द्रियो और मन से भी परे का विषय है। वहाँ समस्त दृश्य पदार्थों से परे हटकर अदृश्य सत्ता-आत्म ज्योति पर ध्यान केन्द्रित करना होता है। वह केन्द्रीकरण की साधना एक जन्म मे ही नही, कई बार अनेक जन्मो मे सिद्ध हो पाती है। अनेकानेक महान् योगी एव धुरन्धर साधक भी उस साधना मे सहसा सफल नही हो पाते हैं। अत साधक को सदा यह स्मरण रहे कि मुझे निरन्तर एक निष्ठा एव सत्कार के साथ दृढ सकल्प का सम्बल लेकर अचल विश्वास के साथ प्रगति-पथ पर बढते ही जाना है। साधना मे आने वाली हल्की सी थकान अथवा सुस्ती उसके व्यवस्थित क्रम को ही अस्त-व्यस्त कर देती है और क्रम का टूट जाना साधक के विश्वास को भी विचलित कर देता है। जिसका परिणाम होता है—साधना के प्रति अरुचि का उत्पन्न हो जाना। अत यह आवश्यक है कि दृढ निश्चय, अगाध धैर्य के साथ विधिपूर्वक साधना के प्रति समर्पित हुआ जाय तथा ऊब अथवा थकान को कभी अवकाश नही दिया जाय।

सावधानी

इस साधना-क्रम मे सबसे अधिक जागृति की आवश्यकता तब पडती है जबकि अपना प्राय स्थायी आसन जमाई हुई दूषित वृत्तियाँ कुछ तूफान मचाने लगती है। साधना के द्वारा जब सुषुप्त शक्तियो का जागरण होता है—चारो दिशाओ से पवित्रता का वायुमण्डल बनता है तो उन कलुषित वृत्तियो का आसन हिलने लगता है। वे अपने आसन को छोडना क्यो चाहेगी ? परिणामत सघर्ष छिडता है। यदि साधना का सकल्प सशक्त हुआ तो असत्वृत्तियो को अपना आसन छोडना पड़ेगा। साधक को विजयश्री प्राप्त हो जाएगी। अन्यथा वे अनादिकालीन दूषित विचार साधना को छिन्न-भिन्न कर देंगे और साधक हतोत्साहित होकर लक्ष्य से भटक जाएगा। अस्तु, यहाँ यह सावधानी नितान्त आवश्यक है कि ज्योही वैकारिक दूषित वृत्तियाँ अपना प्रभाव दिखाने लगें, आत्म-शक्ति के सम्बल से उन्हे परास्त कर दिया जाय। उनके आगमन के मार्ग को ही अवरुद्ध कर दिया जाय। तत्काल यही चिन्तन हो कि ये वृत्तियाँ पर हैं—आगन्तुक हैं। मेरी आत्म-शक्ति को दुर्वलता के कारण ही इन्होने यहाँ अपना आसन जमा लिया था और मेरी चेतना पर हावी हो गई थी। मेरी असावधानी के कारण ही ये अकुरित हुईं और फली-फूली। अन्त मे मेरी आत्म-शक्तियो को दबोच लिया। इन्द्रियजन्य क्षणिक आनन्द ने सत्चित्त रूप शाश्वत आनन्द को आवृत्त कर दिया। किन्तु दोष इन वृत्तियो का नही, दोष मेरी असावधानी का है। असावधान मालिक की तरह ये चोर वनकर मेरी आत्मा मे घुस गईं और अभी भी मेरी तन्द्रालुता से ही ये सब वृत्तियाँ सक्रिय है।

यह मेरी सबसे वडी भूल थी कि मैं इन क्षुद्र वृत्तियो मे ही आनन्द की

खोज करता रहा । किन्तु मेरी दृष्टि जब आत्म-शक्ति पर केन्द्रित हुई, मैं उसकी क्षुद्रता को समझ गया । मुझे यह ज्ञात हो गया कि मेरा आनन्द क्षणिक क्यों है ? अब तक मैं तत्त्व द्रष्टाओं द्वारा वर्णित शाश्वत आनन्द को क्यों नही उपलब्ध कर पा रहा था और, अब मेरी आत्म ज्योति प्रज्वलित हो गई है, मेरी शक्ति मे जागरण हो चुका है । ज्योति और वह जागरण है—समीक्षण ध्यान ।

समीक्षण ध्यान से मैंने आत्म-शक्ति को देखा-परखा । उसकी तह-गहराई तक पहुँचा । समता की आँख से देखा तो मुझे आश्चर्यमिश्रित खेद हुआ । आश्चर्य यह कि कितनी अमाप शक्ति का केन्द्र हूँ मैं । मेरी मूल सत्ता केवल आनन्दमयी ही है और मैं उसे वाहर खोजता रहा । और खेद इस बात का कि मैं कितनी वेहोशी मे था, अपने आप से वेभान । अपने आप से अपरिचित ! अनन्त शाश्वत आनन्द का असीम कोष होते हुए भी दर-दर ठोकर खाने वाला भिखारी वना—मैं किन वाह्य पदार्थों-इन्द्रियाकर्षणो मे आनन्द को खोज रहा था । उन्हे ही जीवन का आदर्श मानकर सम्पूर्ण जीवनी शक्ति को इन्ही विनश्वर पदार्थों के प्रति समर्पित कर दिया । खेद ही नही, महा खेद का विषय है कि अनन्त आलोक स्वरूप होते हुए मैं अन्धकार मे ठोकरे खाता-भटकता रहा । सत्चित्त आनन्दघन स्वरूप अनिर्वचनीय अलौकिक आत्म-शक्ति पर इन विकारी वृत्तियो का इतना कुहरा छा गया कि मैं अपने आप से सर्वथा अपरिचित वना रहा । कितना महा अज्ञान, कितनी प्रगाढ मोह-निद्रा और किस प्रकार इसने मुझ पर आधिपत्य स्थापित कर लिया ! ! !

सद्गुरु के मार्ग-दर्शन ने मेरे विवेक-चक्षु उद्घाटित किये और अव मैं समझ पाया हूँ कि मैं स्वय ही स्वय का स्रष्टा हूँ । अनन्त शक्ति की अविरल स्रोतस्विनी मेरे भीतर वह रही है । मैं ही तो अनन्त ज्योति पुञ्ज हूँ । मेरी चेतना स्वय मे सर्व तन्त्र, स्वतन्त्र, पूर्णतया निर्विकार, लोकालोक को सम्यग्रीत्या अवलोकन करने वाली, केवलज्ञान की सत्ता की धारक है । और इस स्वरूप वोध को देने वाली शक्ति है, वीतराग वाणी । अत उसे ही मैं परिपूर्ण सत्य के रूप मे स्वीकार करता हूँ । उसी वाणी का निष्यन्द रूप नवनीत है—समीक्षण ध्यान । अव इसी समीक्षण ध्यान के द्वारा मैं अपने अनन्त स्वरूपी चेतना-वोध के प्रति सक्रिय हूँ । मैं अपने आपको परम धन्य—परम सौभाग्यशाली मानता हूँ कि अनन्त ससृति के ससरण मे अव मैंने अपनी दिव्य निधि आत्म-वोध को प्राप्त कर लिया । यह ठीक है कि अभी यह प्राप्ति केवल श्रद्धा स्वरूपा है । किन्तु मुझे अव प्रगाढ विश्वास हो गया है कि मेरी यह श्रद्धा अविचल होगी और कार्यान्वित भी । अव दूषित वृत्तियाँ मेरी आत्मा मे अपना स्थान नही वना सकेंगी । अव सघर्ष मे विजय आत्म-शक्ति की ही होगी । यहाँ तक कि ये वृत्तियाँ चाहे इस साधना मे सहयोगी शरीर को भी समाप्त करने का

प्रयास करें, मैं अपने ध्येय से विचलित होने वाला नही हूँ। इस जन्म मे नही तो अगले जन्म मे सही, मैं लक्ष्य-सिद्धि का वरण करके ही रहूँगा।

ये वृत्तियाँ चैतन्य देव को लाख प्रलोभन दें कि 'हमने तुम्हारा अनन्त जन्मो तक साथ निभाया, तुम्हे सभी प्रकार के इन्द्रियजन्य सुख प्रदान किये है, अब तुम हमारी जडो को उखाड रहे हो, यह तुम्हारे लिए ही अहितकर है।' किन्तु मैं इन प्रलोभनो से भी विचलित होने वाला नही हूँ। क्योकि मैं समझ गया हूँ कि इन वृत्तियो मे प्राण-शक्ति का सचार तो मेरे ही द्वारा हो रहा है। अन्यथा तो ये निष्प्राण ही हैं। अत अब इन निष्प्राण वृत्तियो से ऊपर उठकर शाश्वत आनन्द के द्वार उदघाटित करूँगा।

अह-विसर्जन

हम सभी साधना के क्षेत्र मे प्रवेश कर रहे हैं। साधना एक सामान्य शब्द है। वह कई प्रकार की होती है। विविध साधनाओ के अलग-अलग आयाम होते हैं। उन आयामो के माध्यम से साधक अपनी साधना की गति को तीव्र या मद बनाता हुआ अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँचता है। आध्यात्मिक साधना सभी साधनाओ मे अपना विशिष्ट स्थान रखती है। इस साधना से बढकर कोई अन्य साधना विश्व मे न थी, न है और न होगी। इसी अद्वितीय साधना के परिवेश मे साधको की गति मुडती है तब वह सभी परिधियो को पारकर उच्चतम स्वरूप का वरण करती है। वही उच्चतम अवस्था भव्य जनो के लिये गन्तव्य स्थल है। उस अवस्था को पार करने के लिये प्रारम्भिक आयाम पूर्व मे बतलाये गये थे। उन आयामो मे जिनकी जितनी गति अधिक बन पाती है उतनी ही आन्तरिक प्रवेश की प्रक्रिया तीव्र एव व्यवस्थित बन पाती है। इन सभी प्रक्रियाओ मे अनेक प्रकार के विश्राम-स्थल उपलब्ध होते हैं। स्थूल परिधि के भीतर प्रवेश पाने मे चित्त की वृत्तियाँ सन्मुख गतिशीलता के साथ आती है। उस स्थूल परिधि के अन्तर्गत परिभ्रमण करने वाली चित्तवृत्तियाँ सामयिक रूप को लेती हुई मानसतत्र को उद्वेलित करती रहती है। मानसतत्र की उथल-पुथल के बीच मे साधक इतना उलझ जाता है, जिससे वह आगे का कोई भी मार्ग प्राप्त नही कर पाता है। वह कितना ही मन की वृत्तियो का या मन को एकाग्र करने का प्रयत्न करे पर उस एकाग्रता मे जितनी चाहिये उतनी सफलता उपलब्ध नही हो पाती है। उस एकाग्रता के अभाव मे साधक थकान महसूस करने लगता है और सोच लेता है कि आगे की कोई गति नही बन पायेगी, वह हतोत्साह होकर अन्दर प्रवेश के प्रयत्न को ही छोड देता है।

इसके विपरीत कुछ साधको को साधना की सामान्य स्थिति मे ही समाधिस्थ हो जाने का भ्रान्तिपूर्ण आभास होने लगता है। वे उस अवस्था का

साधक कुछ शाति के क्षणो मे अनुभव का आस्वादन प्राप्त करता है। वह एक ऐसी अवस्था है जो कि समाधि के स्वरूप का आभास कराने लगती है। जब कभी साधक को यह लगने लगता है कि मेरी साधना परिपूर्णता को प्राप्त होने मे अग्रसर बन रही है। तत्काल साधक कुछ भ्राति की स्थिति मे आ जाता है। समय की परिधि के बढने को समाधि की परिधि बढना मान लेता है। इस प्रकार का भ्रम हो जाने से मानसतत्र के परे के तत्रो को नियत्रित करता हुआ, अग्रिम परिधि मे नही पहुँच पाता। क्योकि स्थूल परिधि मे अपेक्षाकृत सतुष्टि एव समय की वृद्धि को समाधि की वृद्धि मान लेने से आतरिक यात्रा करने वाले दृढ सकल्प की एव अदम्य उत्साह की जो वृत्तियाँ गन्तव्य स्थान की परिपूर्णता की ओर ले जाने के लिये उत्सुक बनी थी, उस उत्सुकता मे शिथिलता एव कमजोरी व्याप्त हो जाती है। परिणामस्वरूप यत्किंचित् बाहरी परिधि मे होने वाले परिणामो को ही सब कुछ मानने से आगे की गतिशीलता कुंठित सी बन जाती है। अत. साधको को साधना के क्षेत्र मे प्रति समय दृढ सकल्पपूर्वक अग्रिम मंजिल को पाने के लिये सदा उत्साहित रहना चाहिये। चिन्तन करना चाहिये कि यह यात्रा का प्रथम पडाव है। इस पडाव मे विश्राम लिया जा रहा है, परन्तु वह विश्राम आगे के आयामो मे बैठने के लिये शक्ति सचय का रूप है न कि कोई आखिरी मजिल ही है। इस प्रकार के चिन्तनपूर्वक आगे के आयामो के लिये अति जिज्ञासु और तीव्र पिपासु बनकर प्रारम्भिक विराम की अपेक्षा से गतिशीलता की गरिमा को विशेष महत्त्व देने पर आगे का पडाव सहज सुलभ बनता हुआ परिलक्षित होने लगेगा।

किन्तु स्थूल परिधि मे मानसिक तत्र की जो उलझन है उस उलझन को सुलझाये बिना अग्रिम गति बन नही पाती। उसको सुलझाने के लिये बाहरी साधन एव अन्य तौरतरीके कामयाब नही हो सकते। उलझन तभी सुलझ सकती है जबकि उसका सम्यक् रीति से अवलोकन कर लिया जाय। उलझे हुए सूत के धागो को बिना अवलोकन किये कोई भी व्यक्ति सुलझा नही सकता। उन जाल के रूप मे परिणीत धागो के देखने मे अवधानता, मन की एकाग्रता, शरीर की स्थिरता, नेत्र और हाथो के सक्रिय होने पर ही उस सूत के जाल को सुलझाया जा सकता है। सूत के जाल को सुलझाने मे हस्त, नेत्र एव बाह्य प्रकाश आवश्यक है। परन्तु स्थूल अवस्थान के भीतर मे सूत के धागो के जाल से भी अधिक जटिल सस्कारित जालो के—सस्कार के धागो का जाल अस्त-व्यस्त रूप से उलझा हुआ है। उसको सुलझाने में बाह्य प्रकार—बाह्य हाथ एव नेत्र सफल नही होते। उनको सुलझाने के लिये समता और एकावधानता रूप हाथ के माध्यम से विवेक आलोक के प्रकाश में समीक्षण ध्यान रूप नेत्रो की आवश्यकता है। समीक्षण ध्यान रूप नेत्रो को जब तक व्यवस्थित नही किया जावेगा तब तक मानसतत्र की स्थूल परिधि में उलझी हुई बिखरती हुई

कडियाँ नही सुलभ पायेंगी । एकाग्रता एक हाथ है तो समता दूसरा हाथ है । दोनो का सयुक्तिकरण भव्य तरीके से सधने पर ही अन्दर में ये दोनों हाथ कार्य करने में सक्षम बन सकते हैं । विवेकालोक को पाने के लिये स्थूल परिधि का एवं स्थूल परिधि से सम्बन्धित नाडी तत्र, ग्रन्थिमडल आदि समग्र वृत्तियो का विज्ञान भी अपेक्षित है । उस विवेकालोक मे आन्तरिक तत्र का विज्ञान हो जाने पर समीक्षण ध्यान के माध्यम से उन वृत्तियो को अवलोकन कर व्यवस्थित करता हुआ साधक अन्तरयात्रा की क्षमता अर्जित कर लेता है । दृढ सकल्प एव पूर्ण विश्वास के साथ अन्त प्रवेश रूप सडक पर गमन जितना व्यवस्थित बनेगा उतना ही वह स्थूल परिधि से सूक्ष्म परिधि की सीमा में प्रवेश कर पायेगा । उस परिधि में गति की विशेषता होगी, जटिलता उतनी नही रहेगी । क्योंकि जितनी भी विचित्र प्रकार की झझटें, बाधाएँ, रुकावटें स्थूल परिधि में आती है, उतनी वहाँ नही आ पाती । इन बाधाओ एव रुकावटो से जो सकुशल आगे बढ जाता है, उसके लिये वह राजमार्ग बन जाता है । उस मार्ग पर परिपूर्ण विश्वास एवं दृढ सकल्प के चरणो से चलता हुआ रग-बिरगे दृश्यो मे प्रवेश पा सकता है । वे रग-बिरगे दृश्य ऐसे सूत के धागे की तरह उलझे नही होते हैं, परन्तु उनमे विविध प्रकार की रगयुक्त रोशनियो के प्रकाश की मिलावट के समान एक तरह की सघनता-सी होती है । उस सघनता मे सहसा साधक स्तब्ध सा हो जाता है । समीक्षण ध्यान की गति को यदि व्यवस्थित नही रखता है तो उस प्रकाश के चाकचक्य मे किंकर्तव्यविमूढ भी बन जाता है । जैसे कि जगली जन्तु बीहड जंगल की घाटियो, पहाडियो, नालियो एव पथरीले कटीले रास्तो को पार कर लेता है । अधेरी रात्रि मे भी शिकारी जन्तु जगल में सकुशल अपने मार्ग की खोज कर लेता है । पर वे ही जन्तु प्रकाश युक्त ग्राम सडक पर पहुँच जाते है और घनी रोशनियो का समूह उनके सामने आ जाता है तब वे चकरा जाते हैं । झाडियाँ आदि नही होने पर भी उनकी गति उस प्रकाश के चाकचक्य मे अवरुद्ध हो जाती हैं । वही दशा समीक्षण ध्यान की निर्बलता में स्थूल परिधान के परे सूक्ष्म परिवेश में बन सकती है । कभी-कभी तो कुछ साधक उसी को सिद्धि मान बैठते हैं और अपना प्रदर्शन करने हेतु पुनः बाहर आ जाते हैं । वे इतना मार्ग तय करने पर भी बाहरी प्रदर्शन मे लग जाने से पुन स्थूल परिधि के नये जाल की रचना कर अपनी विकसित साधना की अवस्था को समाप्त कर बैठते हैं । वे साधक उस सीमा पर अनेक समस्याओ मे उलझ कर गति नही कर पाते । उन समस्याओ को सुलझाने की जिज्ञासा वृत्ति जन्म लेने पर भी अहवृत्ति उस जिज्ञासा को दबा देती है । यह सोचते हैं कि दुनिया मे मेरी ही साधना सिद्ध हो चुकी, मैं अब दूसरो को क्यो पूछूँ । पूछने पर मेरा मानदण्ड कम होगा । अन्य साधक समझेंगे कि मैं पूरा साधक नही हूँ । जबकि वास्तव मे वह पूरा साधक नही है । इस बात को अहंवृत्ति प्रकट नही होने देती । वह अहंवृत्ति बाहरी यश को लूटने मे अपनी परिपूर्णता का प्रदर्शन

करती है। ऐसी वृत्ति के अधीन हुआ साधक अपने पवित्र साधना क्षेत्र से विलग हो जाता है। आगे की शक्तियो से वचित रहता हुआ—"कात्या पिजा कपास एक" करने की स्थिति मे बन जाता है। अत धैर्यवान तीव्र जिज्ञासावश परिपूर्णता को पाने वाले जिज्ञासु साधक को चाहिये कि वह उस सीमा तक भी मजबूती के साथ खडा रहे। दृढ विश्वास एव दृढ सकल्प रूप चरणो को हिलने न दे। समीक्षण ध्यान की दृष्टि को तेज बनावे। निरन्तर तत्परता के साथ रग-बिरगे दृश्यो के चाकचिक्य मे वीतराग के राजमार्ग को भलीभाँति अवलोकन करता हुआ, पीछे न हटकर आगे बढने का प्रयास करने वाला साधक एक-न-एक समय अवश्य सफल हो सकता है। अत. साधक के लिये अपनी शक्ति, धैर्य, दृढ सकल्प, दृढ आस्था को एकाग्रता के साथ और समता की भूमिका के साथ समीक्षण ध्यान के माध्यम से पहले भलीभाँति व्यवस्थित एव दृढीभूत बना लेना नितान्त आवश्यक है।

एकावधानता

यह स्पष्ट हो चुका है कि मनोनियन्त्रण के रूप मे की जाने वाली हमारी यह साधना अन्तर्यात्रा की साधना है। इस यात्रा मे एक और शक्ति अपेक्षित है, वह है एकाग्रता की।

एकावधानता के बिना शक्ति-सचय नही हो पाता। शक्ति सचय के अभाव मे गति का प्रारभ समीचीन तरीके से नही हो सकता है। अतएव एकाग्रता का शरीर मे रीढ की हड्डी के समान अथवा भूतल पर रेल की पटरी के तुल्य महत्त्व है। अत एकाग्रता की साधना भी समीक्षण ध्यान साधना का एक अग है। इस अगभूत साधना का प्रारभ अनेक विधियो से किया जा सकता है। किसी मत्र की ध्वनि के माध्यम से भी एकाग्रता सध सकती है। इन मत्रो मे से नमस्कार महामत्र का प्रथम पद ही लीजिये। इस प्रथम पद की ध्वनि के आधार पर एकाग्रता की साधना के द्वारा अन्तरप्रवेश के साथ शक्ति केन्द्रो को व्यवस्थित रूप से सक्रिय बनाया जा सकता है। शब्द ध्वनि शब्द से सबधित तरगो को उत्पन्न करती है। वे तरगे जिस दिशा मे प्रसृत होती है, उस दिशा मे [illegible] बन जाया करता है। इस प्रकार के ध्वनि प्रकपन मे [illegible] जाति के प्रकपन सक्रियता के रूप मे सहायक [illegible]। ध्वनि के प्रकपन बाह्य आकाश मण्डल मे यथायोग्य सुदूर तक [illegible]। [illegible] साधक के लिये बहुत ही महत्त्वपूर्ण बनता है। [illegible] यदि भीतरी अवस्थान की ओर प्रवाहित होता है तो आभ्यन्तर [illegible] केन्द्रो मे सुषुप्त शक्तियो के जागरण का कार्य करता है। [illegible] समीक्षण ध्यान की भूमिका [illegible]। [illegible] का प्रारम्भ पहले उच्च स्वर के रूप मे

तदनन्तर मध्यम स्वर, पश्चात् जघन्य स्वर, तदनन्तर मानस स्वर एव अन्त मे भावप्रधान अर्थस्वर की अवस्था मे परिणत होने पर भावोर्मियाँ अधिक से अधिक सक्रिय बनती है। तार स्वर का रूप—नमो अ॰ ॰ रि ॰॰ ह ता ण। इस प्रकार तार स्वर का उच्चारण कम से कम ११ बार लयबद्ध चलता रहे और ध्वनि के प्रारभ से लेकर प्रत्येक ध्वनि की समाप्ति तक एक समान रहे। ११ तार स्वर के पश्चात् ११ मध्यम स्वर का उच्चारण णमो ॰॰॰ अ रि ह ॰ ता ॰ ण एक समान स्वर की पद्धति से गतिशील रहे। उपयोग की अवस्था मध्यम स्वर के प्रारभ से लेकर प्रत्येक स्वर के अन्त तक विना स्खलना के बनी रहे। तदनन्तर णमो अरिहताण धीरे स्वरो मे जघन्य स्वर की अवस्था भी उपयोगपूर्वक पूर्व की ११ ध्वनियो के अनुरूप ११ बार की अवस्था मे रहे। पश्चात् ध्वनि का स्वर कर्ण गोचर न होकर मानस स्वर मे ही अर्थात् मन ही उच्चारण करे, मन ही श्रवण करे और मन ही लय के साथ जुडा रहे। इस मन के स्वर की गति भी अखण्डित रूप से ११ बार (चलती रहे) से परिपूरित हो। पश्चात् भाव प्रधान मत्र के अर्थ का भावो मे ही उच्चारण भाव ही साक्षी के रूप मे श्रवण करे। इन्ही भावो के साथ उपयोग की अवस्था निरन्तर बनी रहे। यह प्रक्रिया भी पूर्ववत् ११ की गिनती के साथ भावात्मक रूप से की जाय। इन विधियो-ध्वनियो मे तार स्वर की ध्वनि-तरगे छहो दिशाओ मे न्यूनाधिक रूप मे प्रवाहित होने पर भी बाह्य दिशाओ मे अधिक प्रसृत होगी जिससे बाहर ध्वनियाँ सक्रिय बन जाएगी। गौण रूप से यह ध्वनि भीतर के अवयवो को भी छूती हुई अन्य तत्रो को प्रकपित करती हुई केन्द्रो तक पहुँचेगी। मद स्वर की ध्वनि बाहर व भीतर समान मात्रा मे प्रवाहित होगी। जघन्य ध्वनि का मुख्य किन्तु सूक्ष्म प्रवाह भीतर की ओर वहेगा बाहर गौण रूप से। मन की ध्वनियाँ मन के धरातल वाले ग्रन्थि तत्रो के क्रिया केन्द्रो को तथा ज्ञान सेन्टरो को प्रभावित करने लगेगी। भाव ध्वनि के सूक्ष्मतम प्रकपन स्थूल सेन्टर के मानसतत्र की सूक्ष्म परिधि के समीप सूक्ष्म एव विविध रगी दृश्यो के सेन्टरो को प्रभावित करते हुए सूक्ष्म सेन्टर के अग्रिम मोर्चे तक पहुँचने की शक्ति अर्जित कर लेगे। उस सूक्ष्म परिधि के सन्मुख यदा-कदा साधक किंकर्तव्य विमूढता की अवस्था मे पहुँच जाता है। जो कि एक एक दृष्टि से जडीभूत की तरह बनने की स्थिति मे रहती है। उस जडता को भाव ध्वनि के माध्यम से सक्रिय वनाया जा सकता है। इसी भाव ध्वनि के प्रकपनो मे जहाँ वर्गीकरण का प्रसग उपस्थित होगा, उस वर्गीकरण मे समीक्षण ध्यान की महत्त्वपूर्ण गरिमा अनुभव होने लगेगी। इस विधि से साधक सूक्ष्म परिधि के समीपस्थ होने वाले विविध अवस्थानो का निर्णय करने मे सक्षम वन सकता है। यह प्रक्रिया इस एक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भी है तो दूसरी दृष्टि से इसके द्वारा स्वरो के सहारे एकाग्रता की स्थिति सधने मे सुगम भी वन सकती है। यदि इसी से साधक अधिक योग्यता प्राप्त कर लेता है तो एकाग्रता सम्वन्धी अन्य उपाय भी सरल बन जाएगे।

कदाचित् इस विधि से कठिनता अनुभव हो तव दूसरी विधि है श्वास प्रक्रिया की। सहज स्वाभाविक रूप से श्वास की गमनागमन सबधी प्रक्रिया, उस प्रक्रिया को समीक्षण ध्यान के माध्यम से अवलोकन करने की चेष्टा करें। वीतराग मुद्रा की अवस्था से साधक मस्तिष्क से तनाव को समाप्त कर अवयवो का शिथिलीकरण करलें। शिथिलिकरण के लिये यह प्रयोग अधिक सुगम होगा कि समस्त मानसिक अवधान को नेत्रो के समीप ले जाकर कुछ हल्का सा उच्चारण करे—'जाने दो-जाने दो।' इस प्रकार के उच्चारण के साथ नेत्र के समीप उपयोग रहने से तनाव-मुक्ति एव शिथिलीकरण मे बहुत सहयोग प्राप्त होगा। शिथिलीकरण के अभ्यास के सघ जाने पर उपयोगपूर्वक श्वास की गति को समीक्षण ध्यान के माध्यम से देखने लगे। ध्यान रखें कि श्वास नासिका के किस रन्ध्र से आ रहा है एव जा रहा है। दाँये रन्ध्र से या वाँये रन्ध्र से। दाँये रन्ध्र से श्वास का गमनागमन होता है तो समझना चाहिये 'इडा नाडी' सक्रिय है। यदि वाँये नाक के छिद्र से श्वास की गति विदित हो तो यह जाना जा सकता है कि पिंगला नाडी की गति बन रही है। स्वरविज्ञ वाँये स्वर को 'चन्द्र स्वर' और दाँये स्वर को 'सूर्य स्वर' से सबोधित करते हैं। यह स्वर शास्त्रज्ञ का आपेक्षिक कथन है। योग साधना की दृष्टि से इन दोनो स्वरो से एकाग्रता साधने के साथ-साथ एकाग्रता का केन्द्र—समता धरातल भी ज्ञात हो सकेगा। जब तक एक-एक स्वर चालू है तव तक वह राग एव द्वेष की परिणति का सूचक है, समता का नही। दाहिना स्वर राग का द्योतन करता है और वाँया स्वर द्वेष की गति का प्रतिनिधित्व करता है। जब दोनो स्वर की गति समान रूप की अवस्था मे परिलक्षित होने लगे तब 'सुषम्ना' का स्वर सक्रिय बनने की स्थिति मे होता है। यह अवस्था राग और द्वेष की परिणति से ऊपर उठकर समता की भूमिका को भरने वाली बन सकती है।

सुषुम्ना के सक्रिय होने पर दोनो स्वरो की गति शात एव विरल बनेगी क्योकि सुषुम्ना का सम्बन्ध सुषुम्ना शीर्ष एव नाडी तन्त्रो से सम्बन्धित होता हुआ शक्ति केन्द्र, आनन्द केन्द्र, शुद्धि केन्द्र, दर्शन केन्द्र एव ज्ञान केन्द्र को सचालित करने मे सहायक होगा। इन केन्द्रो से सबधित ग्रन्थियें भी समीचीन तरीके से रसो का परिष्पदन करेगी एव केन्द्रस्थ रगो के साथ स्थान की एकाग्रता, श्वास की स्तब्धता तथा मत्र की भावात्मक शक्ति से सम्बन्ध जुडने पर आन्तरिक शक्तियो का आलोक उद्भासित हो सकता है। ये मनोवृत्तियो की एकावधानता के कुछ विधिक्रम हैं। इनके माध्यम से साधक विश्रृङ्खलित चित्त वृत्तियो को नियोजित कर एक समस्वरता प्रदान करता है, जो समीक्षण ध्यान की पूर्व भूमिका का कार्य करती है।

एकावधानता की प्रथम विधि
शरीर—तन्त्र—समीक्षण

दृश्य शरीर भी साधक की साधना के लिये एक महत्त्वपूर्ण अवस्थान है।

इस दृश्य शरीर की आन्तरिक सरचना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जीवन दृश्य शरीर की सीमा तक ही सीमित नही है। दृश्य शरीर से परे सूक्ष्म शरीर एव सूक्ष्मतम शरीर भी है। कम से कम ये तीन शरीर तो इस जीवन की वर्तमान स्थिति के रूप मे माने जा सकते हैं। तीनो शरीरो की आन्तरिक व्यवस्था एक दूसरे से सम्बन्धित है। सन्धि स्थान आदि के रूप मे प्रत्येक शरीर की अपनी-अपनी सीमा मे कार्य परिणति समीचीन रूप से विद्यमान है। साधक जब तक सूक्ष्म एव सूक्ष्मतम शरीर की प्रक्रियाओ को नही जान पाता तब तक इस शरीर मे आवृत्त सच्चिदानन्द का साक्षात्कार कैसे हो सकता है ?

किसी भी किले मे प्रवेश पाने के पूर्व किले के प्रकोटो को एव भीतरी सरचना के अवस्थानो को जानना, निरीक्षण शक्ति के साथ पहिचानना नितान्त आवश्यक है। साधक यदि यह चाहे कि मुझे प्रकोटे एव किले के भीतर के अव-स्थानो को नही देखना है, मुझे तो किले के भीतर की अमूल्य निधि को प्राप्त करना है तो वह व्यक्ति निधि को नही पा सकता। निधि पर आयी हुई परतो का सावधानीपूर्वक ज्ञान होने पर तथा उन्हे हटाने पर ही निधि का साक्षात्कार सभव है। आध्यात्मिक जीवन साधक भी यह चाहे कि मुझे इन शरीरो से कुछ भी वास्ता नही है, इन शरीरो के भीतर की प्रक्रियाओ, विधि-विधानो एव अनुसन्धानो के बोध की अपेक्षा नही है, सिर्फ सत्चत्त आनन्दघन रूप चैतन्य की परम निधि को ही मुझे पाना है, अतएव मुझे उसी के लिये पुरुषार्थ करना अभीष्ट है। आध्यात्मिक धरातल के साधक के लिये यह लक्ष्यगत आस्था तो समीचीन है, परन्तु अभीष्ट सिद्धि की प्राप्ति हेतु किन-किन अव-स्थानो से कौन-कौन से मार्गों से किन-किन का अवलोकन एव किन-किन शक्तियो का निर्धारण करते हुए निधि को उपलब्ध किया जा सकता है, यह ज्ञान भी आवश्यक है। इस ज्ञान की कमी के परिणामस्वरूप हजारो हजार अथवा लाखो वर्षों तक ही नही, अपितु अनन्तान्त काल की परिक्रमा मे कितना ही पुरुषार्थ किया जाय तथापि गन्तव्य स्थान दूर ही रह जाता है। यह सत्य एव तथ्य युक्त वस्तु स्वरूप का कथन है। परम लक्ष्य पर पहुँचने के लिये साधक को लक्ष्य के आभ्यन्तरवर्ती आयामो-अवस्थानो एव इनसे सम्बन्धित तन्त्रो आदि का अवलोकन नितान्त आवश्यक है। वह अवलोकन समीक्षण ध्यान की धुरा पर ही सभव हो सकता है। यद्यपि इन सदियो मे ऐलोपैथिक विज्ञानविदो (चिकित्साशास्त्रियो) ने स्थूल शरीर सरचना का यत्किंचित् अवबोध प्राप्त किया है और सामान्य जन दृष्टि मे दृश्य शरीर का वह विज्ञान बहुत ही महत्त्व-पूर्ण लगता है तथा स्थूल शरीर के विज्ञाता चिकित्सकगण भी अपने आप मे परिपूर्ण ज्ञाता होने का अह करते है। किन्तु इससे ऊपर या इस स्थूल शरीर से पर के अवस्थान को जानना तो दूर रहा उनमे इसके अस्तित्व की आस्था भी प्राय नहीवत् सी लगती है। ऐसा होने मे अनेक हेतु है। उन हेतुओ मे एक हेतु है अर्थ-दृष्टि की प्रधानता। मानव ने अर्थदृष्टि को सर्वोपरि माना, उसकी

उपलब्धि के लिये, अन्यान्य साधनो के साथ स्थूल शरीर विज्ञान को भी माना। येन-केन-प्रकारेण तत्सबधी परीक्षाओ की उत्तीर्णता के साथ इस स्थूल शरीर विज्ञान के माध्यम से अर्थ उपलब्धि मे तन्मय हो जाने के कारण उनकी चिन्तन शक्ति मे सूक्ष्मतम अवयवो की भीतरी परिधि मे कौन-कौन सा रहस्य किस-किस रूप मे छिपा हुआ है, आदि विषयक जिज्ञासा ही नही रह पायी। अतएव वे स्थूल शरीर के परे के अवयवो का विश्वास ही कैसे कर पाते ? परन्तु जिन वैज्ञानिको का दृष्टिकोण स्थूल परिधि की चिकित्सा पद्धति तक ही सीमित नही रहा, उनकी चिन्तन शक्ति अधिक प्रवण बनी, वे स्थूल शरीर के भीतर मे छिपे हुए रहस्यो को भी उद्घाटित करने मे सलग्न हैं। उन्होने कुछ नवीन रहस्यो का विज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया। साथ ही कुछ वैज्ञानिक मनोविज्ञान एव परा-मनोविज्ञान की खोज के आधार पर स्थूल शरीर के अन्तर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थियो का विज्ञान प्राप्त कर चुके है।

वे प्रणाली युक्त रसवाहिनी एव प्रणाली विहीन अन्त स्रावो को स्थूल शरीर मे पहुँचाने वाली ग्रन्थियाँ ही ज्ञात हो पायी हैं। इन नये रहस्यो से भी वे वैज्ञानिक अभी सन्तुष्ट नही हुए है। उनका अन्वेषण अभी गतिशील ही है। इधर आध्यात्मिक विज्ञान के विज्ञाता साधको मे भी कुछ अनुकरणशील साधक पाये जाते है। विरले ही साधक अनुकरणशीलता के साथ-साथ नयी खोजो की महत्त्वपूर्ण मिसाल को लेकर चलते है। आध्यात्मिक निधि की उपलब्धि चाहने वाले साधक अपना स्थिर प्राप्य विषय तो सत्चित्त आनदघन ही मानते हैं। लेकिन वह सत्चित्त आनदघन स्वरूप जिन आवरणो के भीतर मे रहा हुआ है, उन आवरणो के अन्तर मे प्रवेश पाने के द्वारो की खोज मे भी लग चुके हैं। स्थूल शरीर की परिधि मे ऐसे अनेक द्वार हैं। उन सभी द्वारो की अपेक्षा विशिष्ट एव महत्त्वपूर्ण द्वार श्वास प्रणाली का है। श्वास के वाहन पर जिस साधक का आरोहण हो गया, वह साधक इस वाहन की गतिविधि से परिचित होता हुआ आन्तरिक सजातीय विशेष वाहनो की अवस्था को जानता हुआ एक दूसरे सजातीय वाहन का अवलम्बन लेकर विराट आन्तरिक मार्ग मे प्रवेश करने मे सक्षम बन जाता है। वह भीतर मे रहने वाले पाँच प्रकारो के वायु सस्थानो को एव उनकी समीपता से प्राण वायु का महत्त्व एव मूल्यांकन करता हुआ प्राण-शक्ति के समीप पहुँच जाता है। इस प्राण-शक्ति के समीप पहुँचने पर सूक्ष्म परिधि की समीपता मे रही हुई अनेक रगो युक्त शक्तियो को पहचानने मे अधिक सक्षम बन सकता है। उनकी पहचान के बाद अग्रिम रास्ता उस साधक के लिये अधिक सुगम एव सुव्यवस्थित बन सकता है।

श्वास-समीक्षा

नासिका मे जो श्वास ग्रहण किया जाता है वह ऑक्सीजन की सज्ञा से अभिहित होता है। ऑक्सीजन मुख्यतया वनस्पति आदि तत्त्वो से सुगमता से प्राप्त

होती है। वही ऑक्सीजन वायु फेंफडे मे पहुँचकर रक्त शुद्धि आदि का कार्य सम्पादित करती हुई अशुद्ध तत्त्व को लेकर बाहर आती है। शरीर विज्ञान के विज्ञाताओ की श्वास प्रक्रिया सम्बन्धी सीमा प्रायः यही तक सीमित है। पर योग पद्धति आदि की दृष्टि से इस विषयक चिन्तन गहनता की ओर गया है। श्वास के द्वारा सगृहीत ऑक्सीजन मे प्राणवायु का भी समावेश रहता है और वह प्राणवायु की प्रक्रिया रक्त शुद्धि मे ऑक्सीजन की स्थिति के साथ रहती हुई, शुद्ध रक्त मे भी प्राण वायु को प्रवाहित करती है। रक्त का सचार शरीर के छोटे से छोटे सूक्ष्म से सूक्ष्म अवयव से लेकर बड से बड स्थूल अवयव तक रहता है। उस रक्त सचार मे जितनी अधिक मात्रा मे प्राण वायु का प्रभाव होगा, प्राण वायु उतनी ही अधिक शरीर के आतरिक सस्थानो मे प्रमुख सचालन का माध्यम वनेगी। उस प्राण वायु के अतिरिक्त उसी अवस्थान के अन्तर्गत समान वायु भी पायी जाती है। वह समान वायु समान रूप से यथायोग्य यथास्थान पर शरीर की आवश्यकता की सपूर्ति मे सहायक होती है। आन्तरिक सस्थानो के हलन-चलन एव प्रकम्पन आदि अवस्थाओ से अन्य वायु भी निर्मित होती है। उस वायु मे से जिस वायु विभाग का प्रवाह ऊर्ध्व दिशा की ओर होता है, उसको ऊर्ध्ववायु से सवोधित किया जाता है। अन्य विभाग शरीर के अधोभाग की ओर प्रवाहित होता है, उसकी अधोवायु की सज्ञा बनती है। ऊर्ध्व और अधोवायु की दिशा से भिन्न, विभिन्न दिशाओ मे शरीर के अवयवो से पैदा होने वाली वायु, व्यान वायु के नाम से अभिहित होती है। इस प्रकार योग पद्धत्ति के अनुसार पाँच प्रकार की वायु शरीर के आन्तरिक अवयवो मे व्याप्त होकर रही हुई है। शरीर मे जहाँ कही भी सपीडा का अनुभव होता है, वह अनुभव वहुलता से वायुवेग के अवरुद्धन से बनता है। यह अवरुद्धन व्यक्ति के व्यवस्थित क्रिया-कलापो के अभाव मे वनता है। इस वायु सस्थान एव वायु विभागो को किस प्रकार व्यवस्थित रखना आदि का सही विज्ञान नही कर पाने से वायु की व्यवस्था विगडती है एव अस्त-व्यस्त-सी बन जाती है। अधिक विकृत हो जाने पर सारा शरीर का ढाँचा ही नही, अपितु समग्र जीवन की नौका दोलायमान होती हुई प्रकपित-सी बन जाती है। मानव अन्य प्राणियो की तरह एक दृष्टि से यन्त्रवत पैदा होता है और यन्त्रवत ही जीता रहता है। वाह्य अवयवो को सँवारता शृङ्गारता रहता है। उनको व्यवस्थित एव सुन्दर बनाने मे अधिकाश समय एव शक्ति का व्यय करता रहता है, परन्तु यह नही जान पाता कि इस शरीर के वाह्य अवयवो की सुन्दरता-सुव्यवस्था आदि प्रक्रियाएँ भीतरी वायु सस्थान पर विशेष निर्भर करती हैं। जिस अग-प्रत्यग पर इन्सान सुन्दरता का अनुभव करता हुआ, उसी के लिए समग्र जीवन की समर्पणा के साथ-साथ अपने आपको अच्छा मानने मे फूला नही समाता, उसी अग की भीतरी सस्थान वाली वायु के प्रकुपित होने पर कुछ ही क्षणो मे अग-प्रत्यंगो की सुन्दरता, भव्यता—वदरूप एव विकीर्ण-सी होने लगती है। यह बात हर

व्यक्ति के अनुभवगम्य भी वन सकती है, पर कव ? जवकि व्यक्ति का ध्यान उस ओर आकर्षित हो। व्यक्ति तो ऊपरी चाकचक्य एव रूप-रग को सजाने के साथ-साथ पुष्ट एव सुन्दर वनने की तीव्र अभिलाषा से अधिक पदार्थ भी उदरस्थ करने की चेष्टा करता रहता है। इतना भी नही सोच पाता है कि इस रसना के अधीन होकर अधिक स्वादिष्ट एव गरिष्ठ पदार्थों को उदरस्थ कर रहा हूँ, किन्तु इन पदार्थों के पचने मे कितना समय लग सकता है ? समय का भी विज्ञान नही होने से पूर्व के खाये पदार्थ पूरे पच ही नही पाते, कि पुन· अन्य पदार्थों को ग्रहण करने मे तन्मय वन जाता है। परिणाम यह होता है कि अन्दर के अवयवो की शक्ति से अधिक भार उदरस्थ हो जाने से अवयवो का सचालन व्यवस्थित नही हो पाता। ऐसी स्थिति मे वायुवाहक नाडियाँ वायु के वेग को वढाने मे अधिक सक्रिय वनने की चेष्टा करती है और कुछ क्लान्त हो जाती हैं परिणामत वायु का सतुलन पूरा नही रह पाता। उदर मे गये हुए पदार्थ सडने लगते हैं। उस सडान्ध की दुर्गन्ध से समग्र वायु सस्थान मे दूषणता व्याप्त हो जाती है। वह दूषित वायु जीवन के प्रत्येक अवयव के लिये अहितकर सावित होती है। वेचैनी वढ जाती है। योग साधना तो दूर रहो, अन्य व्यावहारिक कार्य मे भी उसकी शक्ति नही लग पाती। वह शरीर की इस स्थिति से ऊव कर डॉक्टरो एव वैद्यो की शरण मे जाता है। उनमे भी सही मार्गदर्शन प्रदान करने वाले वैद्य एव डॉक्टर विरले ही होते हैं। अर्थोपार्जन करने वाले डॉक्टर एव अन्य चिकित्सक तीक्ष्ण व पॉइजनमय औषधियो का प्रयोग करने लगते है। परिणामत सवेदनशील-ज्ञानतन्तु क्षत-विक्षत एव अव्यवस्थित हो जाने से दु ख की सवेदना सही तरीके से नही हो पाती। पहले की वेदना मे अन्तर पड जाने से व्यक्ति को भ्रान्ति हो जाती है कि इन औषधियो से मेरा स्वास्थ्य ठीक हो रहा है। वस्तुत स्वास्थ्य ठीक होने के वजाय विकृति की ओर वढ जाता है एव विना सोचे समझे अत्यधिक औषधियो के प्रयोग से व्यक्ति जीवन-शक्तियो को भी शनै शनै नष्ट कर वैठता है। वर्तमान जीवन की जो सुखद जीवन शक्ति है, उसका भी अनुभव नही कर पाता, तो फिर आध्यात्मिक साधना तथा योग सम्बन्धी उपलब्धियो के साथ-साथ होने वाली सुख-शाति की अवस्था समीप ही नही आ पाती। यह वहुत वडी दुर्व्यवस्था जीवन विज्ञान के अभाव मे प्राणी वर्ग मे पायी जा रही है। इस दुर्व्यवस्था का सम्यक् समाधान योग पद्धति के माध्यम से भव्य तरीके से वन सकता है। वह भी कव ? जवकि इस जीवन मे सवसे अधिक महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व का मूल्याकन किया जाय और सहायक तत्त्व की प्रणाली को उससे सम्वन्धित जातीय-विजातीय स्वरूप को विधिवत परिमार्जित करता हुआ चले और उस महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व की सुव्यवस्था एव अशुद्धिकारक तत्त्वो को प्रविष्ट नही होने दे, अपितु उसकी कार्य प्रणाली को व्यवस्थित वनाने के लिये इसी प्रकार की प्रक्रियाएँ दैनिक जीवन मे आवे तथा सच्ची क्षुधा लगे तभी अन्न ग्रहण करे। सही प्यास की

स्थिति मे पानी व अन्य तत्त्वो का अनुपान करे। अन्दर उत्पन्न होने वाली सड़ान्ध को उपवास आदि व्रतो के माध्यम से अन्दर के अवयवो को ही निष्कासित करने मे सहायक वनाया जाय। जिह्वा एव शरीर की बाह्य आकृति पर आसक्ति की दशा हटाकर उस महत्त्वपूर्ण सहायक तत्त्व को व्यवस्थित एव शुद्ध रखने से अधिक से अधिक प्राण वायु का सग्रहण एव उसी प्राण वायु की सवारी पर भीतरी मुख्यतया पञ्च वायुओ का सकेत मिलता है, उन वायुओ को प्राण वायु से प्रक्षालित करते रहने से वायुतन्त्र पर व्यक्ति का आधिपत्य भव्य तरीके से हो सकता है। इस आधिपत्य के साथ प्रत्येक अग-प्रत्यग मे पहुँचाने वाली प्राण वायु को जीवन के महत्त्वपूर्ण अग-प्राणो से साधक सपर्क साधे। जब इस प्रकार की यात्रा से प्राणो के साथ सपर्क सध जाता है तो उस साधक का सूक्ष्म परिधि के समीप पहुँचना सभव हो सकता है। अग्रिम यात्रा के स्थल सूक्ष्म एव सूक्ष्मतम अवस्थान तथा इनके अन्तर्गत विविध विचित्र उलझनो के सुगम वन जाने का वहुत वडा अवसर प्राप्त हो जाता है।

अन्ततोगत्वा सत्चित् आनन्दघन के समीप उपस्थित होने का अपूर्व अवसर समुपलब्ध होने का अवसर प्राप्त हो सकता है। अतएव शरीर के समग्र अवयवो की अपेक्षा श्वास-प्रश्वास सम्बन्धी जो प्रक्रियाएँ है उन प्रक्रियाओ मे जो अन्य सहायक अवस्थाएँ हैं उन सभी का ध्यान रखता हुआ साधक श्वास प्रणालिका को अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दे और जीवन मे इसी का विशेष मूल्याकन करता हुआ अन्य साधनो के साथ अपनी आध्यात्मिक साधना का पुरुषार्थ प्रबल बनावे, जिससे अगले पडावो-आयामो की समीचीन विज्ञप्ति हो सकती है।

श्वासानुसन्धान

श्वास-प्रश्वास आन्तरिक क्रिया तन्त्र का एक काटा मापकयत्र (तराजू) है। पैट्रोल की टकी के काटे मे पैट्रोल की न्यूनाधिक मात्रा का सकेत मिलता है, वैसे ही जीवन से सम्बन्धित समग्र क्रिया-कलापो का सकेत श्वास की गतिविधि से जाना जा सकता है। भीतर के क्रिया-कलाप एक दृष्टि से विशाल कारखाने के क्रिया-कलाप के तुल्य है। विशाल कारखाने मे आवश्यक छोटे से छोटे तार का अवरुधन होने पर सारी मशीनरी मे उसका प्रभाव होता। वैसे ही शरीर अवस्थान मे होने वाली सूक्ष्म व स्थूल क्रिया-कलापो के वीच मे किसी भी सूक्ष्म नाडी के क्रियातन्त्र का अवरोध आने पर उस रुकावट का समग्र शरीर सबधी क्रिया-कलापो पर प्रभाव पडता है। उसकी सूचना श्वास प्रणालिका से मिल सकती है। अतएव श्वास-प्रश्वास के विज्ञान को, भलीभाति जानकर इस प्रणाली के माध्यम से क्रियाओ की गतिविधि को एव अवरोध के कारणो को जाना जा सकता है तथा उन कारणो को व्यवस्थित करने का ज्ञान भी पाया जा सकता है। क्रिया कलापो का असर जैसे श्वास प्रणालिका के माध्यम से जाना जा

सकता है, वैसे ही मानसतत्र से सम्वन्वित भावोर्मियो का भी असर श्वास के माध्यम मे अभिव्यक्त होता है। किस व्यक्ति के कौन से भाव ज्ञान सेन्टर मे होते हुए क्रिया सेन्टर के माध्यम से मानसतत्र को झकृत करते हुए शरीर के क्रिया-कलापो को प्रभावित करते हैं, वह प्रभाव भी श्वास विज्ञान की परिधि मे आ जाता है। मलिन भावो का प्रभाव शरीर के आन्तरिक अवस्थानो पर व्याप्त हो जाता है। उन भावो ने सभी तन्त्रो पर अपना प्रभाव डाला, इसी प्रभाव से भीतर मे घुटन वनने लगी। इस वक्त श्वास विविज्ञ साधक इस भाव के प्रभाव को तत्क्षण न्यून करने की कला का प्रयोग करे तो इन भावो का वह प्रभाव नासिका के माध्यम से वाहर फेका जा सकता है और इस भाव के प्रतिकूल शुभ भाव से सम्वन्वित वायु को भीतर प्रवेश देने पर अशुभ भाव के प्रभाव के स्थान पर शुभ भाव का प्रभाव व्याप्त हो सकता है।

गन्दगी से परिपूर्ण सडे गले पानी को टूटी (पम्प, नालिका) के माध्यम से वाहर फेकने पर टकी मे नये पानी का प्रवेश कराया जा सकता है और उस स्वच्छ पानी से टकी की गन्दगी को धोकर स्वच्छ पानी की सुगन्ध से सम्पन्न वनाया जा सकता है। इस एक देशीय रूपक से साधक मलिन भावों को श्वास की टूटी से वाहर करने पर स्वच्छ भाव से भीतरी टकी को स्वच्छ वनाने का प्रयत्न सावधानीपूर्वक यथासमय करता रहे तो उसकी साधना दिन प्रतिदिन निखरती हुई अभीप्ट लक्ष्य के समीप पहुँच सकती है।

उदाहरण के तौर पर क्रोध के भाव, यदि भीतर मे उमड रहे हो, तो उस समय साधक क्रोध के भावो मे उलझ कर वाणी व शरीर के अन्य अवयवो से वाहर प्रकट न करे। अपितु श्वास विधि के माध्यम से शात-प्रशात श्वास वर्गणा के स्कन्धो को भीतर मे खीचे, जितना खीचा जा सके, एक-दो सैकड श्वास का भीतरी कुम्भक करे और फिर लयवद्ध भीतरी श्वास को वाहर फेंकने की चेष्टा करे, ऐसा कुछ वक्त करने पर क्रोध का प्रभाव सफलीभूत न होता हुआ वाहर निकल जायेगा। शात वर्गणाओ से सम्वन्धित श्वास-प्रश्वास वर्गणा का वार-वार भीतर मे प्रवेश पाने से कपाय क्रोध सम्वन्धी दुर्गन्ध समाप्त होती हुई-सी लगने लगेगी। यही प्रक्रिया काम गन्दगी को निष्कासित करने वाली एव निष्काम वृत्ति के भव्य प्रभाव वाली वन सकती है। यही वात शरीर मे व्याप्त गन्दगी को समाप्त करने मे सहायक वनती है। क्योकि शारीरिक गन्दगी का एव काम-क्रोध की गन्दगी का कभी-कभी निमित्त-नैमित्तिक सम्वन्ध पाया जाता है। भीतर के क्रिया-कलापो के अस्त-व्यस्त होने पर भीतर मे दुर्गन्ध व्याप्त होती है। दुर्गन्ध का प्रभाव नियन्त्रण केन्द्र पर पड़ता है। नियन्त्रण केन्द्र जैसे ही शिथिल वना नही, कि काम क्रोध का प्रभाव प्रकट होने लगता है और इस प्रभाव के निमित्त भीतरीय सड़ान्ध वढने लगती है। यही क्रम निरन्तर वहुत समय तक चलता रहे तो व्यक्ति का समग्र जीवन दोनो प्रकार की गदगियो

से ओत-प्रोत वन जाता है। इस प्रकार उभय गन्दगियो की सघनता सिर्फ श्वास-तत्र से ही समाप्त नही की जा सकती, वरन् श्वासतत्र के साथ-साथ तपश्तत्र को सक्रिय करना भी अपेक्षित रहता है। यत्किंचित् हठवल के साथ भी तपश्तत्र को सम्वल देकर निराहार अवस्था की वृत्ति मे ढाल देता है तो एक दिवसीय, द्विदिवसीय एव त्रिदिवसीय उपवासवृत्ति से भीतर की दुर्गन्ध भीतर मे समाहित हो जाती है एव आहारतत्र को सक्रिय वनाने के साथ ही अवशेष गन्दगी को वाहर निकालने मे निमित्त भूत विरेचक पदार्थ ग्रहण करने पर अवशेष गन्दगी अधोवायु के माध्यम से वाहर निकालने मे श्वासतन्त्र आदि आन्तरिक वायु सस्थान सक्रिय वन जाते है। प्रारम्भिक विरेचक पदार्थो के अनन्तर सुपाच्य एव सात्विक पदार्थो का ग्रहण एव पाचकतत्र से सम्वन्धित अवयवो का, सुनियोजन करने पर उस गन्दगी के बदले मे उसके प्रतिपक्षी वायुमण्डल का भाव भीतर के समस्त क्रियातन्त्रो पर होने लगता है। परिणामत नियन्त्रण केन्द्र के सवल वन जाने से नये रूप मे सेन्टरो मे आने वाली गन्दगी सहसा वाहर नही आ सकती, उस समय यदि साधक सावधान रहे और सुपाच्य पदार्थों का नियमित एव सीमित सेवन करे तो विवेक तन्त्र के माध्यम से भीतर के अवस्थानो से उभर कर आने वाली काम क्रोधादि की वृत्ति को रूपान्तरित कर सकता है। इसी प्रकार की प्रक्रिया से सावधानीपूर्वक लम्वे समय तक ध्यान का प्रवाह वना लेने से साधक सूक्ष्म परिधि के समीप से होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनो का सृष्टा-निर्माता के रूप मे स्वतन्त्रता साध सकता है।

प्रवलतम शक्ति-सकल्प

इस त्रिआयामी साधना मे सवसे प्रवलतम शक्ति है—सकल्प की। सकल्प जितना प्राणवान होगा, साधना भी उतनी ही सप्राण होगी। चूँकि सकल्प का सम्वन्ध स्थूल शरीर से कम, सूक्ष्म शरीर से अधिक है, और वह सस्कारात्मक सूक्ष्म शरीर, जिसमे कि सूक्ष्म वृत्तियो के भी सस्कार हैं, आज से नही अनादि अनन्त से चेतना के साथ सम्वन्धित है। अज्ञानता के कारण इसे चेतना ने निज भाव मान लिया। वस, यही भूल अनन्त काल से चेतन सत्ता को परेशान कर रही है। चूँकि भूल अनन्त काल की है, अत उसका परिमार्जन सहसा कुछ ही क्षणो मे अथवा वर्षो मे हो जाय, कम सम्भव है। इसके लिए अनेक जन्मो की साधना होमनी पडती है। जिन महान् चेतनाओ ने विकारी वृत्तियो पर विजय प्राप्त की, उन्होने भी अनेक जन्मो की साधना के द्वारा ही। हमें भले ही वह अन्तिम जन्म ही ऐसा लगता है कि इसी जन्म में इन महापुरुष ने आत्म साक्षात्कार कर मुक्ति प्राप्त की है, किन्तु वह होता है अनेक पूर्व जन्मो की साधना के द्वारा ही। हाँ, अपवाद स्वरूप किसी आत्मा की भव स्थिति का परिपाक त्वरित हो जाय तो अलग वात है।

अस्तु, यह उत्साहपूर्ण सकल्प सदा बना रहे कि इस जन्म में नहीं तो आगामी जन्म में ही, मैं अपने लक्ष्य को सिद्ध कर लूँगा। यदि संकल्प-सप्राण है तो वह विकारी वृत्तियो को परास्त कर लोकालोक के साक्षात्कर्ता सिद्ध-स्वरूप को प्राप्त करके ही दम लेता है।

इतने दृढ सकल्पनात्मक सस्कार जब सूक्ष्म शरीर में सयुक्त हो जाते हैं तो वे सस्कार जन्म-जन्मान्तर तक अनुगामी होते हैं। फलस्वरूप उनकी शक्ति आगामी जन्मो मे भी अध्यात्म ऊर्जा को सम्बल प्रदान करती है। वह बलवती प्रेरणा एक दिन सूक्ष्मतम शरीर के मूल को ही उखाड फेंकती है और परमसिद्धि का द्वार उद्घाटित हो जाता है।

शक्ति का एक और स्रोत–सद्विचार

तीव्रतम सकल्प के साथ इस साधना में एक दूसरी शक्ति और अपेक्षित होगी, वह होगी सद्विचार की। केवल सकल्प तब तक निष्क्रिय होता है जब तक की उसकी सम्पुष्टि का वातावरण नही बनाया जाय। सम्पूर्ण जीवन विलासपूर्ण वातावरण से परिवेष्टित हो और हम अध्यात्म के सकल्पो को दोहराते चले जाएँ तो वे सकल्प कभी लक्ष्य-सिद्धि तक नही पहुँचाएँगे। अत. सकल्प साधना के साथ सद्विचारो के वायुमण्डल का निर्माण अथवा यो कहे सकल्प नगर की सुरक्षा हेतु पवित्र विचारो की चारदीवारी की नितान्त आवश्यकता है।

जैन दर्शन की किंवा कर्म सिद्धान्त की यह ध्रुव मान्यता है कि विचारो के अनुसार ही जीवन का सर्जन होता है, यही नही वर्तमान के विचार ही भविष्य के जीवन की रूपरेखा निर्मित करते हैं। अत· इस सन्दर्भ मे भी विचारो का महत्त्व बढ़ जाता है कि वे ही आगामी जीवन की नीव खडी करते हैं। भावनाएँ विचार अप्रशस्त हैं तो जीवन अप्रशस्तता की ओर गतिशील होगा और आगामी जीवन भी तदनुरूप ही प्राप्त होगा। इसके विपरीत प्रशस्त विचारो के द्वारा वर्तमान एव अनागत दोनो को समुज्ज्वल बनाया जा सकता है। "यादृशी भावनायस्य सिद्धिर्भवति तादृशी" की सूक्ति यही आकर सार्थक होती है।

ध्यान साधना के परिप्रेक्ष्य मे विशुद्धतम विचारो का प्रभाव सूक्ष्म एवं सूक्ष्मतम शरीर पर अकित होगा। यदि आगामी जन्म का आयुष्य बन्ध उन विचारो मे हो गया तो सूक्ष्मतम शरीर से अनुबन्धित वे विचार हमारे भविष्य को अर्थात् आगामी जन्म को भव्यता प्रदान करेंगे। साधनानुकूल वातावरण, आर्य क्षेत्र, सुकुल, निरोगी तन एव अध्यात्म संयोगो की प्राप्ति होगी, जिसके

माध्यम से पुन· साधना का मार्ग प्रशस्त होगा और अव्याबाध आनन्द के द्वार तक पहुँचा जा सकेगा ।

सत्सकल्प एव सद्विचार की ऊर्जा के द्वारा साधना की गहराई मे उतरते हुए साधक का यही प्रयास होना चाहिये कि मैं अविलम्ब अपने गन्तव्य पथ की ओर बढता हुआ अचल सिद्धि स्थान का वरण करूँ । इस दृढ सकल्प मे सशय को कदापि अवकाश नही दूँगा । अटल निष्ठा का सम्बल मेरे साथ होगा । कोई भी व्यवधान मुझे बाधित नही कर सकेगे । मेरे विशुद्ध एव मगल विचार तथा सकल्प अवश्य यथार्थ के धरातल पर फलवान होगे ।

समीक्षण की पूर्णता—समता

समीक्षण ध्यान की परिपूर्णता हेतु तृतीय आयाम मे निर्धारित भविष्य के सकल्पो मे समता का सकल्प भी नितान्त अपेक्षित है । क्योकि साधक-चित्त की सर्जना का प्रथम सूत्र होगा—समता । समग्र साधना का मूल सेतु है—समता । जब तक समता को साधना के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप मे स्थिर नही किया जाएगा, साधना सफल नही हो सकेगी । अन्त प्रवेश एक काल्पनिक उडान मात्र बनकर रह जाएगा । वैषम्य की ज्वालाएँ सुलगती रहेगी और उसमे साधना का पल्लवन असम्भव ही होगा । अतः साधना, चाहे वह किसी भी प्रकार की हो, उसका मूल समत्व को ही स्वीकारना होगा । सम्पूर्ण जीवनी शक्ति का समर्पण समता के लिए होगा । समता को अध्यात्म की प्राण ऊर्जा मानकर उसी के सवर्धन का सकल्प करना होगा और तभी साधना भी प्राणवान बन सकेगी ।

यह हो सकता है कि समत्व योग की चरम उपलब्धि सहसा नही होगी, तथापि उसके प्रति आस्था का अकुरण एक रोज विशाल वृक्ष का रूप ले सकता है और मधुर फलो का प्रदाता भी बन सकता है । समता के अभाव मे की जाने वाली साधना विराधना की कोटि मे समाविष्ट होती है । और इसके विपरीत स्वल्प मात्र भी समतापूर्ण साधना लक्ष्य को उजागर करेगी तथा एक-न-एक दिन परम साम्य के द्वार को उद्घाटित करेगी ही ।

अत साधक चित्त के लिए यह आवश्यक है कि विषमता के बीज आत्म चेतना पर अकुरित हो इसके पूर्व ही अपनी समस्त वृत्तियो को समता साधना मे नियोजित कर दे ताकि साधना मे निराबाध गति हो सके । यह सम्भव है कि समत्व साधना से विचलित करने को भी अनेक तूफान उठ खडे होगे, आँधियो के थपेड़े लगेंगे । क्योकि आँधी और तूफान के लिए सभी दिशायें खुली है—द्रव्य और भाव । किस दिशा से आँधी आएगी और कितना सशक्त तूफान उठेगा, कह पाना कठिन है । किन्तु, यदि हमारा समत्व का आसन सुदृढ है तो

वे आँधी-तूफान अकिंचित्कर होकर रह जाएँगे। अत समत्व साधना एवं समीक्षण ध्यान का आपस मे गहनतम सम्बन्ध है। किसी अपेक्षा से समीक्षण ध्यान को हम समता-साधना भी कह सकते है।

इसे कुछ और स्पष्ट कर ले—जिस देह से मृत्पिण्ड मे सर्वशक्तिमान् चैतन्य अपनी समग्र शक्तियो को सगोपित कर रह रहा है, उसके अनेक द्वार हैं—द्रव्य एव भाव। उन द्वारो से विशेषकर काम-क्रोधादि भाव द्वारो मे से किसी भी द्वार से समता साधना के बाधक तत्त्वो का प्रवेश सम्भव है। अन्तर की चेतना शक्ति विवेक, दीपक के साथ जागृत नही रही एव आने वाले बाधक तत्त्वो का परिज्ञान नही हो सका तो वे तत्त्व अनादि से आसन जमाए उन मलिन वृत्तियो को उद्दीप्त करेंगे और यत्किंचित् विकसित समता-साधना के अकुरो को नोच कर ध्वस्त कर देंगे। अत समीक्षण ध्यान की इस प्रक्रिया मे समता की साधना के लिए विवेकपूर्ण सतत जागरण की अपेक्षा है।

साधक चित्त साधना का निस्यन्द पान कर रहा है, उसकी आत्मलीनता वढ रही है और इधर कोई कटु शब्द कर्णगोचर हुआ। यद्यपि कटु शब्द का प्रयोग विषमता की मनोभूमि से हुआ, किन्तु उसने साधक की समता धारा को आन्दोलित कर दिया। उसके ज्ञान केन्द्र को विपथगामी-विषम चिंतन के लिए बाध्य कर दिया। ज्ञान सेन्टर ने क्रिया केन्द्र को सूचित किया और प्रतिक्रिया मे साधक की चेतना आन्दोलित हो उठी। शरीर के सभी केन्द्र प्रकम्पित हो गए। बस, यही से समता-साधना मे स्खलन हुआ। द्रव्य मन के द्वारा भाषा के परमाणुओ के ग्रहण ने इतना गजब ढहा दिया। वर्षों की साधना मे एक बहुत बडा व्यवधान उपस्थित हो गया। दुष्ट शब्दो की एक सामान्य-सी क्रिया ने भयकर प्रतिक्रिया का रूप ले लिया।

समीक्षण ध्यान-साधक के लिए यहाँ इतना ही चिन्तन अपेक्षित है कि अच्छे-बुरे सभी शब्दो के प्रति उसकी विवेक पूर्ण समत्व प्रज्ञा जागृत रहे। उसका ज्ञान सेन्टर (केन्द्र) इतना जागृत हो कि अपने हिताहित का त्वरित निर्णय कर सके। प्रतिकार की भावना उसके द्रव्य मन को आन्दोलित अथवा उद्वेलित नही कर सके। सामान्य-सी जागृति उसे आत्मस्थ बने रहने मे सहयोगी बन जाएगी और बाहर की कोई भी क्रिया उसे विचलित नही कर पाएगी, वनिस्पत वह अपशब्द की क्रिया उसके साधक-चित्त को परीक्षण के रूप मे और अधिक साधना का सम्बल प्रदान करेगी। अतएव समीक्षण ध्यान साधक के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि अपने ज्ञान केन्द्र पर समत्व एव विवेक-दीपक का प्रकाश अनुभव करता रहे।

अपशब्दो के समान ही अन्य इन्द्रियो के विषय भी मन को आन्दोलित-उद्वेलित कर सकते है, अपितु करते रहते है। इसी प्रकार इन्द्रियातीत विषय

भी पूर्व द्रष्ट श्रुत आदि, साधक चित्त को विकेन्द्रित करने का प्रयास करते हैं, जिन्हे साधक सहसा पहचान भी नही पाता है। किन्तु वहाँ भी समीक्षण ध्यान के माध्यम से समत्व का साधक उन विषयो से अपने को असम्पृक्त रखता हुआ ध्यान की गहराई मे उतरता चला जाय, अपने अभ्यास क्रम को निरन्तर सत्कार पूर्वक बढाते हुए अत्यन्त सूक्ष्मतम वृत्तियो का सम्यग्वलोकन करने की क्षमता अर्जित होने के पश्चात् स्थूल एव सूक्ष्म सभी वृत्तियाँ अकिञ्चित् कर बन जाएगी और साधक अपने इष्ट लक्ष्य का द्रष्टा बन जाएगा। समस्त विकार वृत्तियाँ नदियो के समुद्र मे मिल जाने के समान समीक्षण ध्यान के द्वारा समत्व के महासागर मे विलीन होकर समता भाव से रूपान्तरित हो जाएगी और यही आकर समीक्षरण ध्यान अपनी पूर्णता को प्राप्त होगा। चेतना अपने अलौकिक, अनिर्वचनीय, सत्चित् आनन्द घन स्वरूप मे प्रतिष्ठित होगी।

उपसहार

हमारी साधना तीन आयामो के रूप मे प्रारम्भ हुई। मन शोधन एव मनोनियन्त्रण से गुजरती हुई यह साधना पूर्णत आत्म सयम और तद् द्वारा चरम एव परम शान्ति तक पहुँच कर विश्रान्ति लेती है। अतीत के स्मरण के द्वारा साधक विगत कालीन कलुषित वृत्तियो के चिन्तन एव शोधन का कार्य करता है। आदर्श के द्वितीय चरण मे लक्ष्य की स्मृति उसे परमात्म भाव के साथ तादात्म्य स्थापित करने की प्रेरणा देती है तो अनागत का चिन्तन विशुद्धतम मन स्थिति के सृजन का कार्य करता है। इस सबके लिये हमने सकल्प की शक्ति, वातावरण की विशुद्धि, समय की नियमितता एव विचार विशुद्धि को सहयोगी अगो के रूप मे स्वीकार किया है।

यह स्मरण रहे कि साधना मे सफलता के लिये सबसे पहली आवश्यकता है प्यास की। जितनी तीव्र प्यास होगी, प्रयोग के प्रति अभिरुचि भी उतनी ही तीव्र होगी और पूर्ण अभिरुचि युक्त प्यास के साथ किया जाने वाला कार्य सफलता की मजिल का वरण अवश्यमेव करता है।[1]

अन्त मे यही सकेत पर्याप्त होगा कि हमारा यह प्रतिपादन केवल विचार तक ही सीमित नही रह जाए। इसे प्रयोगात्मक रूप से जीवन मे आत्मसात्

---

१ यहाँ इतना और स्पष्ट करलें कि उद्देश्य की दृष्टि से परिपूर्णता का प्रतिपादन करने पर भी यह विधिक्रम एक वर्ष के अभ्यास का विधिक्रम है। वर्ष भर की साधना के उपरान्त साधक को आगे के मार्ग-दर्शन अपेक्षित होंगे। क्योंकि वार्षिक साधना मे साधक के जीवन मे कहाँ-कहाँ व्यवधान उपस्थित हुए, वह कितना आगे बढा, यह सब जान लेने के उपरान्त ही साधना के अगले चरण मे प्रवेश सुलभ हो सकता है। किन्तु यह भी इस निम्नगामी साधना मे पूर्णत गति होने के पश्चात् ही।

किया जाय । इसके प्रत्येक चरण मे सजगतापूर्वक समर्पण की भावना निर्मित हो और वह यथार्थ रूप मे परिणित हो तो मन· शान्ति एव आत्म-शान्ति के द्वार सहजतया खुल सकते हैं । वहुधा होता यह है कि आम व्यक्ति साधना की शव्दात्मक चर्चा कर लेते हैं, किन्तु उसे जीवन मे प्रेक्टिकल रूप देते समय लाख वहाने खोज लेते हैं । परिणामत. वह साधना शव्द-विलास वन कर रह जाती है । साधना का तो अर्थ ही यह है कि उसके द्वारा जीवन मे अन्तर-वाह्य उभयमुखी रूपान्तरण घटित हो, साधक साध्य के निकटतम होता चला जाय ।

यह सव होगा उपर्युक्त प्रयोग-विधि को जीवन मे आत्मसात् करने से । सभी प्रकार के तनावो से मुक्ति के साथ ही जीवन में एक सशक्त रूपान्तरण होगा, आत्म द्रष्टा भाव का जागरण होगा और होगा आत्म देव का दर्शन । सतत सावधान होकर सत्कार पूर्वक प्रयोग करें, सफलता आपके चरण चूमेगी ।

• • •

प्रवचन-
मीमांसा

प्रवचन-मीमांसा

वाणी की सरस एव स्पष्ट अभिव्यजना, जो श्रोता के हृदय को मत्र-कीलित-सा भावाभिभूत कर दे, प्रवचन सज्ञा से अभिसज्ञित होनी चाहिये। वचन, प्रवचन तभी बनता है, जब वह अन्तश्चेतना से उत्स्फूर्त हो, सम्मुखासीन श्रवणकर्ता की हृतत्री को झकृत कर दे। इस गुण के अभाव में वह वचन, प्रवचन नही, वाग्वैदग्ध्य ही कहला सकता है।

सृष्टि के समस्त चराचर प्राणियो मे मानवीय तन ही ऐसा तन है, जिसमें प्रवचन की सामर्थ्य है। पशु की अपनी भाषा है, वाणी की अभिव्यजना है, किन्तु उसकी यह भावाभिव्यजना प्रवचन की सज्ञा नही पा सकती है। पशु ही नही, मानवीय वपुधारी अनेक व्यक्तियो मे भी वचन-प्रावीण्य वाणी वैदग्ध्य रूप मे ही पाया जाता है, प्रवचन-पटुता के रूप मे नही। वाक्पटु बनकर अनवरत कुछ-न-कुछ बोलते रहना प्रवचन नही, शक्ति का अपव्यय ही हो सकता है। वचन जहाँ श्रोताओ के प्रति सार्थक होता है, वही वह प्रवचन की परिधि मे प्रवेश पाता है। थोडा और स्पष्ट करें तो वचन मे जहाँ चुम्बकीय आकर्षण का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ वह प्रवचन की सज्ञा ले लेता है, तथा "प्रकर्षेण उच्यते इति प्रवचनम्" वाली निर्युक्ति सार्थक बनती है।

प्रवचन वाक्शक्ति का एक अद्भुत चमत्कार होता है। किन्तु प्रवक्ता की अन्तर्भूमिका के आधार पर ही वह सशक्त एव प्रभावी हो सकता है। अत: महत्ता प्रवचन की नही, प्रवक्ता (प्रवचनकर्ता) की है। वचन अथवा शब्द तो अपने आप मे भाषा वर्गणा के पर्याय जड मात्र होते हैं। उनमे स्वत अभिव्यक्त होने की सामर्थ्य कहाँ है? वे तो प्रवक्ता की चेतना-भूमि का स्पर्श पाकर ही सजीव बन पाते है। अत· जैसे वाक्शक्ति की सार्थकता प्रवचन मे निहित है वैसे ही प्रवचन की सार्थकता प्रवक्ता पर अवलम्बित है।

प्रवचनकार अपनी नूतन बात कुछ भी नही कहता है। सदियो से चले आ रहे विचार-प्रवाह को ही वह नव्य-भव्य शैली मे ढालकर तथा नया शाब्दिक परिवेश पहनाकर उसे युगानुकूल रूप देता है। जिस अनुभूति से हम गुजर रहे हैं, उसी अनुभूति-पथ से सख्यातीत आत्माएँ गुजर चुकी हैं तथा जिस शब्द शृ खला मे हम अपने भावो को आवद्ध कर रहे है, उन्ही शब्दो का सचिमुत

प्रयोग अगणित चेतनाएँ कर चुकी हैं। ऐसी स्थिति मे कोई भी व्यक्ति नूतनता का सृष्टा नही, पुरातन का द्रष्टा ही बन पाता है। विश्व कवि खलील जिब्रान के शब्दो मे—"And you shall hear from us only that which you hear from yourself" अर्थात् तुम हमसे वही सब सुनोगे जो तुम अपने भीतर से सुना करते हो।

उपर्युक्त अर्थो मे हम नया कुछ भी नही सुनते हैं, न प्रवचनकर्ता कुछ नया सुनाता है। प्रवचनकर्ता जो कुछ सुनाता है, वह हमारे अतरग स्वरो से भिन्न नही होता। उसे हम जन्म-जन्मान्तर मे अगणित बार सुन चुके होते हैं, किन्तु हमारा अनुभव है कि अनेक बार हम उन सुने-सुनाए विचारो को भी किसी भाव-प्रवाही प्रवक्ता के मुँह से तल्लीन हो सुनते ही रह जाते है। कई बार प्रवचन-प्रवाह समाप्त हो जाने पर भी मन्त्र-मुग्ध हो कीलित से बैठे रह जाते हैं। यह सब क्यो होता है ?

यह सब प्रवक्ता के भाव, भाषा एवं शैली का चमत्कार अथवा जादू ही होता है, जो श्रोतृ वर्ग पर अपना अप्रतिम प्रभाव अकित कर देता है। पटु प्रवचनकर्ता भाव, भाषा व शब्दो का शिल्पी होता है। वह शब्द-सयोजना को मृदु-कोमल, कला-कलित, कर्णाभिराम सौदर्य प्रदान करता है।

सच्चा प्रवक्ता वह होता है, जो वर्तमान युगीन चेतना मे प्रेरणा प्रवाहित करता हुआ अनागत युग को आशावादिता का मधुर सदेश देता है।

यद्यपि प्रवक्ता अपने विषय-निर्धारण एव विचार के प्रस्तुतीकरण मे स्वतन्त्र एव स्वत्वाधिकारी होता है, किन्तु सिद्धवक्ता वही बन पाता है, जो श्रोतृवर्ग की मनोभूमिका समझकर तदनुकूल विषय-मर्यादा का चयन करने मे दक्ष होता है।

वैसे प्रवक्ता के अपने-अपने परिक्षेत्र होते हैं—अध्यात्मशास्त्र, राजनीति, समाज-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, प्राणिशास्त्र, इतिहास, भूगोल आदि, किन्तु प्रकृत मे चूँकि हम एक अध्यात्म-प्रवक्ता की वाणी-विवेचना प्रस्तुत करने जा रहे हैं, अत यहाँ अध्यात्म प्रवक्ता की ही कुछ मौलिक विशेषताओ पर दृक्पात करेंगे।

जैनागमो के परिशीलन से यह स्पष्ट परिज्ञान होता है कि जैन धर्म अथवा दर्शन को जैन प्रवचन—"जिण पवयण" की सज्ञा भी सम्प्राप्त हुई है। जैन दर्शन की परम्परा प्रवचन के माध्यम से ही आज तक अक्षुण्ण बनी रही है। आज जो जैन वाड्मय उपलब्ध है, वह शिष्य-प्रशिष्यानुरूप मे श्रुति-परम्परा के आधार पर ही सुरक्षित रखा जा सका है। अत प्रवक्ता किंवा प्रवचनकार का

जैन तत्त्वज्ञान की सुरक्षा मे महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जैन दर्शन मे प्रवचन का प्रारम्भ जिन-दर्शन के उद्गाता तीर्थंकर महाप्रभु की पीयूषवर्षी वाग्धारा से होता है, जो गणधरो (प्रमुख शिष्यो) के श्रुतकुण्ड मे आकर व्यवस्थित सग्रहीति का रूप लेती है तथा गणधरो के द्वारा वह श्रुति-मधुरवाणी-सरिता शिष्य-शिष्यानुरूप के माध्यम से जन-जन के शुष्क हृदय-क्षेत्र को आप्यायित कर सर-सब्ज बनाती चली जाती है। इस प्रकार जिन तत्त्वधारा के आदि प्रवचनकार तीर्थंकर तथा पारम्परिक प्रवचनकार मुनिगण होते हैं। एतदर्थमेव मुनिजीवन की दैनदिन प्रवृत्ति का एक प्रमुख अग होता है "प्रवचन"। प्रवचन के माध्यम से ही मुनिगण जन-जन के हृद्देश तक पहुँच कर उसे आर्द्रता से आप्लावित करने का प्रयास करते हैं, किन्तु प्रवचन-साधना मे नैपुण्य सहज सुलभ नही है। प्रत्येक मुनिश्रेष्ठ प्रवक्ता अथवा प्रवचनकार नही बन पाता। आगम-मन्थन एव साहित्य-साधना के साथ कुछ वैयक्तिक गुणो का विकास प्रवचन-पटुत्व के लिए नितान्त आवश्यक है। वक्तृत्वकला का सौष्ठव भी प्रवचन-प्रावीण्य मे नितान्त अपेक्षित है। पाश्चात्य विचारक शेनेका के शब्दो मे—"Speech is the index of mind" वक्तृत्व-कला विचारो का मापदण्ड है। अत वक्ता की सबसे महत्त्व-पूर्ण विशेषता होती है—अपने विचारो के प्रस्तुतीकरण की समीचीन पद्धति। इसके अतिरिक्त भी अध्यात्म प्रवचनकार मे कुछ विशेषताओ का सयोजन अनि-वार्य होता है, जिनका विवेचन जैनाचार्यों ने सविस्तार किया है।

प्रवचनकर्ता के पच्चीस गुण

चूँकि जैन दर्शन के विकास एव विस्तार मे प्रवचन की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, या यो कहे कि प्रवचन ही जैन-तत्त्व-दर्शन के व्यवस्थित विकास का आधार रहा है, अत वहाँ प्रवचनकर्ता को बहुत अधिक सचेष्ट किया गया है। जैनागमो मे आचार्य जैसे गौरवपूर्ण पद की प्रमुख विशेषताओ में वचनसम्पदा एव वाचना-सम्पदा जैसे मौलिक गुणो को अनिवार्य माना गया है। अर्थात् एक जैनाचार्य में प्रवचन एव वाचना का प्रावीण्य अत्यन्त आवश्यक है। प्रवक्ता की सामान्य-सी उपेक्षा सिद्धान्तो को गलत रूप मे अथवा मिथ्या रूप में प्रस्तुत कर सकती है। आजकल हम देखते हैं—सामान्य-सा तत्त्वज्ञान हुआ नही, कि हम अपने आपको उपदेशक की गद्दी का हकदार मान बैठते हैं, किन्तु उपदेष्टा बनना सहज नही है। एक मौलिक आध्यात्मिक उपदेष्टा को कितना सयमित एव मितभाषी होना चाहिए, इसकी कुछ गम्भीर विवेचना जैनाचार्यों द्वारा उपदेशक की निम्न पच्चीस विशेषताओ में की गई है। प्रवचनकर्ता के २५ गुण इस प्रकार हैं —

१— **दृढ श्रद्धा :** सर्वप्रथम प्रवचनकार को अपने प्रतिपाद्य विषय के प्रति दृढ आस्थावान बनना होता है। प्रवचनकर्ता स्वय संशयशील हो,

तो वह श्रोताओ मे आस्था उत्पन्न करके उन्हे श्रद्धावान् नही बना सकता ।

२— **वाचनाकला-कुशल :** वह अध्ययन-अध्यापन की कला मे निपुण हो। किसी भी आगम साहित्य का अस्खलित अध्येता हो तथा सुनाते समय भी पुन-पुन. स्खलित न हो। अत्यन्त रुक्ष विषय को भी सरस एव सुबोध बनाने मे दक्ष हो ।

३— **निश्चय-व्यवहार-विज्ञ** वह तत्त्व के नैश्चयिक एव व्यावहारिक स्वरूप का विज्ञाता हो अर्थात् वह जाने कि आगम का कौन-सा सूत्र निश्चय-नय के द्वारा प्रतिपादित किया गया है तथा कौन-सा व्यवहार-नय के द्वारा। नय-प्रतिपादना का समुचित बोध न होने पर विषय-प्रतिपादन समीचीन नही होगा। परिणामत भावुक श्रोता भ्रान्त बन सकते है तथा कई बार वक्ता स्वय असमजस मे उलझकर अनर्थ कर सकता है ।

४— **जिनाज्ञा-आराधक** वह वीतराग प्रभु की आज्ञा के प्रति अटल निष्ठावान रहते हुए सिद्धान्त-विपरीत प्ररूपणा से सदा भयभीत रहने वाला हो ।

५— **क्षमा** वक्ता को जिस विषय का प्रतिपादन करना है, उसका स्वय में अनुशीलन नितान्त आवश्यक है। यदि प्रवक्ता क्षमावान नही है, उत्तेजक प्रवृत्ति से सयुक्त है, तो वह क्षमादि धर्मांगो का सचोट प्रवचन करने मे सदा शकित रहेगा। साथ ही अपनी क्रोध वृत्ति के कारण प्रवचन मे अनुचित शब्दो का प्रयोग भी कर सकता है। अत प्रवचनकार के लिए सतत जागृति के साथ क्षमागुण-सम्पन्न होने की नितान्त अपेक्षा है ।

६— **निरभिमानता :** क्षमाशीलता की तरह ही एक उच्चकोटि के अध्यात्म-प्रवक्ता में विनम्र-वृत्ति का प्रादुर्भाव भी आवश्यक है। अपने अह में फूलने वाला व्यक्ति नूतन तत्त्वज्ञान का अधिकारी नही बन पाता। फलस्वरूप उसकी बुद्धि का विकास अवरुद्ध हो जाता है। अविकसित बुद्धि के कारण वह वास्तविक तत्त्व-निर्णय नही कर पाता और अपनी असत् प्ररूपणा पर आग्रही बना रहता है। अत प्रवक्ता का निरभिमानी होना भी एक विशेष गुण है ।

७— **निष्कपटता :** जो उपदेष्टा ऋजु अर्थात् सरल-हृदयी होगा, वही यथावत् उपदेश कर सकता है। कुटिल व्यक्ति अपनी कमजोरियो को छिपाने हेतु सत्य तथ्य को भी विपरीत रूप मे प्रस्तुत करता है।

८— **निर्लोभता** उपनिषद् का एक सूक्त है "हिरण्ययेन पात्रेण सत्य-स्यापिहित मुख"—अर्थात् जहाँ लोभ वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है, वहाँ सत्य का मुँह वन्द हो जाता है । उपदेशक यदि लोभी-लालची होगा, तो वह लोभवश नग्न सत्य नही कहकर भक्तो को प्रसन्न करने वाली वात ही कहेगा । अत उपदेष्टा का निर्लोभी होना आवश्यक है, ताकि निर्भीकतापूर्वक राजा, रक सभी को सत्य-मार्ग का पथिक बना सके ।

९— **अभिप्रायज्ञता** प्रवक्ता मे एक मनोवैज्ञानिक गुण 'अभिप्रायज्ञता" का होना भी आवश्यक है । श्रोताओ के चेहरे को पढकर वह उनके अभिप्रायो को जान ले और तदनुसार विषय का निर्धारण करे ।

१०— **धैर्य** धैर्यगुण का सयोजन प्रवक्ता को अति-उच्चता पर प्रतिष्ठित कर देता है । वह प्रत्येक विषय को धैर्य के साथ स्पष्ट करता चले ताकि वह श्रोताओ के लिए प्रभावशाली रूप से ग्रहणीय बनता चला जाय । जो भी शकाएँ हो, सदा अक्षुब्ध रहते हुए वह उनका मधुर समाधान प्रस्तुत करे ।

११— **अनाग्रही :** वह किसी भी प्रकार का मिथ्या आग्रही न हो । यदि किसी प्रश्न का समुचित समाधान तत्काल न दिया जा सके, तो आग्रही बनकर गलत राह न पकडे, प्रत्युत नम्रतापूर्वक स्पष्ट कर दे "मुझे इस प्रश्न का उत्तर ज्ञात नही ।"

१२— **निन्द्यकर्म से रहित** वह चोरी, व्यभिचार, विश्वासघात आदि निन्दनीय कर्मो से दूर रहता हो । जो स्वय सद्‌गुणी होगा, वही अप्रतिहत बनकर प्रवचन कर सकेगा ।

१३— **कुलीनता** · कुलहीन प्रवक्ता के प्रति श्रोताओ के हृदय मे सहसा श्रद्धा उत्पन्न नही होती है, फलत. श्रोता उसकी मर्यादा नही रखते और उसके वचनो का प्रभाव भी उन पर सटीक नही पडता । अत उसका कुलीन होना प्रभावकारी होता है ।

१४— **परिपूर्णांगता** वक्ता का आगिक सौन्दर्य भी श्रोताओ के लिए प्रभावी होता है अत प्रवचनकार सर्वांग-सम्पन्न होना चाहिए । अगहीन वक्ता सुशोभित नही होता ।

१५— **स्वर-माधुर्य** वक्तृत्व कला के साथ स्वर-माधुर्य का सयोजन सोने मे सुगध का कार्य करता है । वक्ता के स्वर कर्कश नही, मधुर होने चाहिए, ताकि वे प्रियकारी हो सके ।

१६– **बुद्धिमत्ता** वक्ता गम्भीर, प्रतिभावान्, बौद्धिक चातुर्यवाला होना चाहिए, ताकि उसके द्वारा सूक्ष्म विषय का भी सुबोध प्रतिपादन हो सके।

१७– **मधुर वचन** स्वर-माधुर्य के साथ ही वचन-माधुर्य भी आवश्यक है। वचन की मिठास प्रवचन मे मिश्री का कार्य करती है। मधुर तथा प्रियकारी शब्दो से श्रोतृवर्ग की प्रीति उत्पन्न होती है, फलत वे मनोयोगपूर्वक प्रवचन सुनते हैं। कठोर एव कटु शब्द श्रोताओ मे क्षोभ-उत्पत्ति के कारण बन जाते हैं।

१८– **प्रभावशाली** जिसका व्यक्तित्व प्रभावशाली होता है, उसके वचन भी प्रभावोत्पादक होते है। अत प्रवचनकार का प्रभावशाली होना भी आवश्यक है।

१९– **सामर्थ्य-सम्पन्न** प्रवक्ता को सामर्थ्यशाली होना चाहिए अर्थात् प्रवचन के बीच मे बौद्धिक अथवा शारीरिक थकान नही आनी चाहिए, ताकि प्रवचन अस्खलित रूप से चल सके।

२०– **व्यापक अध्ययन** प्रवचनकार का अध्ययन सूक्ष्म, तलस्पर्शी एव पाडित्यपूर्ण होना चाहिए। उसे स्वसिद्धान्त के साथ-साथ अन्य ग्रन्थो का अध्ययन, मनन, चिंतन भी होना चाहिए, ताकि वह युक्ति-पुरस्सर विवेचना प्रस्तुत कर सके।

२१– **आत्मवेत्ता** चूँकि यहाँ मुख्यतया अध्यात्म प्रवचनकार का विश्लेषण प्रस्तुत है, अतः प्रवक्ता का आत्मा-परमात्मा सम्बन्धी अध्यात्म बोध परिपुष्ट होना चाहिए, क्योकि अध्यात्म-विद्या-आत्मज्ञान के बिना समस्तज्ञान निस्सार एव निष्प्रयोजन है।

२२– **शब्द रहस्यवेदी** जो व्यक्ति शब्दो के गूढ मार्मिक अर्थो को नही समझता है तथा अपनी भावाभिव्यक्ति मे समुचित शब्द प्रयोग नही कर पाता है, वह सुन्दर प्रवक्ता नही बन सकता। उचित शब्द-संयोजना के बिना प्रवचन प्रभावक भी नहीं हो सकता है तथा भ्रान्ति भी उत्पन्न कर सकता है। अत प्रवचनकर्ता को शब्दो के रहस्य का ज्ञाता होना चाहिए।

२३– **अर्थ-संकोच प्रवण** प्रवक्ता की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता होती है अर्थ-संकोच व अर्थ-विस्तार की क्षमता। समय की अल्पता को देखकर विस्तृत विचारो को सीमित शब्दो मे प्रतिपादित कर सकने तथा समय के आधिक्य मे अल्प मे सूत्र की भी विस्तृत विवेचना प्रस्तुत करने की योग्यता उसमे होनी चाहिए।

२४– **तर्कज्ञ** तार्किकता का बोध भी प्रवक्ता मे अति अपेक्षित है। किसी भी व्यक्ति के तर्कपूर्ण प्रश्नो का समाधान तर्क-प्रवणता के बिना युक्ति-पुरस्सर नही हो सकता। अत. प्रवक्ता को तर्कपटु होना चाहिए।

२५– **गुणयुक्तता** प्रवचनकार का सर्वतो महान् गुण है—गुणयुक्तता तथा गुण-ग्राहिता। प्रवक्ता मे प्रामाणिक, प्रतिष्ठित, प्रभावशाली तथा विश्वासपात्र बनाने वाले सभी गुणो का सयोजन होना चाहिए। गुणो के बिना उसके वचन प्रामाणिक एव सर्वमान्य नही बन सकते है।

उपर्युक्त गुणो के अतिरिक्त अन्य सद्गुणो के समुचित सयोजन से कोई भी वक्ता यथार्थत प्रवचनकार के महनीय पद का अधिकारी बन सकता है.

जादू भरे वाग्मी

यह कहा जा चुका है कि प्रवचन जैन मुनियो की दैनिक प्रवृत्तियो का एक अभिन्न अग है। वे आत्म-द्रष्टा एव अध्यात्म-प्रवक्ता होते है, किंतु प्रवचन-कला मे सभी मुनिगण प्रवण हो, यह आवश्यक नही। सभी की अपनी-अपनी मेधा एव चिन्तन-क्षमता भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। विचार अभिव्यक्ति का कौशल भी सभी का अपना अलग होता है। अतएव हम देखते है कि कुछ प्रवक्ताओ की वाणी मे जादू-सा आकर्षण होता है। हजारो मील से लोग प्रवचन-पान हेतु भागे चले आते हैं। विषय पुराना हो अथवा नया, सुनाने की कला उसमे नूतनता का सचार कर जादू उत्पन्न कर देती है।

ऐसे ही जादूभरे वाग्मी है परम श्रद्धेय आचार्य श्री नानालाल जी म० सा०। एक अध्यात्म प्रवचनकर्ता मे जिन मौलिक विशेषताओं का समायोजन अपेक्षित होता है, वे सभी पूज्य आचार्य देव की नैसर्गिक सपदा हैं। आपकी प्रवचन-शैली मे न मालूम ऐसा क्या जादू भरा आकर्षण है, कि प्राय प्रतिदिन आपके प्रवचनो मे हजारो की भीड लगी रहती है। सैकडो मील से आगत श्रोता मत्रमुग्ध से चकोरवत् प्रवचन-पान करते है। आचार्य श्री की प्रवचन-शैली अद्भुत एव विलक्षण है। सामान्य से विषय को भी आप इस अद्भुत एव विलक्षण शैली मे अभिव्यक्ति देते हैं कि श्रोता सम्मोहित हो जाते हैं। आपकी प्रवचन-शैली का चमत्कार यह है कि गभीरतम सिद्धान्त भी सुगम एव सुबोध बन जाते हैं। चूँकि आपके प्रवचनो का मुख्य विषय अध्यात्म है, अत उसमे रूक्षता का होना स्वाभाविक है। किंतु आप उस रूक्ष विषय को इतनी सचोट एव सरस अभिव्यक्ति प्रदान करते है कि सामान्य बुद्धिवाला श्रोता भी सरसता का पान करता रहता है। आपके प्रवचनो की भाषा सुबोध होते हुए भी प्राँजल, अलकृत एव ओजयुक्त होती है। वह श्रोता के मस्तिष्क पर भार नही बनती।

मधुरता एव ओजस्विता से ओत-प्रोत प्रवचन रूपको तथा लघुकथाओ से सुसज्जित एव प्राचीन आगम तथा नवीन कथा सूक्तियो से प्रमाणित होकर और अधिक प्रभावशाली वन जाते है। प्रत्येक कथा को हर बार आप इस विलक्षण पद्धति से प्रतिपादित करते हैं कि घटो तक हजारो नर-नारी मत्रमुग्ध से निश्चल एव शात वैठे रहते है। घडी की सूचिकाएँ निरन्तर आगे वढती रहती है, किन्तु श्रोता समय के अवधान को विस्मृत कर जाते हैं। आपका प्रवचन-सवधी प्रमुख अतिशय किंवा माहात्म्य है कि प्रवचन-मडप मे आपके पदार्पण करते ही, एकदम नीरवता एव निस्तब्धता छा जाती है। जन-समुदाय इस प्रकार सुस्थिर हो जाता है मानो सम्मोहित हो गया हो। यही कारण है कि ८-१० हजार की जनमेदनी मे आप अपनी साधु मर्यादा को अक्षुण्ण वनाए रखते हुए किसी ध्वनि-विस्तारक यत्र को माध्यम वनाए विना अपनी सिंह-गर्जना प्रसारित करते हैं तथा किसी श्रोता को यह शिकायत नही होती कि वह आप श्री का प्रवचन भलिभाँति नही सुन पा रहा है।

जयपुर वर्षावास का वह प्रसग स्मृति-पटल पर उभर रहा है जिसमे वहाँ के प्रतिष्ठित सज्जन श्री ज्ञानचद जी चौरडिया ने एक दीक्षा-प्रसग पर आग्रह किया—"यह जयपुर सिटी है। यहाँ की जनता पर नियत्रण पाने के लिए आप श्री को ध्वनिविस्तारक यत्र का प्रयोग करना होगा।" उस समय आपने स्पष्ट शब्दो मे कहा था, "आपके श्रोताओ को प्रसन्न करने के लिए मैं अपने नियमो को भग नही कर सकता। हाँ आप चाहे जितने श्रोता ले आए, केवल शाति वनाए रखने का कार्य कर लेना—सव तक आवाज पहुँचाने का कार्य मेरा है।" और उस समय विशाल रामलीला मैदान मे लगभग ८-१० हजार की जनमेदनी एकत्रित थी, जिसमे आप श्री ने लगभग ४५ मिनट तक प्रवचन किया। सभी श्रोताओ ने श्रवण किया। श्री ज्ञानचद जी चौरडिया प्रवचन-समाप्ति पर आचार्य श्री के समीप आकर निवेदन करने लगे—"गुरुदेव, वडी अद्-भुत शक्ति है आपमे। मैंने सभी श्रोताओ के पीछे तीनो वाजू कुछ-कुछ समय खडे रहकर प्रवचन-पान किया और आपकी आवाज पीछे तक स्पष्ट सुनाई दे रही थी।" आचार्य श्री की वाणी मे वह जादू है जो सम्पूर्ण वातावरण को सरस एव भाव-विभोर वना देता है।

आपके प्रवचन की दूसरी विशेषता है सभा-चातुर्य। श्रोताओ मे किस तत्त्व विवेचना के जिज्ञासुओं का वाहुल्य है तथा उनकी आध्यात्मिक वुभुक्षा कौन-सी खुराक चाहती है, इसे आप जन-समूह पर दृष्टिपात करते ही भाँप लेते है। पाश्चात्य दार्शनिक व्ही० मेम्युअल के शब्दो मे—Three things are needed for great oratory, not the orator only, but a great theme and a great occasion"—अर्थात् वाणी की सुन्दर एव सरस अभिव्यजना के लिए प्रवक्ता ही नही, अपितु महन् विषय एव समुचित अवसर भी अपेक्षित होता है।

श्रद्धेय आचार्य देव मे उन सभी अपेक्षाओ का सुन्दर समन्वय है, जो प्रवक्ता की महत्त्वपूर्ण भूमिका के लिए अपेक्षित है ।

यद्यपि आपके श्रोताओ की कोई बँधी हुई परम्परा नही है, तथापि धर्म-श्रद्धा-प्रवण एव दार्शनिक विचार-विमर्श-निरत श्रोताओ की समुपस्थिति आपके समक्ष प्रधानतया होती है ।

जिस समय आप दार्शनिक विमर्श मे प्रवेश करते हैं, आपकी गम्भीर दार्शनिक मुद्रा दर्शनीय होती है । आपकी वाणी चिन्तन की सहवर्तिनी बन जाती है । जीवन-दर्शन के स्पष्ट बोध को जब आप ऐतिहासिक चिन्तन-धारा से जोडना प्रारम्भ करते है तो ऐसा नही प्रतीत होता कि आप दर्शन की भिन्नताओ को प्रकाशित कर रहे हैं । प्रतीत होता है एक ही मानव-चेतना विभिन्न दृष्टि-कोणो को बीनती-बराती हुई समाधान को उजागर करती जा रही हो । उस समय आप तो केवल समग्र चिन्तन और अविभक्त काल-गरिमा के साक्षी होते हैं ।

चूँकि आचार्य श्री के विचार अनुभूतिमूलक साधना एव घोर तपस्या के निचोड है अत उनमे मौलिकता की अभिव्यक्ति रहती है । सकुचित साम्प्रदायिकता की क्षुद्र परिधि उन्हे आबद्ध नही करती । समस्त मानव जाति ही नही, प्रत्युत सपूर्ण प्राणि समुदाय के हितमार्ग, विश्वकल्याण तथा विश्वशाति की विराट भावना के स्वर उसमे मुखरित होते हैं । आचार्य श्री के दार्शनिक विचारो मे अपना स्वतन्त्र चिंतन एव विराट व्यक्तित्व स्पष्ट परिलक्षित होता है ।

निस्सदेह आचार्य श्री के उच्चकोटि के दार्शनिक विचार शाश्वत सत्य के उद्भासक एव यथार्थता के अवबोधक होते हैं । वे अपने दार्शनिक क्षेत्र मे सत्य से आप्लावित पुरातन मान्यताओ का जितना समादर करते है, उतना ही नूतन सत्य-स्पृष्ट विचारो का । उनके विचारो मे न नूतनत्व का आग्रह है और न पुरातनता का व्यामोह । उनका सर्वतोभावेन परिष्कृत दृष्टिकोण मात्र सत्य का आग्रही है । आपके दार्शनिक विचार-पक्ष, ओज, तेज, सत्य, विवेचन, सरसता एव माधुर्य से ओत-प्रोत होते है ।

आपके श्रोताओ का दूसरा वर्ग होता है धर्म श्रद्धालु भक्तो का । आपको वहाँ अपनी भाषा को अत्यन्त सरलता एव सरसता प्रदान करनी पडती है, जहाँ गूढ सैद्धातिक तत्त्वो को रूपको एव लघुकथाओ के माध्यम से सामान्य जिज्ञासु मुमुक्षुओ को हृदयगम करवाना होता है । चूँकि आपके प्रवचन का पुनीत लक्ष्य श्रमण-सस्कृति का अभ्युत्थान एव भावुक गतानुगतिक जनमानस मे शुद्ध धर्म सस्कारो का बीजारोपण करना होता है, अत आपके प्रवचन की विषय-मर्यादा धर्म भीरू भावुक जनता के अनुकूल होती है । भाषा मे सुबोध एव जीवन्त

प्रवाह होता है। आपके धार्मिक प्रवचनो की यही विशेषता है कि उनमे भाव को भाषा का मुखापेक्षी नही बनना पडता, प्रत्युत भाषा भावो की आत्मीया बन जाती है। भाषा की सज्जा के लिए भावो और विचारो को तोडना, मरोडना आचार्य श्री को अमान्य है। आपकी भाषा भावो की अनुगामिनी होती है।

धार्मिक प्रवचनो का केन्द्रीय पक्ष तो अध्यात्म होता है, किन्तु उसका परिवेश उस नैतिकता से निर्मित होता है जो उदीयमान समाज की विधायिका होती है। आपकी मान्यता है कि समाज के स्वास्थ्य के लिये जहाँ अध्यात्म की प्राण-सत्ता आवश्यक है, वही नैतिकता की नियमावली भी। जिस परिवार, समाज, ग्राम, नगर अथवा राज्य मे अनैतिकता, अनाचार एव अराजकता है, उसमे आध्यात्मिक उत्थान असभव है। अत अध्यात्म के वट वृक्ष को पल्लवित करने के लिए समाज सुधार की भूमिका का निर्माण नितान्त अपेक्षित है। अतएव आपके प्रवचन वर्तमान को स्पर्श करते हुए होते हैं। वे श्रोताओ के लिए सहज हृदयस्पर्शी होते है।

प्रथम तो रूक्ष धार्मिक विषय और दूसरा समाज का धर्म के प्रति उपेक्षा-भाव, दोनो मिलकर धार्मिक श्रोताओ की सख्या को अल्पतम करते जा रहे हैं। परन्तु आपश्री का प्रवचन इसका अपवाद है। हजारो की सख्या आपश्री के प्रवचन मे प्रतिदिन बनी रहती है। एक बार जो आपकी पीयूषवर्षी वाग्धारा का रसपान कर लेता है, वह दुबारा अपने आप चुबकीय आकर्षण से खिचा चला आता है।

आम धारणा बन गई है कि आज का युवा वर्ग धर्म के प्रति उदासीन है, किंतु आचार्य श्री का व्यक्तित्व इसका भी अपवाद है। आपके प्रवचनो मे युवको की जितनी अधिक उपस्थिति रहती है, उतनी बुजुर्गो की नही। इसका कारण है आप श्री के प्रवचनो मे आधुनिकता एव पुरातनता के सुन्दर समन्वय का होना। प्राजल भाषा एव भावो मे सुसज्जित आपकी प्रवचन-पद्धति खण्डन-मण्डनात्मक न होकर पूर्णतया स्याद्वाद सिद्धान्त से पूत एव समन्वयात्मक होती है। इसीलिए आपके प्रवचन के विषयो मे आधुनिक विज्ञानवाद के साथ जैन तत्त्व दर्शन मे वर्णित पुद्गलवाद का समन्वयात्मक विवेचन विशेष महत्त्व रखता है। यह, विद्वानो की ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के साथ ही जन साधारण के लिए भी परम आह्लादक, रोचक एव तर्क-सगत सिद्ध होता है। जैन-दर्शन मे निरूपित पुद्गल परमाणु-तत्त्व-विवेचना की अद्भुत गरिमा एव इसकी शक्ति सीमा असाधारण रूप से कितनी गभीर है, इसके तलस्पर्शी, विवेचन की तह तक यदि किसी को प्रवेश पाना है तो वह आज भी परम श्रद्धेय आचार्य प्रवर के गभीर तत्त्व विवेचनात्मक प्रवचनो का रस-पान कर अपनी ज्ञान-पिपासा को सतुष्ट कर सकता है।

आपके प्रवचन की एक और मौलिक विशेषता है भाषागत सयम। जिस समय आपका धारा-प्रवाह प्रवचन अजस्र रूप मे प्रवाहित हो रहा हो, उस समय भी आपका प्रत्येक शब्द निर्दोष मुक्ता की तरह "भाषा समिति" से सयत रहता है। प्रत्येक शब्द आपत्तिजनक अर्थों की केचुली उतारकर ही आपके समक्ष उपस्थित होता है।

चूँकि आपके धर्म प्रवचन के प्रमुख श्रोता धर्म श्रद्धालु, धर्म भीरू एव तत्त्व-जिज्ञासु सामान्य जन है, अत आपके प्रवचन मे समस्त श्रोताओ के योग्य खुराक होती है। इसी दृष्टि से आपने अपने प्रतिपाद्य विषयो को चार भागो मे विभक्त कर दिया है।

प्रथम एव सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अग है—अध्यात्म, प्रार्थना-स्तुति की भावपूर्ण विवेचना। महान् अध्यात्म योगी आनन्दघन जी के भावपूर्ण, रसप्रद एव तत्त्व-निस्यन्द रूप चतुर्विशति स्तव मे से किसी आगत सम्मत स्तव का सुमधुर कठ से भाव विभोर उच्चारण करके जब आप उसकी अध्यात्म-दृष्टि-मूलक विवेचना प्रस्तुत करते हैं, तब ऐसा प्रतीत होता है कि मानो आप सिद्ध ज्योति की अनिर्वचनीय गहरी अनुभूति कर रहे होते हैं।

महात्मा आनन्दघन जी की प्रार्थना को माध्यम बनाकर आप अपने अध्यात्म-तत्त्व-विश्लेषण का इतना सुन्दर एव सुबोध विवेचन करते हैं कि श्रोता विषय की दुरूहता से ऊपर उठकर भाव-विभोर एव तन्मय हो जाते हैं।

प्रार्थना के विवेचन मे आत्मा, परमात्मा, कर्म, पुनर्जन्म ससार, नवतत्त्व, हेय-ज्ञेय-उपादे का बोध, बन्धन और मुक्ति के कारण, स्वरूप बोध, सम्यग् दर्शन आदि विषयो का निरूपण प्रमुख होता है।

उपर्युक्त विषयो की गभीर किंतु अति सुबोध विवेचना आप प्रस्तुत करते हैं, जिसमे श्रोताओ मे सहज ही गूढ तत्त्वो के प्रति जिज्ञासा का भाव प्रादुर्भूत हो जाता है।

प्रवचन का द्वितीय अग है—शास्त्र-विवेचना। आगम ग्रन्थो मे निहित गूढ तत्त्वो की सूक्ष्म एव तलस्पर्शी गम्भीर व्याख्या जब आपके श्रीमुख से प्रवाहित हो रही हो, तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे कोई महान् वाग्मी श्रुतधर महात्मा द्रव्यानुयोग की चिन्तनपूर्ण मीमासा कर रहा हो। आगम के लघुकाय सूक्तो की इतनी सूक्ष्म एव हृदयग्राही विवेचना आप प्रस्तुत करते हैं मानो छोटे-छोटे मुक्ताओ को स्वर्णतार मे आबद्ध कर सुन्दर मनोहारी हार बनता जा रहा है।

किसी भी आगम ग्रन्थ के किसी एक छोटे से सूत्र अथवा गाथा (श्लोक) को लेकर आप उसकी घटो और दिनो नही, वल्कि महीनो तक इतनी मौलिक सैद्धान्तिक-विवेचना प्रस्तुत करते हैं कि आगमगत सूक्ष्म विषय श्रोताओ के लिये सरस एव अति सुवोध हो जाते हैं। चूँकि जैनागमो पर आपका अधिकार पूर्ण तलस्पर्शी एव अनुभूतिमूलक अध्ययन है, अत. आपके प्रवचन प्रमुखतया जैन आगम सूक्तो के परिशीलन से ओतप्रोत होते है, किन्तु आगमिक अर्थों की परि-पुष्टि तथा श्रोताओ की मनोभूमिका के अनुसार गीता, रामायण, उपनिषद् आदि के सिद्धान्तानुकूल उद्धरण भी प्रवचन मे अधिक सरसता का सयोजन कर देते हैं।

प्रवचन का तीसरा सामयिक अग है—सामाजिक कुरीतियो एव रूढियो पर प्रहार तथा व्यावहारिक जीवन मे नैतिकता के अनुशीलन पर उद्‌वोधन। समाज मे फैली हुई जडता पर सशक्त चोट करते हुए आपश्री अपने श्रोताओ को कुछ अतीत की सास्कृतिक स्मृति की ओर सचेष्ट करना प्रवचन का अनिवार्य अग मानते हैं। आपश्री का यह दृष्टिकोण ही प्रवचन मे सामयिकता का समा-योजन कर उसे युगानुकूल परिवेश प्रदान करता है।

होता यह है कि अधिकाश प्रवक्ता अतीत के ऐतिहासिक पृष्ठो को ही दुहराते रहते है तथा कुछ पौराणिक कथा-कहानियो से अपने श्रोताओ का मनोरजन कर देना ही प्रवचन की अथ-इति मान लेते हैं। फलत: उनका यह प्रवचन कुछ रूढिग्रस्त भक्तो के अतिरिक्त युवा-चेतना के लिये सशक्त एव प्रभावक नही वन पाता। श्रद्धेय आचार्य देव का दृष्टिकोण इस विषय मे इससे कुछ भिन्न है। आपकी यह मान्यता है कि जो आगमिक दृष्टि हमे अपने श्रोताओ को देनी है, जव तक उसे भाषा, भाव और शैली के माध्यम से नूतन परिवेश नही देंगे, वह प्रवचन युगीन चेतना को प्रभावित नही कर सकेगा। अत: आपके प्रवचनो मे अतीत के ऐतिहासिक पृष्ठ एव अनागत के स्वप्निल स्वर्ग के चित्र अल्पप्राय या नही वत् ही मिलेंगे। आपका दृष्टिकोण है, अपने वर्तमान को स्वर्ग—वनाने का। यदि वर्तमान स्वर्ग वन गया तो अनागत निश्चित स्वर्गीय आनन्दप्रद वन जावेगा। धर्म केवल अनागत के लिये नही प्रत्युत इसका सम्वन्ध वर्तमान से अधिक है। भविष्य मे तो इसके लाभ होगे ही, किन्तु सर्वप्रथम आपका वर्तमान उससे आलोकित होगा। इसी सदर्भ मे आप अपने प्रवचन मे आधुनिक विज्ञान एव आगमिक सिद्धान्तो का सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करते हैं, जो सहज ही आज के वैज्ञानिक युग के श्रोताओ के लिये आकर्षण का केन्द्र वन जाता है। वैसे आधुनिक विज्ञान विषय मे आपकी मान्यता है कि वैज्ञानिक दृष्टि जो कुछ हमारे समक्ष लाती है वह सर्वथा शत-प्रतिशत सत्य ही है, ऐसा नही माना जा सकता है। हाँ, जो वैज्ञानिक-विश्लेषण आगमिक कसौटी पर

खरे उतर जावे, वे मान्य हो सकते है। कसौटी विज्ञान नही, कसौटी का आधार सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा प्रभु की वाणी ही हो सकती है। वैज्ञानिक अवधारणाएँ प्राय: स्थिर नही रह पाती हैं। उनमे परिवर्तन अनिवार्य है। एक वैज्ञानिक जिन तथ्यो को अनुभूतिमूलक सत्य से प्रमाणित मानता है, उसे ही कुछ समय के अन्तराल मे दूसरा वैज्ञानिक अपनी अनुभूति के आधार पर असत्य घोषित कर देता है। अत वैज्ञानिक दृष्टिकोण आशिक एव सापेक्ष सत्य माना जा सकता है, पूर्ण सत्य नही।

प्रवचन के इसी अग के अन्तर्गत युगीन घटनाओ, रूपको, ऐतिहासिक लघु कथानको, वैराग्योत्पादक एव नीति-निर्देशक धार्मिक चर्चा-वार्ताओ एव अनुभवो का सयोजन सहजतया हो जाता है, जो प्रवचन की सरसता मे कला-सपादन का कार्य करता है।

चूँकि आपके आम प्रवचनो मे धर्म-भीरु एव श्रद्धा-सपन्न भावुक महिलाओ की उपस्थिति भी अत्यधिक होती है और उन्हे गूढ सैद्धान्तिक तत्त्व-स्वरूप को हृदयगम करवाना सहज नही है, अत आपके प्रवचन का अतिम एव चतुर्थ अग है—पौराणिक आख्यानो और काव्य-ग्रन्थो की कथा वस्तु को हिन्दी अथवा प्रातीय देशी भाषाओ मे गेय रूप देकर ढालो एव चौपाइयो के रूप मे प्रस्तुत करना तथा तद्द्वारा श्रोताओ के मानस-पटल पर विवेक, दया, दान, तप, सेवा, सहानुभूति, सद्व्यवहार, क्षमा, सहिष्णुता, शाति आदि सद्गुणो की कोमल कलित भावनाओ का प्रादुर्भाव करना।

सुमधुर कोमल कठ से उच्चरित भावपूर्ण काव्य-मय ये व्याख्यान स्वय आपके द्वारा रचित होते हैं जो आपकी काव्यमय प्रतिभा के सूचक है। अलकार एव मुहावरो से सुसज्जित इन काव्यरचनाओ मे आपकी अनुभूतियो के स्पष्ट दर्शन होते हैं। इनमे मात्र कथावस्तु पौराणिकता की ओर द्योतन करती है, अन्यथा चूँकि यह आपकी स्वय की काव्य-प्रतिभा का चमत्कार होता है अत इनमे जीवन के हर कोण का वर्तमान परिवेश की दृष्टि से स्पष्ट चित्रण मुखरित होता है। नाम मात्र को ही यह पौराणिक आख्यान होता है। आचार्यश्री इसमे ऐसी नूतनता को उन्मेषित कर देते है कि श्रोतागण अतीत और वर्तमान के मधुर समन्वय के झूले मे झूलने का आनन्दन लेते रहते हैं।

सब मिलाकर आपका प्रत्येक प्रवचन प्रकाण्ड विद्वान् से लेकर सर्व साधारण तक के लिए समुचित खुराक प्रस्तुत करता है तथा जीवन के सभी दृष्टि-बिन्दुओ का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। आपके ओजस्वी प्रवचनो से जहाँ एक ओर युगीन चेतना को जागृति की प्रेरणा मिलती है, वहाँ दूसरी ओर भावी युग को जीवन की स्वर्णिम आशा का मधुर सदेश भी। आपश्री की पीयूष

वाग्धारा के प्रत्येक वाक्य एव उसके प्रत्येक शब्द-कण मे जीवन-ज्योति को जगमगाने वाला विमल आलोक भरा रहता है। न जाने कितनी चेतनाओ ने आपश्री के प्रवचनो से प्रेरणा का आलोक प्राप्त किया है। कितनी प्रसुप्त आत्माओ ने जागरण-उद्बोधन का स्वर प्राप्त किया है, कितने हताश व्यक्तियो को आशा का प्रकाश स्तम्भ परिदृष्ट हुआ है।

आपके प्रवचनो से समाज ने अतुलनीय लाभ प्राप्त किया है। लाखो व्यक्ति लाभान्वित हुए और हो रहे है। आपके प्रवचनो से समाज मे चली आ रही कई सामाजिक रूढियो, अन्धविश्वासो और विचारो की जडताओ का अन्त तथा पराभव हुआ है। इस दृष्टिकोण से यदि कहे कि आप अपने युग के विधाता, अधिवेत्ता एव युग-जागरण के अधिचेता है, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। आज का भारतीय जीवन अपने बीच ऐसे उदात्त, चरित्र-निष्ठ, ब्रह्मचर्य की गरिमा से मण्डित सरस्वती के वरद पुत्र को पाकर गौरवान्वित है।

वक्ता-प्रवक्ता तो और भी उच्चकोटि के प्राप्त हो सकते हैं, किन्तु जिनके जीवन के विचार, उच्चार एव आचार मे अद्भुत साम्य हो, ऐसे चरित्रनिष्ठ प्रवचनकार की उपलब्धि इतिहास को यदा-कदा ही होती है। श्रद्धेय आचार्य देव ऐसे ही उच्चकोटि के प्रवचनकार है, जिनकी मानसिक, वाचिक एव कायिक प्रवृत्तियो मे समरस टपकता है, अथवा यो कहे कि उनके जीवन का कण-कण एव प्रत्येक क्रियान्विति स्वत ही अभिप्रेरक-दृष्टान्त है। ऐसी निर्मिति, जो आगन्तुक को दर्शन मात्र से ही अनुप्राणित कर देती है।

आपके धारा-प्रवाही उपदेश का पूर्ण रसास्वादन तो पुनीत चरणो के उपपात मे बैठकर ही किया जा सकता है, किन्तु आंशिक आस्वादन के लिए कुछ मुक्ता-कण हम यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास कर रहे हैं।

यह कहा जा चुका है कि आपश्री के अमृत प्रवचन सामयिक एव युगानुकूल दृष्टि-बोधक होते हैं। धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्मवाद, भौतिकवाद, सामाजिकता, मानवता, राष्ट्रीयता आदि प्रत्येक पहलू की व्याख्या आपके प्रवचनो मे वर्तमान युग का स्पर्श करती हुई अतीत को उजागर करती है।

वर्तमान युग मे धर्म और विज्ञान एक दूसरे को चुनौती देते-से प्रतीत होते है। वैज्ञानिक विकास धार्मिक विश्वासो के समक्ष सकट उपस्थित कर रहा है। परमाणु ऊर्जा एव भौतिक तथ्यो के नित नये उद्घाटन तथा आधुनिक सुविधाओ का अम्बार मानवीय चेतना को दिग्मूढ बनाकर भोग और वासना की अनजानी राह पर चलने के लिए प्रेरित कर रहा है। चारो तरफ विज्ञान का चुनौती भरा हौआ अट्टहास कर रहा है। ऐसी स्थिति मे वैज्ञानिक तकनीकी

को न तो नकारते बनता है और न स्वीकारते । सामान्य जन-मानस दिग्भ्रमित सा बन जाता है । ऐसे दिग्भ्रमित मानव को दिग्बोधक प्रकाश का सबल देते हुए आचार्यश्री कहते है—

विज्ञान और धर्म

आज का युग विज्ञान व तकनीकी युग कहलाता है तथा विभिन्न भौतिक क्षेत्रो मे विज्ञान ने काफी उन्नति की है । नई-नई खोजों के फलस्वरूप एक ओर विश्व के विभिन्न भागो मे रहने वाले लोगो मे समीपता बढी है, तो दूसरी ओर लोगो की भौतिक सुख-सुविधाओ मे भी भारी बढ़ोतरी हुई है ।

आत्मा का आधार चिंतन है तो विज्ञान का आधार प्रयोग । प्रयोग एक भौतिक प्रक्रिया है, जबकि चिंतन अन्त-प्रेरणा से प्रस्फुटित होता है । चिंतन मूल है, तो प्रयोग उसकी शाखा, क्योकि दोनो का सम्बन्ध आत्मिक शक्ति से है । अन्तर यह आता है कि आध्यात्मिकता की ओर विकास करना आत्मा का प्रधान धर्म माना गया है, तो कोरे विज्ञानवादी भौतिक प्रगति को ही अपना अक्ष्य मानते है । अतः उनके चिंतन मे वह सूक्ष्मता नही आ सकती जो एक आत्मवादी के चिंतन मे प्रकट होती है ।

इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जो लोग विज्ञान की प्रामाणिकता को ही एक मात्र कसौटी मानकर चलना चाहते है, उनकी धारणा स्वय प्रामाणिक नही है । इसका कारण यह है कि एकाकी रूप मे विज्ञान स्वयं अधूरा है । विज्ञान मे प्रयोग चलते रहते हैं, सत्याश उन्हे मिलता रहता होगा, किन्तु एक वैज्ञानिक कभी पूर्ण सत्य का पता नहीं पा सकता है, जबकि एक चिंतक अपनी साधना के बल पर पूर्ण सत्य की खोज सफलतापूर्वक कर लेता है । विज्ञान की खोज कभी पूरी नही होती और सबसे बडी बात तो यह है कि उस खोज का दायरा जब भौतिक क्षेत्र मे ही पूरा नही बैठता, तो वह व्यापक पूर्णता भला प्राप्त भी कैसे करेगा ?

मेरे भाई कभी-कभी प्रश्न उठाते हैं—वैज्ञानिको ने अमुक चीज बना दी, अब उसके आगे कोई चीज है ही नही । परन्तु आपको ध्यान रखना चाहिये कि इस विज्ञान में जितने विषय आते हैं, वे बहुत थोडे है, पर शास्त्रो के विषय विशाल व व्यापक होने के साथ-साथ पूर्ण और अतिम सत्य का दिग्दर्शन कराने वाले होते हैं । वे इतने गूढ भी होते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति उन्हे बिना गहन चिंतन के आसानी से नही समझ सकता है ।

मैं एक बार सन् १९५२ के करीब जब सब्जी मडी, दिल्ली मे था, तो एक भाई ने मुझे 'धर्मयुग' पत्र दिखाया था, जिसमे एक वैज्ञानिक ने एक

वनस्पति के सम्वन्ध मे निज के अनुभव वाला एक लेख लिखा था। लेख मे वताया गया कि वह वैज्ञानिक जगलो मे घूमने का शौकीन था अत दो आदि-वासियो को साथ लेकर वह एक घने जगल मे गया। वहाँ उन आदिवासियो ने उसे दूर से एक वृक्ष दिखाया व पास मे जाने से मना किया। उस वृक्ष की टहनियाँ करीव ४२ फीट तक लम्वी थी। वह वडा सुन्दर था, किन्तु आदिम-वासियो ने वैज्ञानिक को वताया कि यह मास-भक्षी वृक्ष है। उसी समय उनके देखते-देखते एक मृग भागा-भागा उधर आया और उस वृक्ष की टहनियो ने आगे वढकर उसे जकड लिया। उसे जकड कर टहनियो ने उसे बीच के गुच्छे मे फेंक दिया जहाँ से थोडी देर बाद उस मृग की कोरी हड्डियाँ वाहर गिरती नजर आईं।

यह सव देखकर वैज्ञानिक की जिज्ञासा अति उग्र हो उठी कि वह उस गुच्छे के रहस्य का पता लगावे। उसने आदिवासियो को धन का लोभ देकर प्रेरित किया कि वे कुछ ऐसा उपाय करे कि वह गुच्छा फिर बाहर निकले। उन्होने एक वदर को उस वृक्ष की सीमा मे भगाया कि टहनियो ने फिर वदर को पकडा और उसे वाहर निकले गुच्छे मे फेकने लगी। तभी वह वैज्ञानिक यह सोचकर भागा कि इस समय वह उस गुच्छे को काट ले ताकि उसका रहस्य उस पर प्रकट हो जाय। वृक्ष के निकट पहुँचते ही एक टहनी ने उसे झटका मारा कि वह सज्ञाहीन सा होने लगा। यदि आदिवासी उसे तरकीव से वहाँ से उठा नही लेते, तो मृग व वदर जैसी दशा उस वैज्ञानिक की भी हो जाती।

कहने का अभिप्राय यह है कि शास्त्र मे जिस मास-भक्षी वनस्पति का वर्णन आया है, उसकी पुष्टि इस वैज्ञानिक के लेख से हो जाती है, किन्तु जिस रहस्य का पता शास्त्रकारो ने युगो पूर्व पा लिया था, उसे एक वैज्ञानिक आज भी पाने मे असफल रहा। इसलिए यह खयाल रखने की वात है कि आत्मा का चिंतन वहुत ही गहरा और दूरदर्शी होता है।

भौतिक विज्ञान स्थूल ज्ञान होता है। यह सही है कि इसकी सहायता से मनुष्यो के लिये वाह्य सुख के साधन प्रस्तुत किये गये हैं, किन्तु इसके साथ क्या यह सही नही है कि इसी विज्ञान की प्रगति ने ससार के सामने अणुवम आदि के रूप मे महाविनाशकारी साधन भी प्रस्तुत किये हैं ? विज्ञान ऐसा है, जिसका सदुपयोग करें तो ठीक, वरना दुरुपयोग तो किया ही जा सकता है। एक उस्तरा होता है, जिससे हजामत भी की जा सकती है, किन्तु यदि वह किसी वन्दर के हाथ लग जाय तो उससे वह किसी की नाक भी काट सकता है। आत्मज्ञान से हीन मनुष्य की अवस्था वन्दर से कम नही होती। आज विज्ञान

की प्रगति का जिस कदर दुरुपयोग किया जा रहा है, उससे ससार के अस्तित्व तक के सामने क्या प्रश्नचिह्न नही लगा हुआ है ?[1]

वैज्ञानिक अपने सिद्धान्त के अनुसार प्रयोगशाला मे जितना निर्णय वर्तमान मे करता है, वह निर्णय भविष्य मे भी टिका रहेगा या नही, ऐसा विश्वास नही किया जा सकता है और न ही वैज्ञानिक स्वय उस पर विश्वास करते हैं। उनका कथन भी यही है कि वर्तमान मे जिन भौतिक साधनो से जो कुछ भी खोज की और उससे जो उपलब्ध हुआ, उसको ही हम कह रहे है। सम्भव है कि भविष्य मे हमारी यह धारणा भी गलत साबित हो जाय। ऐसा हुआ भी है। पूर्व के वैज्ञानिको ने निश्चयात्मक रूप से जिसका अनुभव किया और जिसे ससार के सामने रखा, बाद के वैज्ञानिको ने उसमे सशोधन कर दिया। इस प्रकार वैज्ञानिको ने प्रयोगशाला मे किये गये अनुसधान की दृष्टि से जिस तत्त्व का निर्णय किया, वह निर्णय पूर्णतया अबाधित नही हुआ।

फिर भी वैज्ञानिक अपने अनुसधान-कार्य मे निरतर लगे रहते हैं, परन्तु अब उनका दृष्टिकोण भौतिक पदार्थों का अनुसधान करते हुए भी उससे ऊबकर आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर होने का है। भौतिक पदार्थों मे उन्हे जल्दी सफलता मिली और वे आगे बढ गए उनकी उपलब्धि से दुनिया को आश्चर्य हो गया, परन्तु स्वय वैज्ञानिक आश्चर्यचकित नही हैं। वे तो अब भी सोच रहे हैं कि ये प्रयोग और आविष्कार हुए तो साधारण जनमानस भले ही इनको हौवा समझ ले, परन्तु अभी वैज्ञानिक क्षेत्र की दृष्टि से विज्ञान की बचपन की-सी अवस्था है। वह अभी तरुणाई पर नही पहुँचा है। जिस दिन वह तरुणाई की पूर्ण परिपक्वता पर पहुँचेगा, उस दिन दुनिया की वर्तमान दशा मे परिवर्तन आकर स्थिरता आ सकती है। वैज्ञानिको का यह तटस्थ मस्तिष्क है। परन्तु आज के पाठकवृ द, विद्यार्थी और अखबारो को देखने वाले विचारवादी कुछ-कुछ बातो को लेकर उनको ही सर्वस्व समझ लेते है। यह बहुत बडी भ्राति की बात है। उनका मस्तिष्क भौतिकवादी बन गया है। वे यही चिंतन करते है कि इसके अतिरिक्त कुछ नही है। इस प्रकार के मस्तिष्क को एक बात के पीछे बाँध देना, भौतिकता से चिपका देना, यह बडी हिंसा की अवस्था है। आज के मानवो को चाहिए कि वे अपने मस्तिष्क को खुला रखे और सोचे कि भौतिक-विज्ञान की उपलब्धि से प्राप्त विज्ञान यदि हमारे मस्तिष्क को बाँध देता है, तो हम जडीभूत हो जाते हैं और इससे सत् तत्त्व क्या है, इसका पूरा पता नही लगा पाते हैं।[2]

१—मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० ७९-८०

२—बीकानेर चातुर्मास प्रवचन, आध्यात्मिक आलोक, पृ० ४६—४७

आज मनुष्य का ध्यान भौतिकता की ओर आकृष्ट है। वह यह सोचने लगा है कि जो कुछ भी उसे स्थूल रूप मे दिखाई दे रहा है तथा विज्ञान जिन वस्तुओ को प्रमाणित करता है, केवल वे ही सत्य है, किन्तु वास्तविकता तो ऐसी नही है। मैं विज्ञान का विरोधी नही हूँ। लेकिन मैं यह कहना चाहता हूं कि मनुष्य को विज्ञान के साथ-साथ अपना ज्ञान (आत्म-विज्ञान) भी प्राप्त करना आवश्यक है।

एक सीधा-सा प्रश्न है कि विज्ञान ने जो तथ्य प्रमाणित किये है, वे इससे पूर्व अस्तित्व मे थे कि नही ? वे गतियाँ पहले कहाँ थी ? सत्य तो यह है कि वे इससे पूर्व भी थी, किन्तु विज्ञान उन्हे अब जान-पहचान सका है। वैज्ञानिक प्रयोगशालाओ का अब पहले से अधिक विकास हुआ है और धीरे-धीरे वैज्ञानिक उन सभी वातो को स्वीकार करता जा रहा है, जिनका वर्णन शास्त्रों मे हमें पहले से ही प्राप्त है।

अत हमे अपनी दृष्टि को विशाल रखकर चलना चाहिए और विज्ञान को विज्ञान तक ही सीमित रहने देना चाहिए। प्रत्येक वात का मापदण्ड विज्ञान को ही वना लेने से हमारा काम चलने वाला नही है कहा गया है—"आत्मनः प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्।"—अपनी आत्मा के लिये जो प्रतिकूल पडता हो, वैसा आचरण दूसरो के लिए भी न करो।

जीवन में अपने व्यवहार का शुद्ध मापदण्ड यही उद्‌घोष वाक्य होना चाहिए। दूसरो को हम किस दृष्टि से देखें, उनके साथ कैसा व्यवहार करे, यह वात इस कथन से निर्णीत की जा सकती है। हमे स्वय अपना ही गज, अपना ही मापदण्ड लेकर चलना चाहिए और अपने भीतर झाँककर, अपने स्वरूप को पहचान कर, दूसरो के साथ भी उसी प्रकार का व्यवहार करना चाहिए।

आप व्यापार करते हैं, कपड़े का। वहाँ लेन-देन का साधन गज या आजकल मीटर है। अनाज के व्यापारी के पास किलो-क्विंटल है। सोने-चाँदी के व्यापारी के पास ग्राम, आदि हैं। तो प्रत्येक व्यापारी के लिए भिन्न-भिन्न साधन और आधार हैं। यदि एक सोने-चाँदी का व्यापारी मीटर या किलो से तोल या नाप करने लगे, तो उसका दिवाला निकल जाय या उसका काम नहीं चले। उसका काँटा भी टूट सकता है। इसी प्रकार से आजकल हवा के दवाव और वजन को नापने के लिए भी यन्त्र हैं। तो ये सव भौतिक साधन है। इन साधनो से आध्यात्मिक तत्त्व को नही नापा जा सकता है।

इसीलिए मैं आपसे कहता हूँ कि जीवन के दोनो पक्षो को वडे ध्यान से देखिए। गम्भीरता से विचार कीजिए। एक ही पक्ष (पख) के होने से जिस प्रकार से कोई पक्षी उड़ान नही कर सकता, उसी प्रकार यदि आप अपने जीवन

के एक ही पक्ष को साधते चले जायेगे और दूसरे पक्ष की अवहेलना कर दगे, तो आपके विकास की गति रुक जायेगी ।

एक वैज्ञानिक के लिए भी यही बात उचित ठहरती है। विज्ञान की उपलब्धियाँ हितकर हैं, बशर्ते कि उनका उपयोग मानव-कल्याण के लिए किया जाय न कि मानव सहार के लिए। किन्तु एक वैज्ञानिक को भी जीवन के दूसरे पक्ष—आध्यात्मिक पक्ष को नही भूलना चाहिए, तभी सारी वैज्ञानिक उपलब्धियो का सही उपयोग हो सकता है।[1]

इस सदर्भ मे विज्ञान की स्थिति भी समझने लायक है। विज्ञान सत्य के पहले छोर को पकड कर प्रस्थान करता है। अन्वेषण और अनुसधान के बल पर वह चलता रहता है, किन्तु यह नही कहा जा सकता है कि वह सत्य पर ही चल रहा है। आज वह जिसे खोज सका है, वह विज्ञान के लिए आज सत्य है। हो सकता है कल प्रयोग का परिणाम आज के सत्य को बदल देने वाला और नये सत्य को उद्घाटित करनेवाला बन जाय। सत्य के अतिम छोर तक पहुँचाने का दावा भी विज्ञान नही करता, क्योकि वह रास्ता बहुत लबा होता है तथा पदार्थों की स्थिति निरतर परिवर्तनशील होती है, फिर जितना भी सत्य विज्ञान की सहायता से प्रकट होता है, उसका वहुलाश जड तत्त्व—भौतिकता से सबधित होता हे। वस्तुत आत्मा (याने चैतन्य) विज्ञान का प्रयोग-विषय ही नही होता।[2]

वर्तमान युग मे भौतिक विज्ञान की प्रगति को देखकर सभी उसकी ओर आकर्षित होते हैं और उस जोश मे अध्यात्मवाद की मौलिकता एव वैचारिकता का चिंतन करने से कतराते हैं। युवक और प्रबुद्ध वर्ग भी भौतिक विज्ञान से ही प्रभावित है। इसमे कोई सदेह नही कि बडे-बडे अनुसधान एवम् अन्वेषण सफल बनाकर विज्ञान से सबको आश्चर्य मे डाल रखा है, लेकिन जहाँ प्रयोगात्मक विधि से विज्ञान का विकास सभव है, वहाँ आत्म-विकास की सूक्ष्म रेखाओ मे चलते हुए चैतन्य का विकास करना अपेक्षाकृत कठिन है। आज का मनुष्य यह सोचने का कष्ट नही करता है कि भौतिक-विज्ञान का पिता कौन है ? पुत्र को देखकर सारी दुनिया प्रसन्न हो रही है लेकिन यह पुत्र आया कहाँ से ? अगर ज्ञान नही होता तो विज्ञान कहाँ से आता ? विज्ञान पुत्र है तो उसका जनक है चैतन्य। चैतन्य की कोख से ही ज्ञान और विज्ञान का जन्म होता है। तो समझने की बात है कि आध्यात्मिक ज्ञान और भौतिक ज्ञान मे विभेद नही है बल्कि पिता-पुत्र का सबध है।

भौतिक विज्ञान के प्रति भी लोगो मे जो एकाकी निष्ठा फैल रही है, वह अन्धानुकरण का रूप लेती जा रही है। भौतिक विज्ञान ही श्रेष्ठ है, ऐसा

१—ब्यावर चातुर्मास प्रवचन, शाति के सोपान, पृ० २०१—२०३

२—मन्दसौर चा० प्र०, ताप और तप, पृ० १६६

कहने वाले यह नही देखते कि आत्मा और आत्म-ज्ञान के बल पर ही भौतिक विज्ञान का विकास हुआ है। दोनो मे से जब मूल पक्ष की उपेक्षा की जाती है, तो वैसा अतर की आँखो के नही खुलने से ही होता है। भौतिक विज्ञान तो अभी भी विकासशील है और अभी वह प्रौढावस्था मे नही आया है, किंतु यह चैतन्य तो अनन्त शक्ति से सपन्न होता है और उसके चरम को प्राप्त करना पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। परमात्मा की उस शक्ति का दर्शन भौतिक विज्ञान की सामर्थ्य मे नही है।

आत्मा की शक्ति ही प्रधान होती है, जो चेतना और विज्ञान दोनो क्षेत्रो मे समान रूप से प्रगति की प्रेरक बनती है। भौतिक विज्ञान के विकास मे प्रयोग का फल है, किंतु प्रयोग मे रत रहनेवाला और उसमे निरतर श्रम करने वाला दृढ मन ही तो होता है। और यह मन क्या है ? चैतन्य का ही तो एक सबल अग है। फिर कैसे कह सकते हैं कि भौतिक विज्ञान का क्षेत्र आत्म-शक्ति से परे है ? विद्युत शक्ति पावर हाउस मे सगृहीत रहती है और वहाँ से वह बिजली के बल्व मे समाती है, जो आँखो को प्रकाश देते हैं और ऐसी बिजली से कई प्रकार के उद्योग, आदि चलाए जा सकते है तथा उपयोगी पदार्थो मे उससे काम लिया जा सकता है। उससे कारखाना भी चलता है और उससे दाह-क्रिया भी की जाती है। किन्तु जरा-सी असावधानी से बिजली के तारो को जला डालती है, तो जान भी ले लेती है। ऐसी खतरनाक शक्ति को नियत्रण मे रखकर चलाने वाला कौन है ? क्या यह चैतन्य नही है ? एंजिन को भौतिक विज्ञान कह लें, तो उसका चालक चैतन्य ही हो सकता है।[1]

युवा-वर्ग के संदर्भ मे

आज का सपूर्ण जन-जीवन युवको को कोसता हुआ-सा परिलक्षित होता है। यद्यपि युवा-वर्ग के प्रति आशाभरी दृष्टि लगी रहती है, तथापि वे सभी आशाए आज धूमिल-सी निराशा मे परिणत होती दिखाई दे रही है। एक आम धारणा बन गई है कि युवा-वर्ग भटक गया है, किन्तु आचार्य श्री के विचार इस विषय मे भी आशा की एक नई किरण प्रस्तुत करते हैं। आप स्वयं आशावादी दृष्टिकोण को समक्ष रखते हैं—अपने व्यक्तिगत जीवन मे भी और सामाजिक परिष्कार के सदर्भ मे भी। आपने अपने जीवन की मनोभूमि पर कभी निराशा के बीजो को अकुरित नही होने दिया। आपके आशा भरे स्वर कई बार मुखरित होते हैं—"प्रतीक्षा करो, निराश मत बनो। अधेरी निशा का अंत होने पर स्वर्णिम प्रभात अवश्य ही आएगा। जिसने धैर्य के साथ प्रतीक्षा की है, उसे प्रकाश अवश्य उपलब्ध हुआ है"—आज के युवा-वर्ग के प्रति भी आप श्री का

१—जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावस प्रवचन, भाग ४, पृ० ५८—५६

ऐसा ही दृष्टिकोण है। अतएव आप अपने प्रवचनो मे पुन-पुन युवको को सचेष्ट करते हुए नही चूकते हैं। निम्नोक्त प्रवचनो से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि आप मे युवा जागृति के प्रति कितनी तडप है और आज के युवा-वर्ग से कैसी अपेक्षा रखते हैं—

मैं युवको से कहूँगा कि वे दिल-दिमाग से उत्साहित हो तथा बिना स्वार्थ-भावना के तत्पर होकर समझे। जो समता-जीवन-दर्शन मे सब कुछ लगाने को तत्पर होते है, वे सब युवक है। उम्र से कोई कैसे भी हो, जहाँ उत्साह है, वहाँ तरुणाई है। जो दिल से उत्साही हैं, वे सब तरुण हैं।

परन्तु आज का तरुण-वर्ग कानो मे तेल डाल कर सोया हुआ है। तरुण सोचते हैं कि धर्म करना तो वृद्धो का काम है। हमको तो राजनीति मे भाग लेना है या नौकरी अथवा व्यवसाय करना है। यह वर्ग जीवन के लक्ष्य को भूला हुआ है। उसको सोचना है कि अपना काम करते हुए भी जीवन के प्राण-समता-दर्शन को नही भुलाना है। युवको को तो नये जोश से आगे आकर इसमे अग्रसर होना ही चाहिए और एक-दूसरे के दिल को जीतना चाहिए।

हमको यह जीवन मिला है, तो ऐसे ही नही चला जाए, कुछ-न-कुछ भला तो इस जीवन मे अवश्य ही कर गुजरें। अनैतिकता की स्थिति पर चिंतन करके परिवार और समाज मे समता-जीवन-दर्शन आए, राष्ट्र और विश्व मे समता-जीवन-दर्शन आए, ऐसी भावना यदि तरुणो मे आ जाती है और वे जाग जाते हैं, तो सब कुछ करके दिखला सकते हैं। परन्तु आज की युवा-पीढी जिस रूप मे चल रही है और उसकी जो दशा है, उसको देखकर कभी-कभी विचार होता है कि तरुणो मे जोश है, परन्तु इनमे थोडे से होश की जरूरत है। वह आ जाए तो ये कुछ-का-कुछ करके दिखला सकते हैं।

युवको मे इस प्रकार की स्थिति हर क्षेत्र मे बननी चाहिए—चाहे वह थली प्रांत हो, मालवा हो, या अन्य स्थान हो। उनमे एक जागृति आ जाये, क्राति का स्वर आ जाए और वे सोचें कि हमको अपने जीवन मे समता-दर्शन अगीकार करके चलना है, हमे आत्मा को जीतना है और समाज में एक नयी लहर पैदा कर देनी है, तो उन्हे जीवन के दुर्गुणो को दूर फेंक देना चाहिए।

आज की युवा-पीढी मे कई कुव्यसनो के लाछन हैं। आज का युवक वर्ग उनका दास बन गया है। वे शरीर से तरुण है, परन्तु कुव्यसनो की दृष्टि से वृद्ध हो चुके है। यदि जीवन मे बीडी, सिगरेट, तम्बाकू आदि के कुव्यसन हैं तो ये तरुण जीवन को वृद्ध बनाने वाले ही हैं।

क्या यह जीवन के साथ खिलवाड नही है ? क्या जीवन को इस प्रकार से व्यर्थ मे वर्बाद करना चाहिए ? जिनके मस्तिष्क मे ऐसे कुव्यसन प्रवेश कर जाये, जो नैतिकता का धरातल भूलकर गिर जायें, ऐसे युवको को क्या युवा-पीढी मे लेंगे ? अरे, इनसे तो वे वूढे ही अच्छे है, जो कुव्यसनो से दूर है और समता-जीवन-दर्शन का लक्ष्य वनाकर चल रहे है । निश्चय ही वे तरुण हैं ।

वन्धुओ ! ऐसे कुव्यसनो से जीवन का कितना ह्रास हो रहा है । आज डॉक्टर लोग कह रहे हैं कि कैंसर की वीमारी का मुख्य कारण सिगरेट है । डॉक्टरो के पास इसका इलाज नही है । वैज्ञानिक भी हैरान है । फिर भी लोग उसके अधीन होकर चल रहे है । ऐसे व्यक्ति क्या अपने जीवन में समता-दर्शन ला सकते हैं ? उनमे यदि वल है, तो इन कुव्यसनो को दूर फेंक देना चाहिए । जव तक नही समझा, तव तक इनमे फसे रहे, परन्तु समझ कर तो इनसे दूर हट जाना ही चाहिए ! शराव, मास, अण्डे आदि सव दुर्व्यसन हैं । वे सम्पूर्ण युवा-पीढी के जीवन मे से हटने ही चाहिए ।[1]

जव तरुणाई मे व्यक्ति पहुँचता है, तव अगो के विकास के साथ-साथ उसकी मानसिक क्रियाएँ भी वदल जाती है और जीवन के अन्दर जो एक आधी और तूफान आता है, उस तूफान और आधी से ओत-प्रोत उस तरुणाई पर कावू पाना सव लोगो के लिये सहज नही है । ऐसी स्थिति में स्वय में रही हुई निर्णायक शक्ति अगर सुषुप्तावस्था में है, उसे किसी ने जागृत नही किया है, तो वह तरुणाई की आधी उस शरीर रूपी कार को कहाँ ले जाकर गिरा (ढकेल) देती है, इसका भी पता नही लगता ।

समाचार पत्रो में आये दिन आप लोग भी पढते रहते है और कभी-कभी मुझे भी सुनने को मिलता है कि आज के तरुण और तरुणियाँ इस जीवन-रूपी कार को कहाँ ले जाकर पटक रहे हैं । वे कैसी-कैसी औषधियो का और नशीली वस्तुओ का सेवन करते हैं । इनके नाम भी सम्भवत आप कइयो ने नही सुने होंगे और उन परिस्थितियो मे पड कर वे अपने जीवन को किधर ले जा रहे हैं, इसकी कल्पना करने मात्र से रोमाच हो जाता है । सरक्षक माता-पिता तो यह समझते हैं कि हमारे वच्चे-वच्चियाँ कॉलेजो मे अध्ययन करने जा रहे हैं । वे वहाँ कुछ ज्ञान-विज्ञान की वातें सीखकर अपने जीवन का निर्माण करेंगे । पर वे आज उल्टी दिशा मे वहे जा रहे हैं । माता-पिता उनके वारे मे वहुत थोडी जानकारी रखते होंगे । वे शायद महसूस भी नही करते कि हमे इस विषय मे आगे क्या करना है ? वे ११ से लेकर ५ वजे तक कॉलिजो मे पढते हैं । साधारण घरो के वच्चो मे तो शायद यह प्रवृत्ति नही होगी, पर जो अमीर घरो के वच्चे

---

१ वीकानेर चातुर्मास प्रवचन, आध्यात्मिक वैभव, पृ० ७०-७२

हैं, वे क्या-क्या वहाँ करते है ? तो आज यह सब क्या चल रहा है ? इस जीवन रूपी कार को किधर धक्का दिया जा रहा है ? वह विना ब्रेक की कार किसी खड्डे मे तो नही गिर जावेगी ? ड्राइवर के हाथो से ब्रेक की स्थिति कमजोर बन जाती है, तो उसकी दशा क्या बन सकती है, इसका सहज अनुमान लगाया जा सकता है ।[1]

सामाजिक व्यवस्था और धर्म

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह एक मौलिक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का मर्म है कि मनुष्य समाज के बिना जीवित नही रह सकता है। सामाजिकता मानव का अनिवार्य धर्म है। जिस मनुष्य मे समाज मे रहते हुए भी सामाजिकता का अभाव है, उसे मनुष्य कहना मानवता का परिहास कहलायेगा। सामाजिक परिवेश मानव-जीवन का आवश्यक अग है। एक व्यक्ति किसी परिस्थिति विशेष मे भले ही एक-दो दिन एकात मे व्यतीत कर ले, किन्तु सदा-सदा के लिए वह समाज से निरपेक्ष रहकर जीवित नही रह सकता है।

समाज और व्यक्ति का अग-अगी भाव का सम्बन्ध है। व्यक्ति अग है और समाज उसका अगी।

समाज और व्यक्ति के सम्बन्ध के समान ही आज एक ज्वलत प्रश्न सामने खडा है समाज और धर्म के सम्बन्ध का। कई विचारको का मत है कि हमे अपनी वैयक्तिक साधना करनी है। हमे क्या मतलब समाज से ? समाज जाए भाड मे ! हमे समाज से कोई सरोकार नही किन्तु यह प्रश्न हवा में उडा देने जैसा नही है। इस पर मनीषियो ने गम्भीर चिन्तन किया है।

श्रद्धेय आचार्यश्री की इस विषय में स्पष्ट और सचोट ध्रुव मान्यता है कि समाज से कटकर मनुष्य के जीवन का अस्तित्व नही रह सकता है। सामाजिक परिष्कार धर्म की भूमिका है। यदि समाज मे अराजकता है, तो वहाँ धर्म की नीव डगमगाने लगेगी। अत धर्म के बीज-वपन के लिए पहले सामाजिक धरातल का शुद्धिकरण नितात अपेक्षित है। इसी दृष्टिकोण से समाज में प्रविष्ट बुराइयो और जडता को ध्वस्त करने के लिए आप अपने प्रवचन मे इन पर बडा करारा प्रहार करते है। प्रवचन के निम्न उद्धरणो से स्पष्ट हो जाता है कि धर्म और समाज के मधुर सम्बन्ध के विषय में आपकी क्या अवधारणा है तथा समाज की वर्तमान विकृत, दयनीय एव दर्दनाक अवस्था के प्रति आपके भीतर कितनी टीस है !

---

१ जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावन प्रवचन, भाग २, पृ० ५६–५७।

समूह का आधार व्यक्ति ही होता है तथा व्यक्ति के जीवन-विकास से समूह प्रभावित होता है। यदि व्यक्ति का चरित्र उच्चतम बिन्दुओं तक समुन्नत बनता है, तो उसका ऐसा नैतिक प्रभाव सारे समूह पर पड़ता है कि एक स्तर तक समूह भी उस दिशा मे ऊपर उठने के लिए प्रयत्नशील होता है। वैसी अवस्था मे समूह की भी एक ऐसी शक्ति का उदय होता है, जो व्यक्ति-विकास के सामान्य धरातल को समतल बनाती है। जहाँ समूह का सामान्य रूप से भी विकास नही होता, वहाँ व्यक्ति को अपने विकास का मार्ग स्वय काटो, पत्थरो और ऊबड-खाबड जमीन मे होकर निकालना पडता है। वैसी स्थिति मे विकास की दिशा मे आगे बढने के लिए उसे अपनी काफी शक्ति लगानी पडती है। किन्तु जहाँ समूह का समुचित विकास उपलब्ध होता है, वहाँ व्यक्ति को अपने विकास हेतु गति करने के लिए सीधी सडक मिल जाती है। इसी दृष्टि से व्यष्टि एव समष्टि का विकास अन्योन्याश्रित रहता है।[१]

अत आप सबको यह विचार करना चाहिए कि न केवल धार्मिक क्षेत्र मे ही, बल्कि पारिवारिक तथा सामाजिक क्षेत्र मे भी हमारा जीवन शुद्ध, शान्त एव सुखी हो। हमे ऐसे जीवन का निर्माण करना चाहिए, जो कि प्रदर्शनो से दूर हो और आत्मा का शृ गार करने वाला हो। सामाजिक जीवन मे अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न होते जा रहे है। इन विकारो को, इन बुराइयो को हमे दूर करना चाहिए। उदाहरण के लिए एक दहेज प्रथा को ही ले लीजिए। यह प्रथा इतनी विषम है कि इसके कारण प्रतिदिन अनेक परिवार नष्ट-भ्रष्ट हो रहे हैं। अनेक निर्दोष बालिकाओ का जीवन अभिशाप से ग्रसित हो रहा है। मध्यम वर्ग की स्थिति दो पाटो के बीच मे पिस रही है। परिवार मे एक कमाने वाला हो और दस खाने वाले हो, तो आखिर वह कब तक और किस प्रकार से काम चला सकता है ? मजदूर वर्ग मे तो फिर भी यह स्थिति है कि सभी कुछ-न-कुछ कार्य कर लेते है और उनका काम चल जाता है, किन्तु मध्यम वर्ग के भाइयो का क्या हो ? इसीलिए मैं कहता हूँ कि जीवन मे सादगी को अपनाइये और प्रदर्शन से दूर रहिये अन्यथा आज सामाजिक जीवन मे जितनी बुराइयाँ हैं, वे भी कम नही है। यदि उनमे और बढोतरी हुई, तो समाज पूर्णतया नष्ट हो जायगा।

आज समाज की, राष्ट्र की तथा विश्व की जो स्थिति है, वह अत्यन्त चिन्तनीय है। भारतवर्ष किसी जमाने मे सोने की चिडिया कहलाता था, किन्तु आज भारत जैसा निर्धन देश शायद ही कोई हो। ऐसा क्यो हुआ ? इसका कारण क्या है ? कारण यही है कि हम जीवन की परिभाषा को ही भुला बैठे है। आध्यात्मिकता हमारे जीवन से दूर होती जा रही है। हम लोगो मे स्वच्छन्दता की वृत्ति, उच्छृखलता की भावना घर करती जा रही है।

१-मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० १८२

अतएव मैं आपसे कहता हू कि आप जहाँ कही भी रहे, आपको प्रण करना चाहिए कि आप नैतिकता से रहेगे। आपके सम्पूर्ण जीवन मे कही भी अनैतिकता नही होनी चाहिए। धर्मस्थानो मे आने पर तो मन और भी अधिक शुद्ध रहना चाहिए। पूर्णरूपेण सादगी आपके जीवन मे होनी चाहिए। इस स्थान पर आकर आपके हृदय मे प्रेम और समभाव का उदय होना चाहिए। चाहे कोई गरीब हो या अमीर, सभी मनुष्यो के प्रति आपके हृदय मे प्रेम, आदर और सहानुभूति की भावना होनी चाहिए। यह स्थल तो पवित्र बनाने वाला है, शुद्धि करने वाला है। इस स्थल पर आकर मन के समस्त विकार धुल जाने चाहिए, जीवन के सभी पाप धुल जाने चाहिए। जीवन की परिभाषा को हमे समझना चाहिए। जीवन की कला हमे सीखनी चाहिए। जीवन परिमार्जित होना चाहिए। नीतिकारो ने कहा है कि—

"अन्य स्थाने कृत पाप, धर्म स्थाने विमुच्यते।
धर्म स्थाने कृत पाप, वज्र लेपो भविष्यति।"

अन्य स्थान पर हो गये पाप को भी व्यक्ति धर्म स्थान पर आकर छोड देता है और अपनी भूल का प्रायश्चित करता है, किन्तु यदि धर्मस्थान पर आकर भी पाप किया गया, तो वह तो वज्रलेप हो जाता है। अत इससे बचने का प्रयत्न कीजिए। ऐसे क्षेत्र मे आकर सादगी धारण कीजिए, हृदय को शुद्ध बनाइये। ऐसा करने से ही आप सबको शान्ति मिल सकेगी तथा मध्यम वर्ग की स्थिति मे सुधार आ सकेगा।[1]

सामाजिक हिंसा

इसी सन्दर्भ मे आचार्यश्री ने समाज द्वारा व्यक्ति पर और व्यक्ति द्वारा समाज पर पडने वाले प्रभाव को स्पष्ट करते हुए वैयक्तिक हिंसा एव सामाजिक हिंसा का मौलिक रूप से शोधपरक चिंतन प्रस्तुत किया है—

यदि व्यक्ति अपने जीवन को शान्त तथा दोष-रहित बनायेगा, तो उसका पारिवारिक जीवन भी उन्नत होगा, सामाजिक जीवन भी आनन्दमय बनेगा तथा राष्ट्रीय जीवन भी उच्च बनेगा। किन्तु आज तो लोगो के जीवन मे हिंसा बढती जा रही है। हम शान्त जीवन को भुलाते चले जा रहे हैं। हिंसा जीवन को अत्यन्त कष्टमय बना देती है। हिंसा का एक रूप तो प्रकट हिंसा का होता है तथा दूसरी सभ्य हिंसा होती है। प्रकट हिंसा अथवा असभ्य हिंसा वह होती है, जिसमे कोई तलवार लेकर जाता है और किसी को मार देता है। दूसरी सभ्य हिंसा वह होती है जिसमे कोई किसी को प्रकट रूप मे मारता हुआ तो

१—ब्यावर चातुर्मास प्रवचन, शान्ति के सोपान, पृ० ३०-३२

प्रतीत नही होता, किन्तु भीतर-ही-भीतर ऐसी स्थिति वना देता है जिससे हिंसा होती है। ऐसी हिंसा भी कम पापमय नही है। यदि एक व्यापारी अनाज को इकट्ठा करके वैठ जाता है तथा लोग भूखे मरते हैं, तो वह व्यापारी हिंसक कहा जायगा। यदि एक व्यापारी खाने-पीने की वस्तुओ मे मिलावट करता है तथा लोगो का जीवन खतरे मे डालता है, तो वह भी हिंसक कहा जायगा।

इसी प्रकार दहेज-प्रथा को वढाने और दहेज मागने वाले लोग भी भारी हिसा करते हैं। इस प्रथा ने समाज के जीवन को वहुत दूषित बना दिया है। यह प्रथा अनेक वार हिंसा को प्रेरित तथा उत्तेजित करती है। इस प्रसग मे मैं कभी-कभी एक घटना का जिक्र किया करता हूँ। वह दु खद घटना इस प्रकार है—

देहली मे एक अध्यापक थे, वेतन केवल ढाई सौ रुपया मासिक था। पत्नी तो थी ही, तीन कन्याएँ भी थी। देहली जैसा नगर और अल्प वेतन। गुजर-वसर कठिनाई से ही होता था। किन्तु किसी भी प्रकार से, कठिनाइयाँ झेलते हुए भी, उन्होने अपनी कन्याओ को अच्छी शिक्षा दिलाई थी। अव उनके सामने यह प्रश्न आया कि उन कन्याओ को किसके सामने सुपुर्द करे। उनका विवाह किस प्रकार किया जाय ? ढाई सौ रुपयों मे से तो कुछ वचत होने का प्रश्न था ही नही। अव विवाह का खर्च कहाँ से लाए तथा इस प्रकार घोर सामाजिक अभिशाप दहेज का प्रवन्ध कैसे करें ? कन्याएँ सभी प्रकार से सुयोग्य तथा सुशिक्षित थी, किन्तु सास-ससुर को देने के लिए, उनकी अर्थलोलुपता को सन्तुष्ट करने के लिए द्रव्य उन अध्यापक के पास नही था।

अत पति-पत्नी घोर चिन्ता मे डूबे रहते थे। प्राय. आपस मे चर्चा किया करते थे और समस्या का कोई समाधान खोजने का प्रयत्न करते थे किन्तु समाधान कोई होता तो निकलता ? इस प्रकार दु.खी होकर वे सिर पीटकर रह जाते थे। अपनी वच्चियो की ओर देख-देखकर रोया करते थे।

एक दिन वच्चियो ने अपने माता-पिता को गहन चिन्ता मे डूवा हुआ देखा और उनकी वातचीत भी सुनी। स्वाभाविक रूप से उनके कोमल हृदय पर इसमे वडी ठेस लगी।

एक दिन अवसर देखकर, जवकि माता-पिता दोनो ही घर से वाहर गये हुए थे, उन वच्चियों ने एक निश्चय किया और मिट्टी का तेल छिड़ककर आग लगाकर वे जल मरी।

वन्धुओ, वे कोमल, निष्पाप वालिकाएँ जो यह आत्मघात करके जल मरी, वह हिंसा किसके सिर पर है ? यह दायित्व किसका है ?

इतना ही नही घटना का अन्तिम चरण यह है कि वे पति-पत्नी जब घर लौटे और उन्होने यह दर्दनाक दृश्य देखा तब अपनी फूल जैसी कोमल बालिकाओ की इस दु खदायी मृत्यु को देखकर उनका हृदय हाहाकार कर उठा। अब उनके लिए इस जीवन का कोई अर्थ, कोई मूल्य नही रह गया था। परिणामत वे भी इस दु खी जीवन से हताश-निराश होकर उसी पथ के अनुगामी बन गये, जिस पथ पर उनकी पुत्रियाँ गई थी।

बन्धुओ! बालिकाओ ने सोचा कि हमारा जीवन माता-पिता के लिए आर्त्त-रौद्र ध्यान का विषय बन गया है। धार्मिक एव आध्यात्मिक ज्ञान के अभाव मे वे बेचारी आत्मघात जैसे पाप के मार्ग पर चली गई। उसी प्रकार माता-पिता भी इस दोष-सहित जीवन से ऊबकर जल मरे।

आज हमारे समाज एव देश की यह स्थिति है। कैसी विडम्बना हमारे जीवन मे भर गई है? कितना दोषमय हो गया है हमारा जीवन! आज का बुद्धिवादी वर्ग भी इस चक्र मे बुरी तरह पिस रहा है। यह सभ्य हिंसा हो रही है और हम कानो मे तेल डाल कर, आँखो पर पट्टी बाँधकर इस सामाजिक हिंसा को देख रहे हैं। मैं नही जानता कि आपके ब्यावर नगर मे ऐसा हो रहा है कि नही, किन्तु ससार मे यह हो रहा है, और यह घोर चिन्ता की बात है। यदि ऐसी स्थिति चलती रही, तो कौन-सा आध्यात्मिक लक्ष्य हम प्राप्त कर सकेगे? यह एक ऐसी सामाजिक कुरीति है, जिसके कारण आपका मन चचल बना हुआ है। इसका परिमार्जन करना अत्यन्त आवश्यक है। मैं कभी-कभी आपके सामने ऊँचे आदर्श की बात कह जाता हूँ। किन्तु हमारा आदर्श ही ऊँचा न होगा, तो हमारा जीवन ऊँचा कैसे उठेगा? जो ऊँचा पहुँचेगा, वह ऐसा जघन्य कर्म नही करेगा। अत अपने जीवन को शुद्ध बनाइये। लोभ और ईर्ष्या का त्याग करके ऊँचे आदर्शों को अपनाइये।[1]

मातृ-सस्कार-नारी जागरण

सामाजिक परिष्करण के सदर्भ मे नारी जाति के विकास एव दायित्व के विषय मे भी आचार्यश्री का अति स्वस्थ दृष्टिकोण है। आपका चिन्तन है कि जन-जीवन के सस्कारो का अधिकाश दायित्व माताओ-नारी जाति पर है। नारी, जैसा चाहे, ससार बना सकती है। ससार को स्वर्ग या नरक बनाना अथवा वसुन्धरा को वीर-पु गवो से सज्जित कर देना या कायरो की फौज तैयार कर देना, यह सब नारी पर आधारित है। अत. नारी का जीवन उस रंग की डिबिया और तूलिका के समान है जिसके द्वारा हम मनोवाच्छित नयनाभिराम रूप निर्मित कर सकते हैं। नारी-जागृति के प्रति उद्‌बोधन देते हुए आपके स्वर इस प्रकार मुखरित होते हैं।

१—ब्यावर चातुर्मास प्रवचन, शांति के सोपान, पृ० ३२–३५

कहा गया है कि एक माता सौ शिक्षको के बराबर होती है। एक शिक्षक भी अपने योग्य निर्देशन से विद्यार्थी का जीवन-निर्माण करता है, लेकिन बाल्यावस्था मे माता का उस पर जितना सीधा असर पडता है, उतना और किसी का नही। जीवन के अधिकाश सस्कार बालक को अपनी माता से मिलते हैं। ये सस्कार ही जीवन भर उसके प्रत्येक कार्य मे क्रियाशील बने रहते हैं। प्रारम्भ मे, यदि माता बच्चे के साथ अपने प्रत्येक व्यवहार मे पूर्णतया सतर्क रहे और ऐसा रहना स्वय माता की शिक्षा पर आधारित रहता है, तो बालक के जीवन की ढलान कुछ और साचे की बन जाती है। भय के सस्कार के साथ मे भी यही बात लागू होती है। "उस अन्धेरी कोठरी मे भूत है, बाबा तुझे पकड़ ले जायगा, डाकन तुझे खा जायगी।" आदि विविध वाक्यो से अगर माँ बच्चे मे काल्पनिक भय के बीज निरन्तर बोती रहती है, तो वही बच्चा जब बड़ा होता है, तो एक चूहे की खटक से भी पसीने से लथपथ हो जाता है।

जब इहलोक के भय के सस्कार ही इतने प्रबल होते हैं, तो परलोक के भय के सस्कार और उनकी आतुरता भी कम नही होगी। इस तरह के भय के सस्कार बच्चे की स्वाभाविक प्रकृति मे विकृति ला देते हैं। बच्चे की प्रकृति में चचलता रहती है। वह माता को सताता भी है, मगर सताने की भावना से नही। अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए वह सताता है। माता यदि योग्य होती है, तब तो वह उसकी आवश्यकताओ को यथासमय समझकर सम्यक् प्रकार से लालन-पालन कर देती है और बच्चे को स्वस्थ एव शान्त स्वभाव मे ढाल देती है, वरन् माताएँ बच्चे के मन मे सैकडो प्रकार के काल्पनिक भय बिठाकर उसे कायर, डरपोक और निकम्मा बना डालती है। बच्चे का चूँकि माता पर, पूरा-पूरा विश्वास होता है, इसलिए माता जो कुछ कहती है, उसे वह अपने मन, मस्तिष्क मे जमा लेता है। इस कोमल मस्तिष्क के एक बार जैसे भी सस्कार जम जाते हैं, उनको फिर उखाड देना दु साध्य नही तो अति श्रमसाध्य तो होता ही है।

जब ऐसे सांचे मे यानी कि सस्कारहीन अथवा यो कहिये कि कुसंस्कारो के साचे मे निरन्तर बालको को ढाला जा रहा हो, तो उनका भविष्य क्या होगा। वे बड़े होकर अपने गृहस्थाश्रम मे भी जब असफल होते रहेगे, तो धर्म-क्षेत्र मे इनसे क्या आशाएँ हो सकती हैं? क्योकि जीवन को कही भी सफलता दिलाने वाला मुख्य गुण निर्भयता होता है। निर्भय व्यक्ति संसार के कार्य करेगा, तो अपना शौर्य दिखायेगा। और वही जब धर्म के क्षेत्र मे भी प्रवेश करेगा, तो अपनी निर्भयता से वहाँ भी असम्भव को सम्भव करके दिखा देगा।[१]

एक प्राचीन कथा है। एक वीर क्षत्रिय पुत्र ने अपनी माता से प्रश्न

१—मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० ११८—१२०

किया—"हे मातेश्वरी, एक रुपया खर्च करने से नौ सौ रुपयो का मुनाफा मिलता है, एक तत्त्व जानने से नौ सौ गुणा लाभ होता है, तो उस व्यापार को मुझे करना चाहिए अथवा एक के बचाने से एक की रक्षा मात्र का काम मुझे लेना चाहिये ?" प्रश्न समुच्चय था। काश, वैसा प्रश्न आपके सामने भी आ जाय तो आप क्या करेंगे ? खैर माता ने उत्तर दिया—एक को देने पर नौ सौ गुना लाभ हो तो वह करना चाहिये। वीरपुत्र ने माता को प्रणाम किया और प्रस्थान करने से पूर्व बोला—"माताजी, मैं भले ही इकलौता पुत्र हूँ, किन्तु इस समय एक स्थान पर नौ सौ दम्पति सकट से घिरे हुए हैं। उनको अपनी जान की बाजी लगा कर भी खतरे मे से निकालने के लिए मैं जा रहा हूँ। एक को छोड रहा हूँ, मगर नौ सौ को रख सकूँगा।"

माँ चौक पडी और आँसुओ से आँखे भरकर बोली, "पुत्र यह कैसी पहेली तुम बुझा रहे हो ?" पुत्र ने स्पष्ट करते हुए कहा—"माँ, यहाँ के महाराजा ने जीवन भर सत्ता और सम्पत्ति का भरपूर भोग किया है, फिर भी अब वे जब रोगग्रस्त हो गये है और असाध्य रोग से पीडित हैं, तो एक तान्त्रिक की राय से वे नौ सौ नव-दम्पतियो के ताजे रक्त मे स्नान करके स्वास्थ्य लाभ करना चाह रहे है। इस हेतु नौ सौ नव-दम्पतियो को पकडवा कर कारागार मे बन्द कर रखा है और कल उन्हे मार कर राजाजी के स्नान के लिए रक्त पहुँचाया जायगा। मैं इन नौ सौ दम्पतियो की रक्षा करना चाहता हूँ—यह जानकर भी कि उसके बाद मुझे अपने प्राणो से हाथ धोना पडेगा। इस कारण मैंने आपसे यह अनुमति माँगी है, कोई पहेली नही बुझाई है।"

वीरपुत्र की वह वीरमाता थी। उस वीरमाता के समक्ष अपने जीवन का भी प्रश्न था, किन्तु न्याय और नीति को वह समझने वाली थी। उसने नि सकोच अपनी आज्ञा देते हुए भलावण दी, "हे लाल, तूने मेरी कोख से जन्म लिया है और इस समय, जबकि तू अपने जीवन का बलिदान नौ सौ दम्पतियो की जीवन-रक्षा के लिए करने जा रहा है तो मुझसे अधिक हर्षित और कौन हो सकेगा ?" उस माता के हृदय मे निर्भयता थी, तो उसने अपने बच्चे को भी निर्भयता की ही घुट्टी दी। वीर पुत्र को उसने वीरतापूर्ण कार्य के लिए निर्भयतापूर्वक जाने दिया।

सुनसान मध्यरात्रि मे उस वीर पुत्र ने जाकर कारागार के द्वार खोल दिये और उन नौ सौ दम्पतियो को मुक्त कर दिया। किन्तु इसके बाद वह भागा नही, स्वय कारागार पर खडा हो गया। प्रात काल जब राजा को इसकी सूचना मिली तो वह क्रोधित हो उठा। उसने पूरी सेना की टुकडी उस वीरपुत्र को पकड लाने के लिये भेजी। वह वीर-पुत्र उससे सघर्ष करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ। कहा जाता है कि आज भी उस स्थान को हिन्दू और मुस्लिम

दोनो आदर की नजर से देखते हैं, जहाँ उस वीरपुत्र का सिर लडते-लडते धड से कटकर गिरा था।

यह तो एक रूपक है। किन्तु जब तक माताएँ ऐसे निर्भय सस्कार अपने बालको मे नही भरेगी और वीरपुत्रो का निर्माण नही होगा, तब तक सामूहिक जीवन मे से भय को उखाडकर फेका नही जा सकेगा। आप मे से प्रत्येक को यह देखना है कि क्या आपके घरो मे बच्चो पर निर्भयता के सस्कार डाले जाते है ? क्या ये बहिने स्वय निर्भयता का भाव रखती है और अपने बालको को भी निर्भय बनाना चाहती है? वह वीरपुत्र तो नौ सौ दम्पतियो की रक्षा के लिये खेत रहा, किन्तु जहाँ न्याय और नीति का प्रश्न अडा हुआ हो, वहाँ चाहे एक की भी रक्षा का सवाल हो तब भी और जहाँ छ· काया की रक्षा के रूप मे अरबो-खरबो प्राणियो की रक्षा की स्थिति हो तब भी आपकी सतान ऐसी होनी चाहिए, जो सर्वस्व त्यागकर भी निर्भयता का रग दिखावे। ऐसी सन्तान ही असभव को भी सभव करके दिखा सकती है।

किन्तु आज तो माता-पिता का मानस भी कुछ दूसरे ही प्रकार का हो रहा है। यदि कोई बच्चा धार्मिक सस्कार लेने की दृष्टि से सन्तो के पास जाता है और छ काया की रक्षा करने की दृष्टि से निर्भयता दिखाकर वीर बनना चाहता है, तो उसे माता-पिता रोकना चाहते है। यह सस्कारो की ही कमी है। निर्भय बनना चाहने वाले ऐसे पुत्र को तो और अधिक निर्भयता की शिक्षा दी जानी चाहिये कि वह वीर बनकर आध्यात्मिक क्षेत्र मे असभव को सभव कर दिखावे।[1]

माता-पिता और सन्तान तक के बीच आज के युग मे जिस प्रकार कर्तव्य-निष्ठा का अभाव दिखाई दे रहा है, यह स्थिति वास्तव मे अतीव शोचनीय है।

माता-पिता और सन्तान के परस्पर कर्तव्य

देवकी रानी को जिस मुख्य बात का सन्ताप हुआ, वह यह थी कि वह उन छः पुत्रो को जन्म देकर भी उनके साथ अपने मातृत्व के कर्तव्यो का निर्वाह नही कर सकी। वह कर्तव्यनिष्ठा की दृष्टि से ही दूर रही थी यदि वे छहो पुत्र उसकी गोदी मे खेलते और बडे होते, तो वह भी उनके उच्च सस्कारो के निर्माण की भागीदार हुई होती। क्या आज माताओ को सन्तान के प्रति अपने इस मूल कर्तव्य का भान है कि उन्हें प्रारम्भ से ही अपने बालक-बालिकाओ को जीवन-निर्माण की कला सिखानी चाहिये। माता का इतना ही कर्तव्य नही है कि वह शरीर के लोथडे के रूप मे केवल सन्तान को जन्म दे दे, बल्कि उसके

१–मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० १२२–१२४

शरीर-गठन के सिवाय श्रेष्ठ सस्कारो एव पवित्र भावनाओ की अमिट छाप भी उसके मन एव मस्तिष्क पर डालने का उसका प्रधान कर्तव्य होता है ।

माता-पिता का ही प्रमुख प्रभाव होता है कि सन्तान का आन्तरिक सस्कारो से ओत-प्रोत आदर्श जीवन बन पाता है । ऐसी एक ही सन्तान हो, तब भी वह परम हितकर होती है । लेकिन माता-पिता अपने मोह मे फँसे रहे और सन्तान की शिक्षा-दीक्षा के प्रति बेमन रहे, तो वैसी कई सन्तानें भी उन्हे शान्ति नही पहुँचा सकती है ।

इसी सिक्के का दूसरा पहलू भी उतना ही चिन्तनीय है । लडके कुछ पढकर या व्यवसाय मे जमकर योग्य होते है, कुछ सम्पत्ति का सचय कर लेते है, तो अपने आप को कुछ-का-कुछ समझने लग जाते है और माता-पिता की तनिक भी परवाह नही करते । उनको माता-पिता के प्रति सामान्य से कर्त्तव्यो का भी ख्याल नही रहता । मेरे अनुभव की ही एक बात सुनाऊँ । एक स्थान पर मैं पहुँचा तो लकडी के सहारे बडी कठिनाई से चलकर एक वृद्धा वन्दन करने आई । उसने बडे करुण स्वर मे कहा, "महाराज ! क्या कहूँ, मैं बहुत दु खी हूँ ।" मैंने उत्सुकतावश पूछा, "क्या हुआ माजी, आपको ?" वृद्धा बोली, "मेरी सेवा करने वाला कोई नही है, महाराज !" बाद मे खोज करने पर पता चला कि उस वृद्धा के चार नौजवान व कमाऊ पुत्र हैं । किन्तु सभी अपनी-अपनी पत्नियो के साथ अलग-अलग रहते हैं और वृद्धा माता की तरफ कोई देखता भी नही । यह ससार की बडी विचित्र स्थिति है ।

आज का इन्सान बडी-बडी डीगें मारता है, मगर छोटे-छोटे कर्त्तव्यो को भी भुला देता हे । बहुतेरे भाई-बहिन लम्बे-चौडे ज्ञान की चर्चा कर लेंगे । तेला, चोला व मासखमण तक की तपस्या कर लेगे, किन्तु परिवार, समाज, राष्ट्र या विश्व के प्रति अपने सामान्य कर्त्तव्यो का भी ध्यान नही रखेंगे । यह कितनी विषम स्थिति है । ऐसा सम्भव है कि कई भाई-बहिन तेला करके लालसा रखते होगे कि जैसे श्रीकृष्ण के तेला करने पर देव आया था, वैसे हमको भी देव दर्शन दे और हमारा मनोरथ पूरा करे, किन्तु ऐसी लालसा के पहले श्री कृष्ण की कर्त्तव्यनिष्ठा का शताश तो अपने अन्दर पैदा कीजिये ।

एक माता : हजार शिक्षक

कहावत है कि एक माता की शिक्षा बच्चे के लिये हजार शिक्षको के बराबर होती है । माता कर्त्तव्यनिष्ठ रही, तो यह बहुत कम होगा कि उसकी सन्तान कर्त्तव्यनिष्ठ न बने, क्योकि बचपन मे डाले गये सस्कारो का पूरे जीवन तक अमिट असर बना हुआ रहता है । वीर क्षत्राणियाँ पालने मे जब अपनी सन्तानो को वीर रस की लोरियाँ सुनाया करती थी, तो उस रूप मे सस्कारित

उनकी वीर सन्ताने भी ऐसी होती थी कि केसरिया वाना धारण करके वे युद्ध-क्षेत्र मे कूदा करते थे तो सिर कट जाने पर भी उनका धड घण्टो तक तलवार घुमाता रहता था। ऐसे वीर जुझारू कहे जाते हैं। वैसी वीरता की भावना जगानेवाली और बालक मे शौर्य के अपूर्व सस्कार भरनेवाली लोरी की कुछ पक्तियाँ देखिये—

बाळो पाँखाँ बाहिर आयो माता बैन सुणावे यूँ
मारी कूख सराहिजे रे बाळा मैं तने सकरी घूँटी दूँ
तेज कटारी नाळो मोड्यो मोडत नाळो बोली यूँ
वेर्‌या की फौजाँ मे जाजे, सत्य विजय कर आइजे तूँ
गोदी सूतो बाळो चूखे माता वैन सुणावे यूँ
धोळा दूध मे कायरता को काळो दाग न लाइजे तूँ
सोन पाळणे बाळो झूले झोटत झोटत बोली यूँ
इतरी बार हिलाइजे पृथ्वी, मैं थने जितरा झोटा दूँ।

कहने का अभिप्राय यह है कि बालक मे कर्त्तव्यनिष्ठा की शिक्षा माता के दूध से ही प्रारम्भ होनी चाहिये। चरित्रशील व्यक्तित्व के निर्माण की आधार-शिला यही रखी जाती है। ससार और धर्म—दोनो क्षेत्रो मे देदीप्यमान जीवन की सृष्टि करने वाली सर्वप्रथम भूमिका मे माता ही होती है। प्राचीन काल मे माताएँ अपनी सतान को कहती थी—

"सिद्धोसि बुद्धोसि निरजनोऽसि · "

और वह सन्तान वास्तव मे राम, कृष्ण, महावीर और बुद्ध बन जाती थी। मदालसा महारानी एक आदर्श माता के रूप मे विख्यात है, जिन्होने हर्षपूर्वक अपने सातो पुत्रो को दीक्षित बना दिया।

आज की माताओ को इस सत्य की ओर ध्यान देना है तथा स्वय कर्त्तव्यनिष्ठ बनकर अपनी सन्तान मे कर्तव्यनिष्ठा को जगाना है। आज तो वे स्वय इतनी अज्ञान है कि वच्चो मे शुरू से डर और कायरता के सस्कार भरती हैं, जिससे वडे होकर वे भ्रष्ट, कर्तव्यहीन एव अनैतिक गृहस्थो का रूप लेते है। ऐसी सन्तान से भला किसका भला हो सकता है ?[1]

नारी और अलंकरण

नारी-जागरण के सदर्भ मे ही जहाँ एक ओर आचार्य श्री अतीत का साँस्कृतिक चित्र महिलाओ के लिए खीचते है, वही वे वर्तमान के भौतिक

१-जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावस प्रवचन, पृ० १६१–१६३

सौन्दर्यात्मक आकर्षण मे डूबी नारी को जीवन के मौलिक सौन्दर्य का दर्शन-बोध भी कराते है। आज की नारी के भद्दे प्रदर्शनो पर उनके उद्‌बोधनात्मक तीक्ष्ण स्वर है—

जिस मनुष्य के भीतर आत्मिक शाति का सचार होता है, उसे फिर किसी बाहर की वस्तु की अपेक्षा नही रहती। बाहर की समस्त वस्तुएँ, दिखावे और शान-शौकत के सभी पदार्थ उसके लिए निरर्थक हो जाते है। वह सादगी के मूल्य को समझने लगता है और उसमे उसे अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है। उसके भीतर से भौतिकता के, पाशविकता के सस्कार लुप्त हो जाते है, तथा ऐसी भावना उसके हृदय मे व्याप्त हो जाती है जिससे समस्त मानवो का कल्याण हो।

आज तो परिस्थिति विषम बन गयी है। मनुष्य फैशन मे इस प्रकार डूब रहा है कि उसे सच्चे सुख का आभास भी अब नही रहा। यहाँ तक कि पवित्र धार्मिक स्थलो पर भी आकर उसके दिमाग से शृ गार और प्रसाधन का भूत दूर नही होता। इस प्रकार धर्मस्थान मे बैठकर भी वह दोष-रहित न होकर, दोष सहित होता है। हमारी ये माताएँ यहाँ धार्मिक स्थल पर होती है, धर्म के वचन सुनने आती है किन्तु तरह-तरह के शृङ्गार करके, आभूषणो से लदकर, बहुमूल्य जरी-गोटे के वस्त्र धारण करके आती है। ऐसी स्थिति मे उनका सारा ध्यान तो अपने शृङ्गार पर ही टिका रहता है। तब वे धर्म का उपदेश कैसे सुनेगी ? धर्मस्थान मे आकर सादगी का जीवन अपनाना चाहिए, सरलता और शुद्धतारूपी आत्मिक सौदर्य को बढाना चाहिए, जो कि मनुष्य का वास्तविक शृङ्गार है, सच्ची शोभा है। लेकिन वे ऐसा नही करती। सजधज कर आती है और अपना सारा ध्यान इसी बात मे लगाये रहती है कि मेरे वस्त्राभूषण कितने सुन्दर है, इन्हे दूसरी स्त्रियाँ देख रही है या नही ? इन सब बातो मे डूबने से उनमे आपस मे ईर्ष्यावृत्ति जागृत होती है, पाप की भावना का उदय होता ह। इस प्रकार दोष-रहित जीवन के स्थान पर उनका स्थान दोष-सहित बन जाता है।

अन्य माताएँ जिनके पास इतने मूल्यवान वस्त्राभूषण नही होते, वे यहाँ बैठी-बैठी यह चिन्तन किया करती है कि मेरे पास ये वस्तुएँ क्यो नही है ? अब घर जाकर मैं अपने पतिदेव से कहूँगी कि वे मेरे लिए भी इन वस्तुओ को लाएँ। भला मैं क्या किसी से कम हूँ ? इस प्रकार की भावना लेकर जो माताएँ-बहिनें यहा बैठेंगी, वे धर्म का उपदेश क्या सुनेगी ? घर जाकर पतिदेव से कहेगी कि कुछ भी करिए, लेकिन मेरे लिए भी वैसे ही गहने बनवाइये, जैसे कि औरो के पास है। इसके लिए आपको चाहे जो कुछ करना पडे। भले ही आप अनीति से रुपया कमाओ, भले ही आपका यह मानव-जीवन नष्ट हो जाय तथा आपको

नरक मे ही क्यो न जाना पडे, किन्तु मुझे तो गहने चाहिए। इस प्रकार से वे धार्मिक स्थल पर आकर भी अपने जीवन को दोष-सहित बनाती रहती है तथा अन्य लोगो के जीवन को भी दोष-सहित बनाती है।[१]

राष्ट्र धर्म बनाम राष्ट्रीय चरित्र

आधुनिक युग का सर्वाधिक ज्वलत प्रश्न है राष्ट्रीय चरित्र की सुरक्षा का। आज राष्ट्रीय चरित्र पतन की पराकाष्ठा पर पहुँच रहा है। क्या राजनीतिज्ञ, क्या समाजशास्त्री तथा क्या अर्थशास्त्री, सभी का मानस अपने राष्ट्र की शोचनीय अवस्था से चिंतित है। भारत के अतीत के साँस्कृतिक मानचित्र को उठाकर देखें तो पता चलेगा कि तत्कालीन भारत का क्षेत्रफल कितना विशाल एव विराट था। आज का पाकिस्तान ही नही, उससे भी सुदूर काबुल के अतिम किनारो तक भारतीय जन-जीवन था। भौगोलिक दृष्टि से ही उस युग का भारत विस्तृत एव महान् नही था, अपितु विचारो की उच्चता मे, सभ्यता मे अपनी सस्कृति तथा धर्म के विस्तार मे भी विराट् व महान् था। उस युग के भारत की देह भी विराट् थी और आत्मा भी। किन्तु आज का भारत, कहने से शब्द कतराते है। शरीर से भी उसकी परिधि घटती जा रही है और वैचारिक परिवेश मे भी वह छोटा होता जा रहा है।

किसी देश की विराटता एव महानता तत्रस्थ सुविस्तृत मैदान, गगन-चुम्बी अट्टालिकाओ तथा जन-जीवन के विस्तार से नही होती है, प्रत्युत विराटता का आधार वहाँ की साँस्कृतिक एव धार्मिक चेतना है।

आज हम अपनी राष्ट्रीय चेतना की ओर दृकपात् करते है, तो बरबस आँखे छलछला आती है। एक पाश्चात्य विचारक के शब्दो मे कहे, तो भारत का सर्वस्व लुट चुका है, क्योकि—

When wealth is lost, nothing is lost
When health is lost, something is lost
When character is lost, all is lost

अर्थात् चारित्रिक पतन के पश्चात् मानव का अपने पास बचता ही क्या है ?

इस उपर्युक्त परिस्थिति मे एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि धर्म-गुरु एव धर्मोपदेशक राष्ट्रीय चरित्र के उन्नयन मे अपना क्या योगदान दे सकते है ?

१—[illegible], शान्ति के सोपान, पृ० २८–२९

प्रश्न कुछ अटपटा है, क्योकि आज धार्मिक परिवेश को वैयक्तिक घेरे मे बन्द कर उसे राष्ट्रीयता से अलग ढकेल दिया गया है। वास्तव मे व्यक्ति का अस्तित्व राष्ट्रीयता के अभाव मे नही रह सकता है। अत राष्ट्रीय चरित्र का व्यक्ति पर और वैयक्तिक आचरणो का राष्ट्र पर प्रभाव अनिवार्य है।

हमारे राष्ट्रीय चरित्र की भूमिका कैसी होनी चाहिए ? राष्ट्र मे समन्वय भावना का विस्तार कैसे हो ? इस बात को आचार्य श्री ने आगम सम्मत राष्ट्र-धर्म के सन्दर्भ मे प्रस्तुत किया है। यह राष्ट्र के प्रत्येक कर्णधार के लिए मननीय है। इसमे पुरातनवादी धर्मोपदेशको के लिए भी चिंतन का द्वार उद्घाटित होता है कि धर्मोपदेशको पर भी राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण मे कितनी अपेक्षाएँ-जिम्मेदारियाँ होती है। आचार्य श्री के निम्न प्रवचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राष्ट्रीय चरित्र के पतन के प्रति उनकी कितनी दर्दभरी आवाज है। वे एक अध्यात्म-प्रवक्ता होकर राष्ट्रीय चरित्र के प्रति कितने सजग हैं।

आधुनिक युग मे समस्त प्रकार के समूहो मे सर्वाधिक विकसित, व्यवस्थित एव शक्तिशाली समूह राष्ट्र को माना जाता है। इसलिए राष्ट्र-धर्म की व्याख्या से नागरिक एव राष्ट्र के पारस्परिक अधिकारो एव कर्त्तव्यो के बोध के जरिये दोनो के पारस्परिक विकास का स्वरूप भी भलीभाति समझा जा सकेगा तथा इस प्रकार के विवेचन का ही दूसरा नाम राष्ट्रधर्म है। इसी के सन्दर्भ मे राष्ट्र, ग्राम, नगर, समाज, आदि समूहो के प्रसग मे व्यक्ति या नागरिक के विविध धर्मों याने कर्तव्यो का लेखा-जोखा भी सम्यक् प्रकार से समझा जा सकता है।

यद्यपि राष्ट्र की राजनीतिक व्याख्या के अनुसार सीमाबद्ध भूमि, सर्वमान्य राज्यतत्र एव एक राष्ट्रीयता का होना राष्ट्र के अस्तित्व के लिए आवश्यक है। किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीयता है जो सभी नागरिको की समभावना की आधारशिला पर टिकी हुई रहती है। किसी भी राष्ट्र की उसकी राष्ट्रीयता की भावना भूमि-रूप होती है, तो उसका राष्ट्रधर्म प्रगति का पथ नही पा सकता। राष्ट्रधर्म का स्वरूप और राष्ट्रीयता की भावना आसमान से नही टपकती बल्कि एक-एक नागरिक के हृदय मे जागत होकर फलती-फूलती है तथा एक सामूहिक शक्ति के रूप मे ढलती है।

राष्ट्रधर्म इस दृष्टिकोण से राष्ट्र मे रहने वाले समस्त नागरिको से सबधित होता है। व्यक्ति अपनी अतर-चेतना को लेकर जिस भू-मडल पर अपना अवस्थान रखता है, छोटे क्षेत्र के उन सभी व्यक्तियो का समूह मिलकर ही तो ग्राम की रचना करता है। गाँवो से ही व्यावसायिक, औद्योगिक एव अन्य सुविधाओ के विस्तार की दृष्टि से नगरो का निर्माण होता है। चूँकि स्वतन्त्र रूप से ग्रामो और नगरो का आत्मनिर्भर हो पाना सरल नही होता तथा दूसरे

यह सब मिलकर जिस प्रकार की एकीकृत सभ्यता एव सस्कृति का निर्माण करते हैं, उसकी रक्षा की दृष्टि से भी जो एक शक्तिशाली एव समन्वित भूखड बनता है, उसे ही राष्ट्र के रूप मे देखा जाता है। किन्तु मूल रूप मे राष्ट्र केवल भूमि नही, क्षेत्र विशेष नही वल्कि एक भाव विशेष ही होता है, जो उसके पीछे चलने वालो को सस्कृति एव सभ्यता के एक सूत्र मे आबद्ध करके प्रगति की स्वस्थ एव विशिष्ट दिशा की ओर मोडना चाहता है।

इस भाव-विशेष के व्यवस्थित एव व्यावहारिक रूप को ही राष्ट्रधर्म कहा जा सकता है, जिसका ढलान एक-एक नागरिक के अन्तर मे रहे हुए सत्, चित् और आनन्द के विकास और विकृति के आधार पर बनता और विगडता है। इस कारण व्यक्ति के विकास के लिये जैन-दर्शन मे जो सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के विकास का निर्देश दिया गया है, उसे ही यदि राष्ट्रीय जीवन के लिये स्वीकार्य निर्देश बना लिया जाय तो राष्ट्र का मुक्ति-मार्ग भी निर्वाध और निष्कटक बन सकता है।

'ठाणागसूत्र' मे दस प्रकार के धर्मों का प्रतिपादन करके फिर राष्ट्रधर्म को परिभाषित किया है। सूत्र का पाठ इस प्रकार है—

"दस विहे धम्मे पण्णत्ते तजहा—गाम धम्मे, नगर-धम्मे, रट्ठधम्मे, पाखड-धम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, सघधम्मे, सुत्तधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे एव।"

ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि के निर्देश के वाद श्रुतधर्म और चारित्रधर्म आदि का निर्देश किया गया है। ग्राम, नगर एवं राष्ट्रधर्मों को पहले रखने का अभिप्राय यही है कि जब ये धर्म निष्ठापूर्वक पाले जायेगे और इनका रूप व्यवस्थित होगा, तभी जाकर श्रुत, चारित्र आदि धर्मों का पाला जाना सुविधाजनक बन सकेगा। जब ग्रामधर्म, नगरधर्म एव राष्ट्रधर्म की व्यवस्था सुघड बनती है, तभी उस राष्ट्र मे रहने वाले साधक अपनी सभी प्रकार की साधना को सही तौर पर आगे वढा सकते है। जिस गाँव मे साधक विचरण करे यदि उस ग्राम की स्थिति अराजकतापूर्ण हो, तो क्या वह साधक निर्भय होकर अपनी साधना मे निरत रह सकेगा? इसी प्रकार नगर व राष्ट्र की सुव्यवस्था अथवा दुर्व्यवस्था साधना के लिये सुविधाजनक अथवा दुविधाजनक वातावरण का निर्माण करती है।

ग्राम, नगर अथवा राष्ट्र तथा उसके नागरिको के बीच के संबध निश्चित रूप से एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। नागरिक अच्छा होगा तो राष्ट्र अच्छा बनेगा तथा राष्ट्र अच्छा होगा तो नागरिक की अच्छाई भली प्रकार से पनप सकेगी। व्यक्ति का समूह पर, और समूह का व्यक्ति पर असर पडता ही

है। इसी पारस्परिक असर को सुचारु एव सुनियन्त्रित बनाने का प्रभावशाली साधन है धर्म, जो ग्राम, नगर एव राष्ट्र के लिए नागरिक के पालनार्थ बताया गया है। धर्म वैसे भी कर्तव्य का ही दूसरा नाम होता है तथा ग्राम, नगर व राष्ट्रधर्मों के रूप मे ग्राम, नगर एव राष्ट्र के प्रति नागरिको के कर्तव्यो का ही विवेचन किया गया है, जिसका एकमात्र उद्देश्य यह है कि व्यक्ति व समूह के बीच ऐसा सुन्दर सामजस्य बना रहे है कि दोनो घटक परस्पर प्रगति के सहयोगी बन सके।

इस विश्लेषण के सन्दर्भ मे आप अपने राष्ट्र की ओर एक विहगम दृष्टि डालिये। यह भारतभूमि दार्शनिक धाराओ, सस्कृति व सभ्यता की जन्मस्थली रही है। यही से जागरण-सन्देश सारे विश्व मे फैला। इसी धरती पर जिस उत्कृष्ट कोटि के महापुरुप जन्मे तथा जिस प्रकार के उन्नायक साहित्य का सर्जन हुआ, वैसी महत्ता अन्य राष्ट्रो के इतिहास मे कम दिखाई देगी। किन्तु यही राष्ट्र लम्बे समय तक विदेशी शासन की गुलामी मे डूबा रहा, तब से इसकी आत्मा शिथिल हो गई। यहाँ के नागरिक आत्म विस्मृत होकर विकृतियो के घेरो मे फँसते रहे और अपनी अर्जित प्रतिष्ठा को खाते रहे। इसका कुपरिणाम यह हुआ कि राजनीतिक स्वतत्रता भी इस देश को जो मिली, वह भी इस देश के कृत्रिम विभाजन एव जर्जरता की बुनियाद पर।

भारत राष्ट्र के जब हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रूप मे भाग किये गये तब क्या इन दोनो भागो मे ऐसी अनुकूल परिस्थितियाँ थी, जिनमे साधक सुविधा से अपनी साधना साध सकता ? जीवन की कडियो तक को ठीक से बनाये रख सकता था ? आपने सुना होगा और सभव है कि कइयो ने देखा और भुगता होगा कि इस विभाजन के समय पशुता का कैसा नगा नाच हुआ था। लोगो के इधर-उधर आने-जाने और कष्ट भुगतने की रोमाचक कहानियाँ आज भी किसी श्रोता को सहज ही मे रुला सकती है। इस दुर्व्यवस्था मे समझने का बिन्दु यह है कि जहाँ राष्ट्रधर्म की स्थिति बिगडती है, वहाँ आध्यात्मिक शक्तियो का सहज विकास बाधित होता है और जहाँ चरित्र एव नैतिकता की स्थिति भ्रष्ट बन जाती है, वहाँ सबके लिये समान सुख से रहने लायक वातावरण भी समाप्त हो जाता है। राष्ट्र के नागरिको को इस दशा मे राष्ट्रधर्म को समझने एव पालने की आवश्यकता होती है।

राष्ट्रधर्म का समझना कहाँ हो सकता है ? क्या सिर्फ दिल्ली मे बैठकर कुछ कानून बना देने मात्र से देश मे परिवर्तन आ जायगा तथा राष्ट्रधर्म का सर्वत्र पालन होने लग जायगा ? बुराई को दबानेवाले और अच्छाई को पनपाने वाले कानून बनें—यह अच्छी बात है। किन्तु कानून का पालन करवाना आसान नही होता। यह सिर्फ व्यवस्था का ही प्रश्न नही है, स्वय कानून निर्माताओ

एव शासको के अपने चरित्र एव आचरण का प्रश्न सामने आता है। स्वय कानून बनाकर उसके प्रति स्वय कितनी और कैसी निष्ठा रखते हैं, आखिर उसी का तो प्रभाव सामान्य-जन पर पड़ेगा। प्राय देखा जाता है एक कानून वनता है, फिर दूसरा बनता है। बार-बार सशोधन व परिवर्तन होते रहते हैं। इनके पीछे हमेशा कोई हितकारी आधार नही होता, सत्तास्थितो के स्वार्थों को पूरा करने के लिये भी ऐसा किया जाता है।

जहाँ सत्ता को सेवा का साधन न बनाकर स्वार्थों को पूरा करने का साधन बना दिया जाय, तो क्या वहाँ राष्ट्रधर्म टिक सकता है ? क्या वहाँ सभी के चरित्र मे विकास सभव रहता है ? क्या वहाँ की स्थिति धार्मिक एव सदाचारमय बनी रह सकती हैं ? यहाँ देश मे रहने वाले अगर इस राष्ट्रधर्म के नाम से अलग-अलग स्थितियाँ लेकर चले, वर्गहितो एव क्षेत्र-हितो को प्रमुखता देकर राष्ट्रीयता की अवमानना करें, धर्म के नाम पर कटुता फैलावें अथवा दलीय स्वार्थों मे लिप्त बनकर जनहित को तिलाजलि देते रहे, तो क्या वहाँ राष्ट्रधर्म टिक सकता है ? जहाँ नागरिक राष्ट्र के प्रति अपने कर्तव्यो को भुला दे और राष्ट्रीय सत्ता के सचालक जनसाधारण के प्रति अपने कर्तव्यो को ठुकरा दें, तो वहाँ राष्ट्रधर्म का अभाव है—ऐसा मानने मे कोई आपत्ति नही है।

विदेशी शासन की गुलामी मिटे भी इस देश मे पसीस वर्ष पूरे होने जा रहे हैं और स्वतत्रता के इन पैंतीस वर्षों मे भी यदि यहाँ राष्ट्रधर्म की स्थापना नहीं की जा सकती है, तो यह स्थिति किसी भी वर्ग के लिये शोभाजनक नही है। सच पूछा जाय तो राष्ट्र मे यह कैसी स्वतन्त्रता है ? देश मे, व्यक्तियो मे हो या दलो मे—इस अर्से मे सत्ता की लिप्सा ने ऐसा ताडव दिखाया है कि सिर्फ राजनीति ही सबके सिरो पर हावी होती चली जा रही है। सत्ता भोग हो गई और व्यवसाय बना दी गई। सेवा लुप्त हो गई और भुला दी गई। इसका प्रभाव यह हुआ कि सभी जगह सच्चे और खरे लोगो की उपेक्षा हो रही है तथा अवसरवादियो की बन आई है। अवसरवादी सिर्फ अवसर का अपने लिये ही लाभ उठाना जानता है, उसे न पडौसी से कोई सरोकार, न ग्राम, नगर या देशवासी से। जब अवसरवादी सत्ता की ऊँची कुर्सियो पर बैठ जाय, तो इसके सिवाय हो ही क्या सकता है कि सार्वजनिक हितो की भरपेट अवहेलना हो। ऐसी अवस्था मे राष्ट्रधर्म का पालन तो दूर रहा, उसका साधारण निर्वाह तक भी कैसे हो सकता है ? यह लिप्सा और वासना का रूपक सुव्यवस्था का शत्रु ही सिद्ध होता है।

राष्ट्रीय चरित्र के विकास के साथ आज आवश्यकता है—ग्राम और नगरो मे सुव्यवस्था स्थापित करने की। यह राष्ट्रधर्म की निष्ठा के आधार पर ही स्थापित हो सकती है। नीचे के घटक सुधर गये, तो समझिये कि राष्ट्र सुधर

जायगा । शासन को चलाने वाले व्यक्ति सुधर गये तो व्यवस्था सुधर जायगी । किन्तु यदि कोई समन्वय की भावना के स्थान पर पृथक्त्व की भावना लेकर चले और कहे कि राष्ट्र मे सुधार नही हो रहा है इसलिये राज्यो और नगरो को अलग कर लो, तो क्या वहाँ राष्ट्र रह जायगा ? नगरो को ग्रामो से पृथक् कर दो, तो क्या उसकी बुनियाद तक नही हिल जायगी ? ग्राम से वहाँ के व्यक्तियो को अलग कर दो, तो ग्राम का क्या रूप रह पायगा ? सबसे ऊपर यह तथ्य चिन्तनीय है कि उन व्यक्तियो को उनकी सच्चरित्रता, नैतिकता और आत्म-चेतना से पृथक् कर दो, तो क्या शेष रह जायगा ? क्या मुर्दा शरीरो का ढेर कलेवरो का समूह मात्र नही ? आत्मशक्ति जहाँ के नागरिको मे नही बचती, तो न राष्ट्र बचता है और न राष्ट्रीय चरित्र ।

आप इस नक्शे को समझने का प्रयत्न करें कि राष्ट्र की आत्मा कहाँ बसती है । ये ऊपर मैंने जो कडियाँ बताई हैं, यह जब पूरी शृंखला के रूप मे जुडी हुई रहती है तब तक तो सब ठीक रहता और चलता है, मगर जब ये कडियाँ टूटने लगती है, तो राष्ट्र और राष्ट्रीयता ही नही टूटती, व्यक्ति और उसकी आत्मशक्ति भी टूटती है । इन कडियो के क्रम से चले तो समझ मे आता है कि राष्ट्र की आधार शिला एक-एक नागरिक की आत्म-चेतना और आत्म-शक्ति पर टिकी हुई है । यदि पिंड मे रहने वाली चेतना सजग और शुद्ध है, तो वह ज्ञान और शुद्धता राष्ट्र की सुन्दर सीमा तक प्रसारित हो जायगी । बाहर के आडम्बरो से न व्यक्ति बनता है और न राष्ट्र । ऊपर की टीमटाम से कोई यह मान ले कि वहाँ सबको अपने-अपने धर्म का भी पूरा खयाल है तो यह भ्रान्त धारणा ही साबित होगी । बिना जड के पौधे पर कागज के फूल ही लगाये जा सकते हैं, असली फूल खिलाये नही जा सकते हैं । जड की रक्षा से ही फूल-पत्ते हरे-भरे रह सकते है ।

कल्पना करें कि एक माली अपने बगीचे मे आम्र-वृक्षो को पनपा कर उसके फल चखना चाहता है । इधर आम की मंजरियाँ आने लगी, और उधर टहनियाँ सूखने लगी । माली सोचता है कि टहनियाँ सूख जायेगी तो वह फल चखने से वंचित रह जायगा । इसलिए वह टहनियो को सीचने की इस तरह कोशिश करता है कि सीढ़ी लगाकर बाल्टी-बाल्टी पानी टहनियो पर छिडकता है । तो क्या उसकी इस तरह की सिंचाई से टहनियाँ हरी-भरी हो जायेगी ? उस माली को आप किसकी उपमा देंगे ? झटपट आप उसे मूर्ख कह डालेंगे । क्योकि अगर उसे आम का फल चखना है तो वह टहनियो को सीचने से नही मिलेगा, वह तो जड को सीचने से ही मिलेगा ।

इसी तरह आज यदि आप राष्ट्र के प्रागण मे भी ऐसा ही करें कि जड की तरफ तो ध्यान ही न दें, और टहनियो को सीचते रहे तो क्या ऐसे विवेक-

शून्य और कही-कही दम्भपूर्ण कृत्य से राष्ट्र सबल बन सकेगा ? उस माली का रूपक क्या आज के कुछ राजनैतिक कर्णधारो के कामो से मेल नही खाता ? राष्ट्रधर्म की आवाज लगाने, कर्त्तव्यो का उपदेश देने और नारो को गुंजाने वालो का आज जब विपरीत आचरण देखा जाता है, तो यह क्यो न समझा जाय कि ऐसे लोग विवेकशून्य ही नही, बल्कि देशद्रोही भी है, जो येनकेन प्रकारेण आम जनता को बहलाकर अपनी स्वार्थपूर्ति करते रहते है। राष्ट्र को ये लोग सिर्फ अपनी जिह्वा पर रखते हैं। उसे अपने मन और मस्तिष्क मे कोई स्थान नही देते। उन्हे कथनी से राष्ट्र प्यारा होता है, मगर असल मे करनी मे वे अपने मतलब को ही चाहते हैं। राष्ट्र की शक्ति या इज्जत घटे, आम नागरिक मरे, जिये या नरक की-सी यातनाएँ सहता रहे—ऐसे लोगो को इन सबकी कोई परवाह नही रहती।

राष्ट्रीय चरित्र एव आचरण की जब ऐसी भयकर दुर्दशा हो, तो राष्ट्रधर्म की महत्ता कैसे व्यापक व प्रभावशाली बन सकती है ? हर छोटे-बडे नागरिक को सोचना चाहिये कि सापेक्ष-दृष्टि से उसका उसके प्रत्येक नागरिक साथी के साथ एक प्रकार से आत्मीय सम्बन्ध है, क्योकि वे सब एक ही समूह के सदस्य हैं तथा एक-दूसरे के आचरण और व्यवहार से प्रभावित होते हैं। यदि वह शाति और सुख से रहना चाहता है तो दूसरे भी इसी तरह रहना चाहते हैं। इसलिए "जीओ और जीने दो" के सिद्धान्त मे उसकी आस्था ही नही, कर्मठता भी होनी चाहिए। सम्पत्ति एव पदार्थों का जहाँ तक सम्बन्ध है, उसमे उसकी मूर्च्छा-वृद्धि नही होकर समत्व की भावना होनी चाहिए कि उसका सब नागरिको मे आवश्यकता, न्याय एव समानता के आधार पर वितरण हो। वह यह सोचे कि जब राष्ट्र में रहता हुआ मैं शाति की सास लेना चाहता हूँ, आवश्यक सामग्री की आकाक्षा रखता हूँ, तो अन्य सभी नागरिक भी ऐसा ही चाहते हैं। इसलिए ऐसा अपने आचरण मे न उतारकर जब कोई किसी के हक को छीनकर मौज मारता है और ऊपर से आवाज लगाता है कि वह तो राष्ट्रधर्म का पालन कर रहा है, तब जिस प्रकार का सकट जन्म लेता है, उसे ही राष्ट्रीय चरित्र का सकट कहा जाता है। इस सकट से न सिर्फ आर्थिक अथवा सामाजिक विषमता बढकर राष्ट्र का पतन होता है, बल्कि व्यक्ति की आत्मिक एव आध्यात्मिक उन्नति के द्वार भी बन्द हो जाते हैं। जैसे एक मकडी जो जाला बनाती है, उसमे खुद तो फसती ही है, मगर दूसरो को भी फसाती है, वैसे ही ऐसे दुश्चरित्र लोग स्वय को और समूह को भी नीचे गिराते हैं।

आप अपनी प्रवुद्ध चेतना-शक्ति से वीतराग वाणी के धरातल पर राष्ट्रधर्म को समझने की चेष्टा करे। भगवान् महावीर ने इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की थी—

सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्म भूयाइ पासश्रो।
पिहियासव्वस्स दन्तस्स, पाव कम्म न बधई।
(दशवैकालिक सूत्र, अ ४ गा. ६)

कहा है, हे मानव तुम्हारी आत्मा के साथ पाप-कर्मों का बन्ध क्यो होता है ? अगर इन पाप-कर्मो से मुक्त होना है, तो अन्य सभी मनुष्यों को ही नहीं, सभी प्राणियो को भी अपनी आत्मा के तुल्य समझकर सयम के साथ चलो। सबको आत्मा के तुल्य समझने की भावना रखोगे, तभी सोचोगे कि जिस अवस्था मे मैं चल रहा हूँ, मैं जो आकाक्षाएँ रख रहा हूँ उनके अन्दर मुझे तटस्थ वृत्ति लानी है और उसके साथ देखना है कि मेरी आकाक्षाएँ यश-लिप्सा, सत्ता, अधिकार या पद-प्रतिष्ठा के रूप मे तो नही है। यदि स्वार्थ के रूप मे लालसा रही, तो मैं अपनी अन्य प्राणियो के साथ तुलना नही कर सकूँगा। यह सिद्धान्त केवल शिक्षा की दृष्टि से ही नही कहना है, अपितु प्रत्येक को इसका आचरण अपने जीवन के प्रत्येक चरण मे करते रहना चाहिये। इस आत्म-भावना के साथ यदि इस तत्त्व को ग्रहण किया जाय, तो व्यक्ति के मन से धूर्तता, दम्भ एव कपट के खोटे विचार बाहर निकल जायेंगे और उसके स्वभाव मे सरलता, ईमानदारी और समानता की भावना का सहज विकास होने लगेगा।

आत्म-नियंत्रण, सयम एवं स्वार्थत्याग की भावना के साथ जो व्यक्ति चलेगा, तो वह उसी के अनुरूप अपने परिवार को बनाना व देखना चाहेगा। वैसा परिवार ग्राम को बदलेगा तो वैसा ग्राम तथा नगर, राष्ट्र मे एक क्रान्तिकारी परिवर्तन ला सकेगा। यह समत्व की भावना राष्ट्रधर्म का मूल है, जो सारे राष्ट्र को समानता और एकता के आत्मीय सूत्र मे आबद्ध करके रखती है। मैं राष्ट्रधर्म के विकास मे नगर का विशेष महत्त्व मानता हूँ, क्योकि यह ग्राम और राष्ट्र के बीच की कडी है। नगर मे रहने वाले नागरिक का भी इस दृष्टि से विशेष कर्त्तव्य होता है। नगरपालिकाएँ बनती हैं, जिनका ध्यान सिर्फ बाहरी बनावट तक ही सीमित होता है। किन्तु नगर-धर्म का पालन हो—ऐसी प्रेरणा न इन सस्थाओ की होती है, न इसके नियुक्त या निर्वाचित सदस्यो की और न ही उन मतदाता नागरिको की जो इन सस्थाओ के सदस्यो को चुनते हैं। यह विकासशील स्थिति नही है।

नगर, ग्राम और राष्ट्र के बीच की कडी होने से इसकी "देहली दीपक न्याय" की स्थिति कही जा सकती है। जानते हैं "देहली दीपक न्याय" ? जब एक दीपक देहली पर रखा जाता है, तो वह भीतर-बाहर दोनो तरफ प्रकाश डालता है। वैसे ही नगर मे रहने वालो के आचरण का प्रकाश दोनो ओर गिरना चाहिये। नगर मे ही अधिसख्य बुद्धिजीवियो एव विवेकशील लोगो का निवास होता है। वे एक ओर ग्रामवासियो के साथ छल नही करके उनके

विकास के लिए यत्नशील हो, तो दूसरी ओर राष्ट्रीय सम्मान को सर्वोपरि समझकर तदनुसार अपने स्वस्थ चरित्र का निर्माण करे, तो क्या वास्तव मे देहली के दीपक की तरह वे सबके लिए आलोकदान करने वाले नही कहलायेंगे ?

एक वार जव यह निर्माण का क्रम नीचे से चलेगा, तो राष्ट्र तक पहुँचने मे उसे अधिक समय लग सकता है, किन्तु वह निर्माण अवश्य ही ठोस होगा। चरित्रनिर्माण के साथ ढली हुई राष्ट्रीयता की भावना से ही राष्ट्र का सच्चा निर्माण होता है। एक शिक्षाप्रद घटना है कि एक वार एक भारतीय जलयान मे जापान देश मे कही जा रहा था। रास्ते मे एक वन्दरगाह आया, वहाँ उसके उपयुक्त कोई भोजन-सामग्री उसे नही मिली। क्षुद्रतावश वह सारे जापान देश की निन्दा करने लगा कि कैसा वेकार देश है जहाँ खाने को भी कुछ नही मिलता। इसे सुनकर एक जापानी मजदूर अपने खाने के फल ले आया और उन्हे उस भारतीय को खाने को दे दिये तथा नम्रतापूर्वक कहा कि आप ये फल खा लीजिये। मैं खुशी से भूखा रह जाऊँगा, किन्तु अपने देश के सम्मान के विरुद्ध कुछ भी नही सुनना चाहूँगा। तो ऐसी घटनाएँ किसी भी राष्ट्र के विकास का मापदड होती है। जहाँ राष्ट्रधर्म का समुचित प्रचलन है, वहाँ के नागरिक के लिए अपना स्वार्थ वडा नही होता। वह राष्ट्र के हित मे अपना सव कुछ निछावर करने को तत्पर रहता है। इसके विपरीत राष्ट्रधर्म से हीन राष्ट्रवासी कपट, झूठ और प्रपच मे इतने लिप्त रहते हैं कि वे सिफ अपने ही स्वार्थ की पूर्ति की वात समझते हैं। स्वतन्त्रता की छाया मे पलने वाली भारत-भूमि की जव आज भी ऐसी वुरी अवस्था दिखाई देती है, तो यह किसी भी विवेकशील व्यक्ति के हृदय को पीड़ा पहुँचाये विना नही रह सकती कि जो भारत-भूमि विश्वगुरु के रूप मे पूजित थी, उसे ही आज अपने पतन से उठने का भान तक लुप्त हो रहा है।

यह गम्भीरतापूर्वक विचार करने की वस्तुस्थिति है। मैं ये जो वातें कह रहा हूँ शायद आपको कडवी लग रही होगी, किन्तु मुझे जो कहना है, वही कह रहा हूँ। इस विषय मे चन्दनवाला राजकन्या की स्थिति का कुछ भाव आपको समझने की आवश्यकता है। चन्दनवाला के नगर पर जव आक्रान्ताओ ने आक्रमण किया, और उस नगर को रौंद डाला तथा चन्दनवाला व उसकी माता को पकड़कर रथ मे साथ ले चले तव वन्दी की अवस्था मे भी माता ने रथ मे वैठे-वैठे चन्दनवाला को समझाया—"जिस देश मे तुमने जन्म लिया है, जिस धरती पर तुम पली-पोसी हो, उसको एक पल के लिए भी मत भूलना और जहाँ भी जैसे भी तुम्हे अवसर मिले, उसे पुन स्वतन्त्र कराने के लिए जितना भी वलिदान करना पड़े, उससे कभी पीछे मत हटना।" माता ने यह शिक्षा नहीं दी कि वेटी किसी तरह अपनी जान वचा लेना और आनन्द मनाना, वल्कि माता ने वेटी को राष्ट्रीयता का स्वरूप भी समझाया कि जो देश किसी भी

अन्य देश पर आक्रमण करता है वह अपने माथे पर कलक का टीका ही लगाता है। परन्तु वह देश, जो किसी भी ऐसे आक्रमण को सिर नीचा करके सह लेता है या राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को भुला देता है, उससे भी बढकर कलक का टीका अपने माथे पर लगाता है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर शाति-समर कहलाता है और ऐसा कलक का दाग शाति-समर मे रूधिरवारि से धोने पर ही साफ होता है। माता ने तब चन्दनबाला को कहा कि तुम्हे भी अहिंसक युद्ध के तरीके अपनाकर इस दासता के कलक को धोना है। बाद मे इतिहास बताता है कि किस शौर्य के साथ चन्दनबाला ने अपनी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिए सफल सघर्ष किया।

क्या भारतीयजन अपने विगत गौरव को भूल चुके है ? क्या वे राजनीतिक स्वतन्त्रता की परिष्कृति के साथ आर्थिक एव सामाजिक विषमताओ को दूर करके आत्मिक समानता स्थापित करने के सघर्ष हेतु कटिबद्ध नही हो सकेंगे ? उन्हे स्मरण रखना होगा कि भारत-भूमि देव-भूमि कहलाती थी। देव का अर्थ देवता से नही, किन्तु देवता के समान उज्ज्वल चरित्र से था। भारतीयो का चरित्र कितना उज्ज्वल था ! और आज का रूपक ? कितना आसमान-पाताल का भेद ? और फिर भी भारतीयो मे जागृति न फैले तथा उन्नति की आकाक्षा उन्हे झकझोर न डाले—यही आश्चर्य का विषय है। भारत का अतीत गुणाधारित था, पर आज जाति-भेद तथा छुआछूत जैसी बीमारियाँ इन्सान मे बची-खुची इन्सानियत को भी खाए जा रही हैं। पहले के वर्ण भी गुण के अनुसार थे और कर्म के आधार पर थे। 'उत्तराध्ययन' सूत्र मे इसी दृष्टि से कहा है कि—

कम्मुणा बभणो होइ, कम्मुणा होइ खत्तिओ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र अपने कार्यों के आधार पर होते थे, जाति या जन्म के आधार पर नही। यही सिद्धान्त आज भी देश-धर्म की स्थिति के साथ लागू होना चाहिए। इन्सान भी कोई अछूत होता है—यह कलकपूर्ण धारणा है। राष्ट्रधर्म को नही समझने वाले कोई कट्टरपथी छुआछूत का समर्थन कर सकते है, किन्तु उनकी आँखे गीता के इस श्लोक से तो खुलनी चाहिये—

विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
सुनिचैव श्वपाके, च, पडिता: समदर्शिन ॥

कृष्ण महाराज से पूछा गया कि पडित की क्या परिभापा है ? उन्होंने बताया कि कोरा पडित कुछ नही, विनय उसमे होना चाहिये और जब विनय और विवेक उसमे हो और वह सभी प्राणियो मे समदर्शी बने, तब वह सच्चा पडित है। जब कुत्ते मे भी समानता देखने का निर्देश है—तो इन्सान को अछूत बताना सरासर निन्दनीय है।

भारत राष्ट्र के निवासी गीता की नीति सुनते है, आगमो की वाणी का लाभ लेते हैं और सन्तो के उपदेशामृत का पान करते हैं। फिर भी उनके मन से घृणा की भावना दूर न हो—यह समुचित नही है। यहाँ भाई-भाई ईर्ष्या से जलते है, परस्पर घृणा करते है, तो फिर राष्ट्रधर्म कहाँ टिकेगा ? राष्ट्रधर्म का विकास तो तब माना जाय, जब एक भाई अपने गिरे हुए भाई को गले लगाकर उसे इतना आत्मीय बना ले कि उसके दुःख को वह अपना दुःख समझकर चले और अपने सुख को उस दुःखी भाई पर लुटा दे। कवि ने कहा है कि सुख जब बाटा जाता है तो वह हजार गुना बढ जाता है। सज्जन पुरुष अपने सुख से नही, दूसरो को सुखी बनाकर ही अत्यधिक हर्षित होते है। इसी प्रकार दुःख को जब आपस मे बाट लिया जाय तो दुःख का भार घट जाता है। उसका सुख और सबका दुःख जब सारे राष्ट्रवासियो मे बट जाय, तो कल्पना कीजिए कि क्या उनका सौहार्द, सौजन्य और समभाव स्वर्ग से भी अधिक सुखकर नही हो जायेगा ?

आज राष्ट्रधर्म के आदर्श को आगे लाने का दायित्व बुद्धि-वादी वर्ग पर विशेष रूप से है। किन्तु जिस तरह का शिक्षको और शिक्षार्थियो का वातावरण बन रहा है, वह कोई विशेष उत्साहप्रद नही है। स्वय बुद्धिवादियो को सुधारने की भी समस्या है। ऐसे समय देश के ब्रह्मचारी एव महात्मा वर्ग को आगे आकर राष्ट्रधर्म की प्रेरणा फूकनी चाहिये। इस वर्ग मे जीवन्त जोश होता है और इसी जोश का प्रयोग उन्हे इस दिशा मे करना चाहिये। लेकिन होश खोकर नही। अपने स्वय के चरित्र एव आचरण से उन्हे राष्ट्रधर्म का आदर्श प्रस्तुत करना चाहिये।

भारत एक विशाल राष्ट्र है, जिसमे विभिन्न धर्मों, आस्थाओ, वर्गों, वर्णों और विचारो के लोग रहते हैं, किन्तु विविधता मे भी अब तक उनके बीच एकता का जो सूत्र रहा है, वह आत्मज्ञान ही रहा है। उसी आत्मज्ञान के द्वारा समानता के वातावरण को प्रभावशाली बनाने की आवश्यकता है। राष्ट्र मे रहने वाले सभी वर्ग चाहे, हिन्दू हो या मुसलमान—अगर राष्ट्रीयता की आत्मीय भावना के एकसूत्र मे बधे हुए रहेगे, तो कोई किसी का शत्रु नही बन सकेगा। यहाँ तो सभी धर्मों ने दिल दुःखाने तक को महापाप बताया है। इस्लाम का यह एक वचन देखिये—

मबाश दरपये आजार वहरचि ख्वाही कुन।
किदर शरयिते या गैर अजी गुनाह नेस्त ॥

इसी आशय की एक हिन्दी कविता भी है—

दिल किसी का मत दुखा दिल चाहे सोकर
दिल यार इस बात का, दिल अल्लाह का घर

दिल अल्लाह का घर, घट-घट मे है अल्ला
चार जन मिल बैठिये, यही यार है सल्ला
ऐन खुदा के मिलन का यह रास्ता है नर। दिल०।

भारत राष्ट्र की इस पावन धरती पर अगर एक भी नागरिक किसी दूसरे का दिल नही दुखावे, सबको अपनी आत्मा के तुल्य समझे और परस्पर आत्मीयता से ओत-प्रोत रहे, तो कहिये किसी भी छेद से स्वार्थ अन्दर घुस सकेगा ? और स्वार्थ अन्दर नही आ सकेगा तो क्योकर झूठ, कपट और प्रपच अपना घिनौना सिर ऊपर उठा सकेंगे, तथा क्योकर सत्ता और पूँजी का मोह मनुष्य को पिशाच बना सकेगा ?

समत्व, समानता या साम्य भावना इस राष्ट्रधर्म की मूल आत्मा है और जब तक मूल को ठुकराया जाता रहेगा, शाखाओ और उपशाखाओ को सीचने से फल कभी नही आयेगा। दुनिया भर की योजनाएँ, बाँध, पुल और सडके दिलो को नही जोड सकेगी। दिलो को जोडने वाला और राष्ट्र को बनाने वाला है आत्मज्ञानपूर्ण राष्ट्रधर्म। इसी के पालन से मनुष्य, मनुष्यता के साचे मे ढलेगे और वे ही सच्चे राष्ट्र का निर्माण कर सकेगे। इसके लिए परमात्मा का निर्मल स्वरूप सदा अपने सामने रखिये, ताकि आप अपनी आत्मा का स्वरूप उस दर्पण मे देखते हुए सतत जागृत रह सके।[1]

जिस नगर मे नैतिकता की दृष्टि से सुव्यवस्था नही है, जहाँ सब लोग स्वच्छद और उद्दण्ड है, एक-दूसरे को सताने वाले है, तो ऐसे नगर के बीच वह साधक श्रुत और चारित्र धर्म की आराधना नही कर सकता है। चाहे साधक कैसा भी क्यो न हो, परन्तु अभी आध्यात्मिक शक्ति का माध्यम शरीर है। अत शरीर का जहाँ निर्वाह करना है, उस स्थान का वायुमण्डल भी तो शुद्ध होना चाहिए। यदि नगर सुव्यवस्थित है, अर्थात् नैतिक धरातल के साथ है, नगर के रहने वालो मे एक-दूसरे का सहयोग है, सहानुभूति है, मानवीय धरातल पर शाति है, तो उस नगर मे आध्यात्मिक जीवन का साधक अपनी पवित्र साधना करते हुए वहाँ जो चरम लक्ष्य साधता है, वह सिर्फ उसके लिए ही नही होता, परन्तु जन-समुदाय के लिये भी वह शुद्ध और आदर्श वायुमण्डल तैयार करने वाला बनता है।

ग्राम-धर्म और नगर-धर्म की सुव्यवस्था के वर्णन की तरह ही राष्ट्रधर्म के विषय मे भी समझना चाहिये। जिस राष्ट्र मे व्यवस्थित मानवीय धरातल है, आत्मीय शक्तियो के विकास का सुन्दर अवसर है, जिसमे हर एक साधक अपनी साधना को साधने मे तत्पर रह सकता है, वही श्रुत-धर्म और चारित्र-धर्म की आराधना हो सकती है। यदि राष्ट्र मे अराजकता है, विप्लव की

१—मन्दसौर चातुर्मास प्रवचन, ताप और तप, पृ० १८३—२००

स्थिति है, राक्षसी-वृत्तियो का दौर-दौरा है, तो वहाँ आध्यात्मिक साधक का भी टिकाव नही हो सकता है ।

इस प्रकार दस धर्मों के वर्णन से वीतराग देव ने मुख्य तौर पर आध्यात्मिक जीवन का सकेत देते हुए नैतिक जीवन का परिमार्जन करने के लिए ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म आदि का सकेत किया है । यह सकेत एक वैज्ञानिक तथ्य को लिए हुए हैं ।[1]

शरीर की दृष्टि से मनुष्य जाति का समुदाय एक है । परन्तु आज का मानव शरीर तक ही सीमित नही रहा है । उसने वर्णभेद की भी दीवारे खडी कर दी हैं—ये काले मनुष्य हैं और ये गोरे मनुष्य हैं । अरे कोई चमडी का काला या गोरा है, तो इससे क्या मनुष्य की आत्मा मे भी भेद आ गया ? यह छूत है और यह अछूत है । किसको छूत-अछूत समझते हो ? उसके पीछे कोई सिद्धान्त है क्या ? यदि आपने अछूत को छू लिया, तो क्या अछूत हो गये ? फिर स्नान करोगे, तो पवित्र और यदि नही करोगे तो क्या अपवित्र रहोगे ? क्या पानी अछूतपन को धो डालता है ?

जो हिन्दुस्तान अखण्ड था, उसके टुकडे-टुकडे हो गये । अब और कितने टुकडे करना चाहते हो, आज अलग-अलग गुट या पार्टियाँ बन गयी हैं । वे चाहे राजनीति की दृष्टि से हो या अन्य किसी दृष्टि से हो, परन्तु वे भेद की दृष्टि ही अपना रही हैं । वे आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को नही समझ रही है । वे अपने ही भाइयो को आपस मे टकरा रही है । किन्तु मानव यदि भेद और अभेद दोनो दृष्टि अपनाकर चलता रहे, तो भिन्नता नही आ सकती । अतः दोनो दृष्टियो से समभाव के साथ चलने का प्रयास करेगे तो आत्मा के स्वरूप को समझ सकते हैं ।

आज से अढाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र को देखते है, तो पता चलता है कि उनका स्वय का जन्म क्षत्रिय-कुल मे हुआ था । वे क्षत्रिय राजकुमार थे । उनके गणधरो को देखिये तो गौतम स्वामी ब्राह्मण-कुल मे जन्म लेने वाले दिग्गज विद्वान् और चारो वेदो के पाठी थे । सुधर्मास्वामी भी ब्राह्मण जाति मे जन्म लेने वाले थे । धन्ना शालिभद्र का जिक्र सुनते है, तो वे वैश्य जाति के थे । अर्जुन माली और हरिकेशी श्रमण सरीखे व्यक्ति जाति से शूद्र थे । परन्तु उनका गुण और कर्म एक हो गया था । वे एक रूप मे चलने लगे । गुण और कर्म द्वारा वहाँ कृत्रिम जाति-भेद नही रहा । किन्तु—

कम्मुणा बभणो होई, कम्मुणा होइ खत्तिओ ।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा ।।

१—आध्यात्मिक आलोक, पृ० ५६

आप कह सकते हैं कि यह तो बहुत पुरानी बात है। क्या वर्तमान मे ऐसी समानता प्रकट हुई है ? हाँ, ऐसी समानता कुछ तो हुई है, और कुछ आगे भी हो सकती है।

आपने अभी गाधी-युग देखा है। मैं गाधीजी के समग्र जीवन की बात नही कहता हूँ। उन्होने स्वतन्त्रता प्राप्त करने की दृष्टि से अहिंसा और सत्य की भावना अपनाई। वे मानव-भावना के साथ चले। उन्होने छूआछूत त्यागने को कहा। वे स्वय मोड जाति के बनिये थे। परन्तु उनके साथ प० जवाहरलाल नेहरू कश्मीरी ब्राह्मण थे, डॉक्टर अम्बेडकर हरिजन थे, मौलाना आजाद और खान अब्दुल गफ्फार खाँ मुसलमान थे। विनोबा भावे महाराष्ट्री ब्राह्मण है। जमनालाल बजाज सरीखे वैश्य भी थे। ये सब-के-सब गाधीजी के साथ घुलमिल गये। परन्तु यह स्थिति तभी बनी, जबकि गुणो के साथ अभेद दृष्टि रखी गई। व्यक्तियो मे यद्यपि भेद था, परन्तु ऐसा होने पर भी गुणो की दृष्टि से समानता थी। गुणो का उन्होने थोड़ा-सा अश ग्रहण करके देश के सामने एक आदर्श उपस्थित कर दिया।

आज का मानव तो माँग कर रहा है। वह कह रहा है कि मानव अपने जीवन मे मानवता लाये और मानव-मानव की आत्मा को समझने का प्रयास करे। अभेद-दृष्टि से मनुष्य एक भी है और भेद-दृष्टि से अनेक भी है। इसी तरह परमात्मा एक भी है और अनेक भी है इसलिए परस्पर सघर्ष मत करो। मानव यदि समन्वय की दृष्टि से चले, तो शाति का अनुभव कर सकता है।[1]

अध्यात्म के मधुर सन्देश

चूंकि आचार्य प्रवर एक आत्मद्रष्टा अध्यात्मयोगी महान् वाग्मी हैं, अत उपर्युक्त सामाजिक एव राष्ट्रीय विचार तो आपके आनुषगिक विषयो पर है। आपका अपना मौलिक विषय तो अध्यात्म ही है। अध्यात्म को सुबोध एव परिपुष्ट करने के लिए ही उसकी भूमिका के रूप मे आप अन्यान्य सदर्भो को स्पर्शित करते है।

आपका सम्पूर्ण साधनामय जीवन अध्यात्म से अनुप्राणित है। अत आपका अध्यात्म-प्रवचन अनुभूति के आलोक से उद्भासित होता है, अथवा यो कहे कि आपके प्रत्येक वचन के पीछे अध्यात्म का मधुर सन्देश निगूढ रहता है।

आज का युग भौतिकवाद की पराकाष्ठा का युग है। चारो तरफ विज्ञान के भौतिक अनुसन्धानो की चर्चा है। कही अपोलो, सोयुज और

१—आध्यात्मिक आलोक, पृ० ४१–४३

वाइकिंग जैसे गगन-स्पर्शी यानो की चर्चा है, तो कही हाइड्रोजन, मेगाटन एव उद्जन जैसे महाविनाश की लीला प्रस्तुत करने वाले प्रलयकारी अणु-आयुधों की चर्चा है। भौतिक अनुसन्धानो की इस दौड मे मानव महाविनाश की ओर निरन्तर भागता जा रहा है। प्रथम तो भौतिक चकाचौंध से आप्लावित इस युग मे आत्मा-परमात्मा जैसे शाश्वत तत्त्वो के प्रति जन-मानस मे अभिरुचि का प्रादुर्भाव क्लिष्ट से क्लिष्टतर बन गया है और दूसरे मे अध्यात्म-जगत् के सूक्ष्म तत्त्व हमारी भौतिक दृष्टि से परे होते है। इन्हे हम इन्द्रियो के माध्यम से साक्षात् नही कर सकते हैं। फलत अध्यात्म तत्त्वो पर विश्वास समाप्त होता जा रहा है। वायुमण्डल इतना दूषित बन चुका है कि लगता है अध्यात्म हारता जा रहा है एव विज्ञान भौतिकवाद जीतता जा रहा है। ऐसी स्थिति मे अध्यात्म द्रष्टा एव आत्मदर्शी साधको के समक्ष भी एक ज्वलन्त प्रश्न मुँह वाए खडा है कि अध्यात्म को स्थिर कैसे रखा जाए ? अधिकाश आत्म-साधक एवं उपदेष्टा इस विषय मे निराश से लगते हैं, क्योकि अध्यात्म तत्त्व को सुगम रीत्या आज के परिवेश मे प्रस्तुत करने की प्रत्येक व्यक्ति मे मेधा नही हो पाती और जब तक आधुनिक दृष्टिकोण से उन सूक्ष्म तत्त्वो का विश्लेषण वर्तमान युगीन जनचेतना के सम्मुख न हो, वह प्रभावकारी नही हो पाता।

श्रद्धेय आचार्यश्री के धारा-प्रवाही अध्यात्म-प्रवचन इस बात के ज्वलन्त प्रमाण हैं कि वे इस भौतिक वातावरण मे भी अध्यात्म के प्रति कभी निराश नही हुए हैं। वे आज भी भौतिकवाद की वस्तुनिष्ठ परिभाषा एव व्याख्या इस ढग से कर जाते है कि व्यक्ति का मानस सहसा अध्यात्म के प्रति आकृष्ट हो जाता है, चाहे वह अध्यात्म का विरोधी परम भौतिकवादी व्यक्ति ही क्यो न हो। इसका कारण है कि आप अध्यात्म, आत्मा, परमात्मा, कर्म, विरक्ति आदि सूक्ष्म इद्रियातीत विषयो पर भी इतनी मार्मिक एव आधुनिक दृष्टिसम्मत तलस्पर्शी विवेचना प्रस्तुत करते है कि एक बार तो नास्तिक विचार भी भावाभिभूत हो जाते हैं और पराभौतिकवादी व्यक्ति को भी अध्यात्म की अद्भुत सत्ता पर बराबर विश्वास करना पडता है।

उदाहरण के लिए कर्म-विवेचना-सम्बन्धी निम्न प्रवचनाश मे अवगाहन कर पाठक स्वय चिन्तन करे कि कर्म-सिद्धान्त जैसे सूक्ष्म विषय पर आपश्री का प्रवचन कितना हृदयग्राही एव भावप्रवण है—

आन्तरिक शत्रुओं से संघर्ष मे

आध्यात्मिक रणभूमि मे जो साधक उतर चुका हो और जिसे अपने सामने सेनापति मोहनीय कर्म की अधीनता मे खडी कर्म समूह की सेना दिखाई दे रही हो, वैसे आदर्शोन्मुख साधक को जब योग्य सहयोगी (गुरु) का सबल

सहयोग मिल जाय, तो निश्चय ही वह उनसे कठिन सघर्ष छेडकर अपने आदर्श की ओर प्रगति कर सकता है। अपने ही शुभाशुभ योगो से उपार्जित कर्मों का क्षय करना किसी भी रणभूमि मे बडे-बडे योद्धाओ से अकेले लडने से कम शौर्य्यपूर्ण नही होता। अपने विचारो मे, अपनी वाणी मे और अपनी साधना मे प्रतिपल ये योद्धा हर सभव विघ्न डालने को सामने आते हैं और उसी समय उनके घनत्व को समझ कर अपने सुदृढ सयम से उन पर प्रहार करना और उन्हे परास्त करते जाना ही आध्यात्मिक रण-भूमि की सफलता कही जाती है।

जब ये आन्तरिक शत्रु साधक की आध्यात्मिक शक्ति को दबोचने के लिये आगे बढते है, उस वक्त निपुण बुद्धि वाला सहयोगी अगर साधक का आत्मिक रथ चला रहा हो, तो फिर साधक पैने बाणो से इन शत्रुओ को प्रबल वेग से छेद सकेगा।

यह सघर्ष है जड़ और चेतन का

जब तक आपकी दृष्टि अतर्मुखी नही बने, तब तक भले ही यह सघर्ष आपको छोटा-सा दिखाई दे, किन्तु इस विचार मे एक प्रकार से शास्त्रो का समूचा रूप समाया हुआ है। योग्य सहयोग की अपेक्षा, उस आध्यात्मिक स्तर पर ही नही, बल्कि इस विराट् विश्व मे जीवन-सचालन करते हुए पग-पग पर रहती है।

इस लोक के अन्दर छ: प्रमुख तत्त्व माने गये है, जिन्हे एक दृष्टि से लोक-सचालक कहा जा सकता है। ये है धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, काल एव जीव-चैतन्य। पहले पाँच अजीव हैं। अजीव वह, जो चेतना रहित होकर सुख दु ख को वेदे नही, पर्याप्ति, प्राण, योग उपयोग तथा कर्मरहित और जड लक्षण वाला हो। जीव का लक्षण चेतना व उपयोग युक्त, सुख दु ख का वेदक, पर्याप्ति, प्राण का धर्ता, आठ कर्मों का कर्ता और भोक्ता तथा शाश्वत होता है। जीव का कभी विनाश नही होता तथा ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य के भावो मे वह विगत काल मे जीता रहा, वर्तमान मे जी रहा है और आगामी काल मे सदैव जीता रहेगा।

पहले के पाँच तत्त्वो के आधार पर सारा ससार बना है और उनके साथ सम्बन्धित होकर यह छठा जीव तत्त्व उसे चला रहा है। इस तरह यह छ: खिलाडियो का लोक है। पाँचो जड तत्त्व गति, स्थिति, अवकाश, रचना और समय के प्रतीक हैं, तो छठा-चेतन तत्त्व सचालक है। यदि निरपेक्ष भाव से सचालन हो तो दोनो तत्त्वो मे सामजस्य बैठकर ससार भौतिक एव आध्यात्मिक

दोनो प्रकार की उन्नति कर सकता है। किन्तु चेतना-शक्ति की दुर्बलता यही होती है कि जड मे उसकी अपेक्षा और आसक्ति पैदा हो जाती है—वह उनमे व्यामोहित हो जाती है। तव वैसा मोह अन्य सारे कर्मों को न्योता देता है और चेतन को जडलिप्त वना देता है। इसे ही जीवन का पतन कहते हैं कि जो ससारी जीव को ससार मे उलझा देता है, उसे सिद्ध नही वनने देता।

सिद्ध वनने के लिये इसी पतनावस्था से चेतन को सघर्ष करना पडता है—जड मोह से सवद्ध कर्मों से लडना पडता है। इसी कारण आध्यात्मिक विकास जड-चेतन के सघर्ष से ही आरम्भ होता है।[1]

आपको ऐसा लगता होगा कि कभी-कभी मैं आपको इन वैज्ञानिक तथ्यो के साथ उलझन मे डालने की कोशिश करता हूँ, किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हकीकत मे मैं इनको सुलझाने की कोशिश कर रहा हूँ। आप वैज्ञानिक तथ्यो को कर्म-सिद्धान्त की तुलना मे परखिये, उनका अध्ययन और मनन कीजिये, फिर कुछ-कुछ स्पष्टीकरण सामने आयेगा कि वैज्ञानिक चरण भी घूम-फिर कर उधर ही वढ रहे हैं, जिधर केवलज्ञानी विचरण कर चुके हैं और अपने ज्ञान का आलोक इस विश्व को प्रदान कर चुके है।

विश्व मे जितनी भी दार्शनिक विचारधाराएँ हैं, उनमे न्यूनाधिक मात्रा मे कर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। किन्तु जिस वैज्ञानिक पुष्टता से उसका विश्लेषण जैन दर्शन ने किया है, उतनी गम्भीरता और स्पष्टता अन्यत्र नहीं मिलेगी। इस कर्म-सिद्धान्त का मानना है कि आत्मा जव शुद्ध अवस्था मे होती है, तव उसके कर्म-वध नही होता है। दूसरी ओर जड भी अपनी शुद्ध अवस्था में चेतन से सर्वथा पृथक् होता है। अनादि काल से ससारी आत्मा जड-चेतन के सयोग पर चल रही है, जिससे अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार उसके साथ कर्म-वन्ध का अवसर आता रहता है।

कर्म का रूप तव पैदा होता है जव जड का सयोग आत्मा के साथ होता है। पहले ये कार्माण वर्गणा के पुद्गल रूप होते हैं। जव वे आत्मा के साथ वधते हैं और सजीवता ग्रहण करते है, तव कर्म कहलाते हैं। इसीलिये जिन आत्माओ के साथ कर्म लगे हुए हैं और उन कर्मों के साथ जो शरीर है, वह सजीव शरीर कहलाता है।

अजीव कर्म-वर्गणा का सजीव रूप

अव इसमें प्रश्न यह आ सकता है कि अजीव कार्माण वर्गणा के पुद्गल

१—जयपुर चातुर्मास प्रवचन, पावस प्रवचन, भाग ४, पृष्ठ ४४-४५।

सजीव कैसे बन जाते हैं ? उत्तर यह है कि तदनुरूप कार्य से कर्म आए और आत्मा के साथ सयुक्त होकर सजीव बन गये। इसका प्रमाण 'भगवती सूत्र' मे दिया गया है। गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया कि "रूवी आया, अरूवी आया ?" तो प्रत्युत्तर मे भगवान् ने कहा - "रूवी वि आया, अरूवी वि आया।" अर्थात् आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है। यह सापेक्ष कथन है। अपेक्षा यह है कि सब ही शरीर हैं, जो ससारी आत्माएँ हैं और गति-सजीव शरीर को कोई सर्वथा जड कहे, तो ऐसा कहने वाले को असत्य लगता है। तो प्रभु ने इस शरीर-अवस्था की स्थिति को आपेक्षिक दृष्टि से रूपी चैतन्य कहा है। जितने परमाणु आत्मा के साथ आकर लगे और शरीर रूपी मे रासायनिक प्रक्रिया मे सयुक्त हुए, तो उन्होने सजीव रूप ग्रहण कर लिया।

यहाँ आप यह सोच सकते हैं कि अजीव तत्त्व सजीव मे कैसे और सजीव तत्त्व अजीव मे कैसे ? इसमे समझने की बात यह है कि जब अजीव तत्त्व सजीव के साथ हुआ, तो उस वक्त उसकी पर्याय का चैतन्य शक्ति की पर्याय के साथ मिश्रण होने से वह सजीव कहलाने लगा। शास्त्रीय दृष्टि से यह नही है कि सर्वथा चैतन्य जड़ और जड चैतन्य हो गया। जड सदा जड और चैतन्य सदा चैतन्य रहेगा, परन्तु पर्याय की दृष्टि से उसके सयोग के साथ रूपी आत्मा होने का भान पडता है। यह भी ध्यान रखें कि सयोग सम्मिलित नही होता। शरीर पर वस्त्र धारण किया यह सयोग है। किन्तु वस्त्र शरीर रूप मे एकमेक नही हो जाता। सयोगित होकर भी अस्तित्व पृथक्-पृथक् रहता है।

कर्म के अनुरूप वैज्ञानिक खोज

बताया जाता है कि वैज्ञानिको ने आजकल एक विषाणु की खोज की है, जो कई प्रकार का होता है। उसके लिये वैज्ञानिको का कथन है कि वे अणु निर्जीव होते हैं। किन्तु वे मानते हैं कि जब विषाणु सजीव कोशिका के अन्दर प्रवेश करते है तो वे सजीव बन जाते हैं। यदि वे ही विषाणु निर्जीव कोशिका मे रखे जाते हैं तो वे निर्जीव ही रहते हैं। इसमे उनका तात्पर्य यह है कि ये विषाणु दोनो तत्त्वो को जोडने वाले भी बनते हैं। सजीव कोशिका और निर्जीव कोशिका—ये शब्द वैज्ञानिक क्षेत्र के हैं। शास्त्रीय दृष्टि से कोशिका एक स्कध कहा जाता है, जो सजीव और निर्जीव दो तरह का बनता है। जैसे विज्ञान इन्हे जोड़ने मे विषाणु की कल्पना करता है और विषाणु के आवरण प्रोटीन आदि मानता है, वैसे ही कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से इनके स्थान पर मैं लेश्या को जोड रहा हूँ, जो कार्माण वर्गणा के रूप मे निर्जीव थी, किन्तु जब आत्मा के साथ वह सयुक्त हुई, तो सजीव बन जाती है। जब वे लेश्यागत परिणाम पुन. आत्मा से विलग होते हैं, तो पुन वे निर्जीव बन जाते हैं।

कर्म-सिद्धान्त की इस परिपक्वता के साथ वैज्ञानिक खोज की आप तुलना करेंगे, तो प्रतीत होगा कि यह खोज अभी तक वहुत अपरिपक्व है। वैज्ञानिक लोग इतनी खोजो के वाद भी अनखोजा एक तत्त्व ऐसा मान रहे है कि वह सजीव और निर्जीव कोशिका के साथ जुडने का काम कर रहा है। इस स्थान पर जव लेश्या की वर्गणा को इसका माध्यम मान कर सोचेंगे तो इस जुडने वाले तत्त्व के सम्वन्ध मे स्पष्ट जानकारी होने लगेगी। कषायो की स्थिति पर भी इस सदर्भ मे चिन्तन करना पडेगा। तव स्पष्ट होगा कि जैन-दर्शन के इस कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि कितनी पैनी और सूक्ष्म रही है। इस दृष्टि तक भी अपने प्रयोगात्मक ढग से पहुँचने मे अभी तक वैज्ञानिको को वहुत समय लगेगा।[1]

आत्मा और चित्त शक्ति

आत्मा की शक्ति उसके सवध और आचरण को कितनी बोधगम्य भाषा मे रूपकवद्ध अभिव्यक्ति दी गई है, इसका भाव प्रवाही आस्वादन प्रस्तुत है—

विचार आत्मा की शक्ति है और उसका आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होता है। शक्ति तेज या मन्द हो सकती है, किन्तु समाप्त नही होती, क्योकि वह आत्मा का गुण है तथा गुण और गुणी के संवध मे विच्छेद नही होता। इसको ठीक से समझने के लिये सूर्य और सूर्य की किरणो का तादात्म्य सवध देखें। सूर्य से सूर्य की किरणें अलग नही की जा सकती हैं। किरणे सूर्य की तद्रूप होती हैं। प्रकाश से रिक्त सूर्य का अस्तित्व नही होता तो जहाँ सूर्य है, वहाँ किरणो का अस्तित्व होगा ही। उसी प्रकार चितन, विचार या इच्छा-शक्ति आत्मा के साथ तादात्म्य सवध मे रही हुई होती है। वस्तुत चितन ही तो चेतना है और चितनहीनता आत्मशून्यता का ही तो रूप माना जाता है।

हाँ, सूर्य की किरणे जिस वातावरण को छूती हैं, वैसा रग और रूप वे अपने मे अवश्य भर लेती हैं। उदयाचल पर्वत की लालिमा को जव वे किरणें प्रभातकाल मे अपने अक मे भर लेती हैं, तो वे सर्वत्र अरुणिम वन जाती हैं, इसी प्रकार मस्तिष्क के विचार भी जिन सस्कारो के रग-ढग मे ढलते हैं उन्ही का रूप-स्वरूप भी पकड लेते हैं। इसीलिये कहा गया है कि विचार आत्मा का गुण है, तादात्म्य सवध से जुडा हुआ है। लेकिन जैसे सस्कारो का धरातल मस्तिष्क को मिलेगा, वैसा ही स्वरूप विचार-गति का वनता जायगा। अत समस्या विचारो के सशोधन करने की है, उनमे यथोचित परिवर्तन लाकर उन्हे विकासोन्मुखी वनाने की है।

१—पावस प्रवचन, भाग ४, पृष्ठ १६६-१६८।

आत्मा का शुद्ध स्वरूप भी सासारिक पदार्थों के सपर्क मे आ जाने से रग-बिरगा बना हुआ है। शुद्ध श्वेत वर्ण चितकबरा बन गया है और आत्म-स्वरूप भ्रान्त-सा दिखाई देता है। भ्रात इस कारण कि मूल-स्वरूप के प्रति तो विस्मृति आ गई और साधारण रूप से मानव यही समझने लग गया है याने कि शरीर-सुख ही सब कुछ है। शुद्ध स्वरूप आत्मा का गुण है और वह आत्मा के तादात्म्य रूप से सम्बन्धित है, किन्तु उनके साथ जो अशुद्धता सलग्न हो गई है, उसे परिमार्जित करना आवश्यक है।

अशुद्ध स्वरूप का परिमाजन

इस अशुद्ध स्वरूप का परिमार्जन दृढ निष्ठा के साथ किया जाना चाहिये और इस विश्वास के साथ कि आत्मा अनन्त शक्तियो की त्रिकाल द्रष्टा है। ये शक्तियाँ पर-पदार्थो से अनुरजित हो जाती है, किन्तु ज्योही उनकी अशुद्धता का परिमार्जन कर दिया जाय तो वे सूर्य की किरणो की तरह प्रकाशमान हो उठती है। तभी आत्मा का वास्तविक रूप सत्-चित् और आनन्द के रूप मे प्रकट होता है।

इस उद्देश्य के लिये दो बातो की जरूरत होती है। एक तो मस्तिष्क मे उभरने वाले विचार-प्रवाह को सशोधन और परिमार्जन की नई दिशा देनी होगी, तो दूसरे साता-वेदनीय के बध और उदय की आवश्यकता होगी, जिससे विचार और आचार की सहज ही मे उत्कृष्टता बन सके। चलते दोनो हैं—एक जो डामर की सडक पर चलता है और दूसरा जो ऊबड-खाबड कँटीले मार्ग पर। किन्तु पहला सहज ही तीव्र गति से आगे बढता है और दूसरा जब तक बहुत ही मजबूत इरादे का नही हो, तो रुक जाता है—न भी रुके, तो उसकी चाल धीमी और कष्टदायक रहती है। इस तरह असाता वेदनीय और साता-वेदनीय का रूपक होता है। साता-वेदनीय गति के लिये डामर की सडक बना देता है, जिस पर चाल तेजी से और सुख से हो हो सकती है। इस तथ्य पर कुछ सोचा जा चुका है कि साता-वेदनीय कर्म को बाँधने के उपाय क्या है और सर्व प्राणियो पर अनुकम्पा रखने एव जरूरतमद को उदार मन से दान देने के लिये मनुष्य को अपने आचरण मे क्या-क्या परिवर्तन लाने होगे।

इसी अनुक्रम मे सराग-सयम का प्रसग आया है। आत्मा समभाव मे रमण करने लगे—उस स्थिति को सयम कहते है। यह वृत्ति उच्चतर बनती हुई साधु अवस्था तक पहुँचती है और इसकी परिपूर्ण अवस्था अरिहंत भगवान की होती है। किन्तु साधु बन जाने पर अपनी दुर्बलताओ के साथ वह देश-सयम से पूर्ण सयम की ओर बढ सकता है। यह निरन्तर सशोधन और परिमार्जन की अवस्था होती है कि अशुद्धता हटकर वहाँ शुद्धता प्रसारित होती जाय। इस

अशुद्ध अवस्था मे जो राग की थोडी-वहुत मात्रा वनी रह जाती है, उस अपेक्षा से सराग-सयम की व्याख्या की जा सकती है।

परिमार्जन की प्रक्रिया मे वाह्य रूप से शरीर के प्रत्येक अवयव मे भी सयम की झलक दिखाई देती है। इसीलिये शास्त्रकारो ने "हत्थ सयमे, पाय सयमे" का सकेत दिया है। सयम मे इन्द्रियो पर सम्यक् प्रकार से नियत्रण होना चाहिये, किन्तु फिर भी, जव तक छद्म अवस्था रहती है, तव तक प्रशस्त राग की दशा भी वनती है। इससे रजित आत्मा साधना के पथ पर अग्रसर होती है, तो सयम से आत्मा की शुद्धि और साता-वेदनीय का वध दोनो होते है। इसे ही सराग-सयम कहा गया है। पूर्ण आत्म-नियत्रण की स्थिति मे पूर्ण सयम कहलाता है। परिमार्जन की प्रक्रिया की यह अन्तिम अवस्था होती है।

"धर्मानुरागरत्ता" का महत्त्व

शास्त्र का पाठ है कि पहले श्रावक कैसे होते थे? वे "धर्मानुरागरत्ता" होते थे, अर्थात् धर्म के अनुराग मे अनुरक्त होने के कारण वे सत् सिद्धातो के प्रचार-प्रसार मे भी लगते थे, जिससे कि सामूहिक रूप से भी समाज मे आत्म-विकास का मार्ग प्रशस्त वन सके। जो धर्म को अपने जीवन मे जितना उतार सके, उतारे और अपने जीवन को शुद्ध वनावे, किन्तु उसके आगे भी उसका कर्तव्य समाज के प्रति यह होता है कि वह धार्मिक विचारधारा का अधिकाधिक प्रचार एवं प्रसार करते हुए अधिक-से-अधिक मात्रा मे जन-जीवन मे भी सशोधन एव परि-मार्जन की प्रक्रिया प्रारम्भ करे। धर्मानुराग मे रत रहने का यही व्यापक अर्थ हो सकता है।[1]

प्रभुकृपा

प्रभुकृपा की आलकारिकता का विवेचन आचार्य श्री के शब्दो मे—

कवि आनन्दघन जी ने प्रार्थना मे कहा है कि भगवान् की कृपा-दृष्टि हुई, तो मुझे दर्शन हो जायेंगे। इससे यह प्रश्न उठता है कि क्या वही दर्शन है, जहाँ प्रभु की कृपा-दृष्टि है और जहाँ प्रभु की कृपा-दृष्टि नही है तो वहाँ दर्शन नही है? क्या प्रभु की आत्मा के ऊपर अकृपा है या क्या वे कृपालु नही है? अथवा क्या वे उसी पर कृपा करते है, जो उनकी भक्ति करता है, और अन्य पर नही? अगर इस प्रकार की वृत्ति प्रभु मे मान ली जाय तो उनका स्वरूप शुद्ध माना जायगा या अशुद्ध?

१—पावस प्रवचन, भाग ४, पृ० १२१—१२३

यदि भगवान् कृपा-अकृपा के प्रपच मे पडते हो, तो शायद वे भगवान् ही नही रहेगे । फिर तो उनकी तुलना उस अधिकारी से की जा सकती है, जो रिश्वत के जरिये कृपा या अकृपा करता है । अत प्रभु-कृपा के कथन का सही आशय यह है कि हम अपनी आन्तरिक कृपा को बनावे । अन्तर के चेतन प्रभु की कृपा हुई, तो आत्म-दर्शन अवश्य हो जायेंगे ।

एक दृष्टि से भगवान् दो तरीके के हैं । एक तो शुद्ध परमात्मा जो अष्ट-कर्म से रहित शुद्ध अवस्था मे आनन्दपूर्वक निर्वाण स्थिति मे विराजमान है । वे तटस्थ द्रष्टा होते है । ससार के किसी भी पदार्थ से उनका लाग-लगाव नही होता । दूसरे भगवान वे, जो अपने ही अन्तर मे बैठे हुए है—प्रत्येक के अन्तर मे बैठे हुए है । ये भगवान् कर्मलिप्त होने के कारण अभी तेजवान न दिखाई देते हो किन्तु ज्यो ही कर्मों का आवरण हटता है, इनका तेज प्रकट होते-होते उसी अन्तिम बिन्दु तक पहुँच जाता है जो स्वय प्रभु का तेज होता है । अत· जागरण अवस्था मे अपने ही आत्मप्रभु की जितनी अधिक कृपा होगी, उतने ही शीघ्र उसके दर्शन सुलभ हो सकेंगे—इसमे कोई सन्देह नही है ।

प्रभु कृपा तो सूर्य-किरण सी होती है

सूर्य का प्रकाश आपके सामने व्यापक रूप से आ रहा है और यह सभी के पास समान रूप से पहुँच रहा है । क्या प्रकाश-दान मे उसकी कोई भेद-भरी स्थिति है ? सूर्य अपनी गति से आकाश मे समभाव से चलता है, किन्तु ज्ञानी पुरुष उस फैले हुए प्रकाश से अपना मार्ग ढूँढ लेते है । इसके विपरीत जो अज्ञानी, मोहग्रस्त और सुषुप्त बने रहते है, वे उल्लू की तरह उस फैले हुए प्रकाश को भी ग्रहण नही कर पाते है । जैसे प्रकाश को प्राप्त करने मे सूर्य की कृपा या अकृपा का कोई अर्थ नही है, उसी प्रकार प्रभु के स्वरूप को समझकर उससे प्रेरणा पाने मे भी प्रभु की कृपा या अकृपा का प्रश्न ही नही उठता ।

प्रभु-कृपा का यही अर्थ लिया जा सकता है कि उन्होने जिस आदर्श साधना से स्वय को कर्मावरण से मुक्त किया, उस आदर्श-साधना से कोई भी प्रेरणा ले सकता है, बशर्ते उसके भीतर के नेत्र खुले हो । अत. प्रभु कृपा की इस दृष्टि से सूर्यकिरण के साथ तुलना की जा सकती है, जो सभी के लिये उपयुक्त होती है ।[1]

मन साधना के संदर्भ मे

आध्यात्म साधना का मुख्य केन्द्र "मन" है । यह नीतिवाक्य अत्यत तथ्य पूरक है कि "मनोविजेता जगतो विजेता" । किन्तु मन की साधना सुगम नही

१–पावस प्रवचन, भाग ४, पृ० ६६–६७

है। अनेकानेक साधक मनोनिग्रह के विविध साधना-मार्गों का अवलम्बन लेते हैं, परन्तु अधिकांश साधक मन की साधना के विषय मे हताश और निराश हो पथविचलित हो जाते हैं। ऐसे साधको के लिए आचार्य श्री की वाणी कोमल किंतु साहस भरे सब्दो मे प्रस्फुटित होती है।

आज का साधक प्रभु की भक्ति एव सेवा करने बैठता है और सोचता है कि सेवा की साधना का प्रसग बनता नही है। अत. वह मन को स्थिर करने का प्रयास करता है। उस प्रयास मे जब उसको आंशिक सफलता भी नही मिलती है, तब अधिकतर वह या तो मनोनिग्रह के अप्राकृतिक उपायो की ओर बढ जाता है अथवा ऊबकर मनोनिग्रह के अभ्यास को ही छोड बैठता है। आखिर मे जाकर वह कहना शुरू कर देता है कि मन कभी वश मे नही हो सकता है।

वास्तव मे मन को वश मे कर पाना एक टेढी खीर है। आप किसी एक विषय पर कुछ गहराई से विचार करना चाहते हैं अथवा सिर्फ प्रभु के नाम की एक माला ही एकचित्त से फिरा लेना चाहते हैं और मन को रोककर उसे आप उसमे लगाना चाहते हैं, लेकिन होता क्या है कि आपने मन को लगाया एक विषय या प्रभु के नाम मे और दूसरे ही क्षण वह दौड जाता है आपके कारखाने मे कि वहाँ के उत्पादन को कैसे हल्की जात का बनाया जाय, जिससे खर्चा कम बैठे और मुनाफा ज्यादा आवे। वहाँ से मन को किसी तरह खींचखाँच कर लावे और फिर से प्रभु के नाम मे जुटावे, किन्तु वह फिर अगले ही क्षण आपके पुत्र के विवाह की चिन्ता मे भाग जायगा कि अभी तक पचास हजार का माल देने वाले लडकियो के पिता तो आ चुके हैं—अब और माल के लिये ठहरा जाय या सम्बन्ध तय कर लिया जाय। आप फिर वहाँ से उसे खीच कर माला मे पिरोना चाहते हैं और वह बार-बार इधर-उधर भागता रहता है। अक्सर पहले-पहले नतीजा यह निकलता है कि चाहे आप माला फिराने बैठे हैं या सामायिक लेकर, उस क्रिया का समय पूरा हो जाता है, परन्तु लगता है कि अन्त करण से तो उस क्रिया की साधना हुई ही नही। शरीर जरूर क्रिया मे बैठा दिख रहा था, किन्तु मन तो न जाने कहाँ-कहाँ छलांगे लगाता फिर रहा था।

मन की गति इतनी चचल होती है कि वह एक क्षण मे अगणित स्थानो की सैर कर आता है और जितनी चचलता अधिक होती है उतने ही विविध विचार तो कर लिये जायेंगे, किन्तु उनमें से किसी एक विचार का भी सफल कार्यान्वयन हो—इसकी आशा कम ही रहती है। अत. इसमे कोई सन्देह नही कि जब तक मन की इस चचलता को समाप्त न कर दें तथा उसकी गति पर कठोर निग्रह लागू न कर दें, साधना की सफलता का वातावरण नही बन सकेगा।

आत्म-साधना की ओर जिसने आगे कदम बढाया है, उसके सामने दो ही विकल्प रहते है कि या तो वह अरिहन्त परमात्मा की शरण मे जाकर उनकी प्रार्थना एव निज-नियत्रण के आधार पर मन को एकाग्र बनाने का अभ्यास करे तथा उस एकाग्र चित्तता से प्रभु की भक्ति और सेवा साधे अथवा मन की गोता-खोरी मे उलझ कर अपनी साधना की स्थिति को खो बैठे। प्राय कई साधको के ऐसे भाव बन जाते हैं कि जब तक मन की चचलता समाप्त न हो और उसे वश मे न कर सके, तब तक साधना के क्षेत्र मे आगे कुछ भी नही किया जाना चाहिए। किन्तु निराशा के ऐसे अधकार मे डूबने की जरूरत नही है, क्योकि अरिहन्त परमात्मा के आदर्श स्वरूप को गहराई से हृदयगम करते रहे तो शीघ्र ही मन वश मे होकर रहेगा। उनका आदर्श स्वरूप इतना रोचक एव अनुप्रेरक है कि एक बार ज्ञान-दृष्टि से उसे समझने और परखने का प्रयास कर लिया जाय, तो मन मे उसे निजात्मा के लिये भी पा लेने की अडिग ललक पैदा हो जाती है। यह ललक ही मन को इतनी मजबूती से उस दिशा मे मोड देगी कि वह पथ भ्रष्ट होने की कोशिश तक नही करेगा।

यह मानकर चलिये कि ससार मे एक भी ऐसा कार्य नही, जिसे सकल्पवान् और साहसी पुरुष पूरा न कर सके। अरे, साहसी पुरुष ही तो असभव को भी सभव करके दिखाते हैं। फिर मन की चचलता पर रोक लगाने का काम कोई असभव काम नही है। अरिहन्त परमात्मा के दिव्य स्वरूप मे मन को एकाग्र करने के अभ्यास से चचलता को धीरे-धीरे समाप्त करते जाना कठिन नही होता। दुनिया मे ऐसा कोई तत्त्व नही, जिसकी स्थिति का पता नही लगाया जा सके। यह पता लगाने का काम भौतिकता की दृष्टि से ही नही होता, उसमे आध्यात्मिक जीवन की परिपुष्टि का ज्ञान भी आवश्यक होता है। बल्कि यो कहा जाय कि आध्यात्मिक क्षेत्र किसी भी तत्त्व का पता लगाने मे कभी असफल नही होता, जबकि भौतिक विज्ञान की कही भी सम्पूर्ण रूप से पैठ नही होती है। जो उसने पता लगा लिया है, वह कही भी पूर्ण नही है। मन के सम्बन्ध मे ही देखिये कि विज्ञान न तो इसके स्वरूप का अब तक ठीक पता लगा पाया है, न वह मन की चचल गहराइयो मे ही उतर कर उसकी गति के बारे मे कोई अनुमान लगा सका है, किन्तु आध्यात्मिकता के लिये मन ऐसा कोई दुरूह तत्त्व नही, जिसका वह पता नही लगा सके, बल्कि मन की गति के प्रत्येक रूप का पूर्ण विवेचन आध्यात्मिक क्षेत्र मे खोजा हुआ मिलेगा। इसलिये निराशा का कोई कारण नही कि मन को वश मे किया नही जा सकता।

मन को स्थिर करने की सचोट विधि का उल्लेख आध्यात्मिकता मे है। मन के परिणामो की चचलता कई प्रकार से मनुष्य के सामने आती है। उस

चचलता को समाप्त करने के लिये कई लोग अलग-अलग तरीको मे साधना की विधियाँ अपनाते है। कुछ लोगो का कहना है कि इसके लिये त्राटक किया जावे। त्राटक का नाम शायद आपने नही सुना होगा। किसी भी एकान्त स्थान मे दीवार पर अमुक चिह्न अकित करके उसी की ओर एकटक दृष्टि साधकर मन मे एकाग्रता लाने का जो प्रयास किया जाता है, उसे त्राटक विधि के नाम से पुकारा जाता है। दृष्टि को एक स्थान पर केन्द्रित करके चित्त को एकाग्र करने की इस विधि को हठयोग का ही एक प्रकार समझा जाना चाहिये। एक तो यह बडी ही स्थूल विधि है और इससे देखा गया है कि आँखो की नजर खराब करने के अलावा चचलता समाप्त करने की दृष्टि से कोई लाभ नही होता। इस विधि से आत्म-शान्ति को भी कोई खास तरह की प्रेरणा नही मिलती है।

एकाग्रता लाने के लिये प्राणायाम की विधि भी अपनाई जाती है। प्राणायाम के तीन रूप मुख्य हैं—रेचक, पूरक और कुम्भक। श्वास-निरोध के माध्यम से ये विभिन्न प्रक्रियाएँ पूरी की जाती हैं। अत प्राणायाम का मुख्यतः सम्बन्ध शरीर के साथ होने से इसका रूप भी स्थूल ही रह जाता है जो मन की सूक्ष्म क्रियाओ को प्रभावित कर सके, ऐसा कम ही देखा जाता है। प्राणायाम से यह अवश्य है कि श्वास पर कुछ काबू पा लिया जा सकता है। कई वक्त तो कुम्भक आदि के प्राणायाम की प्रक्रिया से मस्तिष्क की बारीक नसे फट जाती हैं और साधक जीवन भर के लिये या तो विक्षिप्तता का बोझ मोल ले लेता है अथवा अपने जीवन से ही हाथ धो बैठता है। ऐसा कुप्रभाव किसी गलत प्रक्रिया से हो जाता है।

समाधि के द्वारा भी कई लोग मानसिक नियत्रण करना चाहते है। समाधि मे वायु को कपाल मे चढा लेते हैं और फिर पंच भूत मे से एक-एक तत्त्व की साधना की जाती है। इसमे भी श्वास-क्रिया का ही मुख्य प्रभाव रहता है। समाधि के द्वारा दिल की धड़कन तक को रोक लेते हैं। किन्तु ये सारे उपाय बाहरी स्थिति पर आधारित होने से अपने स्थूल रूप में ही शरीर की अमुक क्रियाओ को नियत्रित करते हैं। ये मन की सूक्ष्म चचलताओ का निग्रह करके उसे स्थायी रूप से सद्विचारणा में स्थिर कर सके हो, ऐसा नही पाया गया है।

हठयोग की अपेक्षा साहजिक योग की स्थिति के साथ यदि मन की चचलता को समाप्त करने की कोशिश की जाय तो चचलता से निवृत्ति मिल सकती है। साहजिक योग की प्रक्रिया के लिये केवल बाहरी साधनो के ऊपर ही अवलम्बित नहीं रहना है, बल्कि बाहरी साधनो की सहायता के बाद साधना को अन्तर की कड़ियो से जोड़ना पड़ता है।

मन ऐसा चचल तुरग है, जिस पर नियत्रण न कर सको, तो वह न जाने कहाँ-कहाँ और कैसी-कैसी स्थिति मे गिराता रहता है, जिसका कोई अनुमान भी नही। परन्तु यदि इसी तुरग को आप एकाग्रता की लगाम लगा सके, तो फिर इस तुरग के समान शक्तिशाली एव गतिशाली भी दूसरा साधन नही मिलेगा। लगाम से पूरी तरह नियत्रित यह तुरग फिर आत्म-विकास-पथ पर इतनी सन्तुलित और स्वस्थ गति से चलेगा कि फिर आपकी चरम यात्रा आसान बन जायगी।

कहा गया है कि "मन एव मनुष्याणा कारण बधमोक्षयो।" मनुष्य के बन्ध या मोक्ष का कारण मन ही होता है। मन का चचल घोडा बेकाबू है, तो वह बन्ध कराता जायगा, जिसके कारण आत्मा कर्मों से बधकर जन्म-मरण के चक्र मे भ्रमित होती रहेगी। मगर अगर यही घोडा काबू मे आ जाता है, तो फिर इसी एकाग्र मन के जरिये मोक्ष तक की महायात्रा सफलतापूर्वक पूरी की जा सकती है।

अन्तर की कडियो को जोडकर ही मन की चचलता को मेटा जा सकता है, ऐसा मेरा मानना है। बाहर के साधन मन पर मार कर सकते हैं, मगर उसकी चचलता को रोक नही पायेगे। ये अन्तर की कडियाँ जब अरिहन्त परमात्मा के दिव्य स्वरूप-चिन्तन के साथ जुडती है, तब उनका सीधा प्रभाव मन की चचलता पर पडता है। एकाग्रता ही चचलता की विपरीत स्थिति होती है। जब एकाग्रता आ जाय, तो चचलता का अभाव हो जायगा। भगवान् के दिव्य स्वरूप मे मन जब एकाग्र होता है, तो स्वाभाविक रूप मे उसकी चचलता समाप्त हो जाती है।

आन्तरिकता के इस जीवन्त प्रयोग को एक दृष्टान्त से समझिये। एक छत का पखा बिजली के करेन्ट से चल रहा है। उसकी कितनी तीव्र गति होती है, चचलता होती है! उसके चलते वक्त यदि गर्मी का तापमान बढ जाय और वह साधारण सीमा से ऊपर चला जाय तो पखे की हवा का अनुभव भी कैसा बन जायगा ?

मैंने तो सुना है, स्वय ने कभी अनुभव नही किया। किन्तु आप ही लोगो मे से कहते हैं कि वैसी स्थिति मे पखे की हवा भी इतनी ज्यादा गरम हो जाती है कि उसे सहन करना मुश्किल हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि तब पखा बन्द कर देने की जरूरत पैदा हो जाती है।

अब कल्पना कीजिये कि उस पखे को बन्द करने का भार ऐसे आदमी पर आ गया है जो यह नहीं जानता कि इस चलते हुए पखे को बन्द कैसे किया

जा सकता है ? तव वह पहले अपने शरीर की ताकत का प्रयोग करना चाहेगा, किन्तु उसका परिणाम क्या होगा कि या तो वह विजली का झटका खायेगा या पखे की पत्तियो का धक्का खाकर शरीर के किसी अग को नुकसान पहुँचायेगा। सोचिये, वह अपने हाथ से उसे नही रोककर किसी रस्से की सहायता से उसे रोकने की कोशिश करता है तो भी उसे सफलता नही मिलेगी। पखा टूट तो जायेगा, किन्तु करेन्ट रहते हुए अन्य किसी विधि से वह रुकेगा नही।

किन्तु, जो उसके सही भेद को जानता है वह तत्काल उसके वटन को वन्द कर देगा और तुरन्त ही पखा रुक जायगा। पखें के चलने के मुख्य कारण को जो नही समझ पाया, तो वह उसे वन्द भी नही कर सकेगा। विजली का करेन्ट उस पखे के चलने का मुख्य कारण है और उस कारण को समझ कर जो जव चाहे पखा चला सकता है और उसे वन्द कर सकता है। सूत्र छोटा-सा है, किन्तु जव तक चित्त मे जमे नही, तो वाधा वडी वनकर ही हमारी सफलता के वीच मे खडी रहती है।

आप वाहरी पखे का रूपक तो समझ गये हैं, किन्तु अव अन्दर के रूपक को समझने की भी कोशिश कीजिये। आपके अन्दर भी मन का पखा घूम रहा है। उस मन के पखे को पकडने के लिये लोग तरह-तरह की विधियाँ प्रयोग मे ला रहे हैं। पखे को पकडने की चेष्टा या रस्से से उसे रोक लेने की कोशिश को आप त्राटक कहिये, प्राणायाम, समाधि या हठयोग का कोई अन्य साधन कहिये, वात एक सी ही है। इन विधियो से पखे पर चोट की जा सकती है या स्वय के शरीर पर भी चोट खाई जा सकती है, किन्तु विजली के करेन्ट को वन्द नही किया जा सकता है, जिसके विना पखा वन्द होता नही। विजली का करेन्ट है परिणामो की चचलता और उसका वटन है आत्मनिग्रह। इसके लिये साहजिक योग कारगर वन सकता है। आत्मनिग्रह के आदेश से ही परिणामो की गति हो सकेगी। तव वह गति सार्थक रूप मे होगी। परिणामो की विजली का करेन्ट जव नियत्रित गति से चलेगा, तो मन का पखा भी आवश्यक रीति से ही घूमेगा।

आत्मनिग्रह को प्राप्त करने के लिये नियमित साधना का क्रम वनाना होगा। चौवीस घंटो मे से अगर एक घण्टा भर भी यह सोचा जाय कि मन रूपी पखे का वटन कहाँ है और उसका उपयोग कैसे किया जा सकता है, तथा इसे जानने के वाद उस वटन को काम मे लाने की कला का अभ्यास किया जाय, तो फिर कैसे सम्भव होगा कि मन का पखा मनमाने तौर पर चचल गति से घूमता ही जाय और किसी से रुके नही ? पखे का चलना फिर पखे के हाथ मे नही होगा, वटन के वावू मे होगा। वस इसी वटन को पाने और उसका

सदुपयोग करने की स्थिति बन जाय तो समझिये कि अरिहन्त परमात्मा की भक्ति और सेवा का एक बहुत बडा भेद हाथ लग गया है । जब तक आपमे मन को समझ कर उसकी चचलता को रोकने की कला हाथ मे नही आयेगी, तब तक चाहे कितनी ही अन्य विधियो का आप प्रयोग कर ले, वास्तविक सफलता हाथ नही लगेगी ।

बुनियादी तौर पर मैं यह बताना चाहता हूँ कि मन के परिणामो की चचलता को समाप्त करने के लिये पहले उन परिणामो को चचल बनाने वाले कारणो को भलीभाति समझ लेना होगा । तब बाद मे उनसे सघर्ष करके उन कारणो को मिटाना पडेगा । ऐसे कौन-से कारण है—कौन-से निमित्त बन रहे हैं, जिनसे परिणाम चचल होते रहते है ? ऐसे कौन-से ढग हो सकते है, जिनके द्वारा चचल परिणामो के समय भी विचलित होने से रुका जा सकता है ? इस सारी प्रक्रिया को ध्यान मे रखकर उन मूलभूत कारणो पर पहले अकुश लगाना होगा ।[1]

अध्यात्म मे नैतिक स्वर

आध्यात्मिक जीवन का अर्थ है आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता मे विश्वास करते हुए ससार की समस्त आत्माओ को आत्मवत् समझना जहाँ "आत्मवत सर्वभूतेषु" की भावना का प्रादुर्भाव होता है, वही आत्म विकास के द्वार उद्-घाटित होते हैं, और जहाँ आत्मवत् भावनाएँ होगी, वही जीवन मे नैतिकता का अनुशीलन सहज सयोगिक होगा । आज आध्यात्मिक ह्रास का एक कारण नैतिक पतन की पराकाष्ठा भी है । मूल को न सीचकर शाखा-प्रशाखाओ को सीचने के समान ही आज अधिकाश धर्मोपदेशक अध्यात्म की भूमिका बिना ही गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ खडी करने का प्रयास करते पाये जाते हैं ।

किन्तु यह तथ्यात्मक सत्य है कि जन-जीवन मे नैतिक निष्ठा उत्पन्न किये बिना अध्यात्म का तरु अथवा भवन खडा नही रह सकता है । ऐसी स्थिति मे यह नितान्त आवश्यक है कि अध्यात्म-उपदेशक नैतिक परिष्करण के दायित्व को भी भूमिका-शुद्धि के रूप मे अपने हाथ मे ले ।

नैतिक ह्रास के इस युग मे श्रद्धेय आचार्यश्री ने समाज और राष्ट्र को ही नही सम्पूर्ण मानव जाति किंवा विश्व को "समता दर्शन" की अप्रतिम देन दी है । इसकी विस्तृत चर्चा तो हम एक स्वतन्त्र प्रकरण मे प्रस्तुत कर चुके हैं, किन्तु प्रकृत मे हम उन मुद्दो का स्पर्श कर रहे हैं, जिनमे आचार्यश्री अपने आम अध्यात्म-प्रवचनो मे नैतिक जागरण की अध्यात्म मूलक व्याख्या प्रस्तुत करते है ।

१–ताप और तप, पृष्ठ १२६-१३७ ।

नैतिक पतन का मूलाधार है आर्थिक असमानता एव आर्थिक अभाव। आज का युग "अर्थ युग" वन गया है। सम्पूर्ण मानव-समाज अर्थ के पीछे वेतहासा भागा जा रहा है। अर्थोपलब्धि के लिए वह कैसे-कैसे घिनौने कृत्य करता जाता है, इसकी ओर यदि दृष्टिपात करे, तो लगता है आम इन्सान के पास नैतिकता नाम की कोई चीज नही रह गई है। आज इन्सान-इन्सान नही; केवल नोट (अर्थ) छापने की मशीन भर रह गया है।

अनैतिक सम्पदा मे आनन्द खोजने वाले तथाकथित पूँजीपतियो की मनोवृत्तियो एव उनके कुत्सित कर्मो का पर्दाफाश करते हुए आचार्यश्री ने समाज के अग्रगण्यो को वडे सचोट शब्दो मे सीख दी है :—

सव मे रहने वाली आत्माएँ योग्यता की दृष्टि से समान हैं। परन्तु उन आत्माओ ने क्वचित् अर्थ को ही ग्रहण किया, अत. विचित्रता पैदा हुई। यदि ससार की सभी आत्माएँ सांसारिक पदार्थो मे न उलझकर अध्यात्म-जीवन के पूर्ण लक्ष्य को ग्रहण करे और ऐसा चिन्तन करें कि जितनी भी आत्माएँ हैं, वे सव मेरी जैसी आत्माएँ हैं, मेरे तुल्य हैं, तभी कल्याण हो सकता है। दूसरे शब्दो मे कहा जाये तो योग्यता की दृष्टि से वे परमात्मा के तुल्य हैं और जव ऐसी स्थिति है, तो इन आत्माओ के साथ द्वन्द्व क्यो करूँ, धोखेवाजी क्यो करूँ? यदि मैं आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से चिन्तन नही करता हूँ, तो मैं परमात्मा के साथ धोखा करता हूँ। मैं मनुष्य को नही ठगता हूँ, परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से परमात्मा को ठगता हूँ। मैं अपने पडोसियो को धोखा देकर प्रसन्न होता हूँ, तो आध्यात्मिक दृष्टि का चिन्तन मुझे वताता है कि तू आध्यात्मिक नही है, भौतिक है। तू पडोसियो को अपने तुल्य नही समझ रहा है। यदि समाज की विषमता को देखकर खुश होता है, तो समझना चाहिए कि वह भौतिक है, आध्यात्मिक नही है, अज्ञानी है। समाज मेरे भाइयो का समूह हैं। मैं अपनी हवेली मे वैठकर गुलछर्रे उडाता हूँ और यह सोचता हूँ कि मेरे पास तो पक्का मकान है, तीन मजिली हवेली है, मैं तो सव तरह से सुखी रह सकता हूँ। मेरे पास मे रहने वाले गरीवो की झोपडियाँ भले ही जलें, नष्ट हो, मेरा क्या विग-डता है? यदि इस प्रकार का चिन्तन है, तो यह वहुत वडे अज्ञान का चिन्तन है। वह नही सोच पाता है कि यह हवेली वनाई किसने है? इसको वनाने वाले कौन हैं? क्या स्वय मेहनत करके वनाई है यह हवेली? इसके निर्माण मे उसने अपने शरीर का श्रम लगाया है या श्रम करने वाले दूसरे हैं? जिन्होने श्रम करके हवेली को वनाया है, वे व्यक्ति झोपड़ियो मे रह रहे हैं। उनको कितना क्या कष्ट हो रहा है, आवश्यक सामग्री भी उनको मिल रही है या नही? उनकी दशा कैसी है? यदि वे इसमे सहयोग नही देते तो तीसरी मंजिल पर नहीं वैठा जा सकता था। तीसरी मजिल पर वैठाने का श्रेय किसी को है तो

उन श्रम करने वाले व्यक्तियो को ही है । याद रखना चाहिए कि पडौसियो और श्रम करने वालो के साथ आत्मीयता का व्यवहार नही रखा तो आप भी क्या सुरक्षित रह सकेगे ?

आज हिन्दुस्तान की दशा बडी विचित्र है । जिस देश का अधिकाश भाग गाँवो मे रह रहा है, उन ग्रामीण व्यक्तियो की दशा क्या है ? वे क्या सोच रहे हैं ? वे जैसे-तैसे अपने पेट पर पट्टी बाँध कर जीवन बिता रहे है ? इनके जीवन की दशा दयनीय हो रही हैं ।

परन्तु यह सब देखने-सोचने, की फुर्सत किसको है ? कहावत है—"मरे जो दूजा, हम करायें पूजा ।" दूसरे लोगो की कैसी भी दशा हो, हमको इसकी कोई परवाह नही । हमारा उनके साथ कोई सम्बन्ध नही । परन्तु हमारा ऐसा सोचना ज्ञान के साथ है या अज्ञान के साथ है ? क्या इन भाइयो के साथ हमारा कोई सम्बन्ध नही है ? वे भाई जिस रोज सम्बन्ध नही रखेगे, उस दिन ज्ञात होगा कि हमारी क्या दशा बन रही है ? हमे जिन्दा रहने का अवसर तभी मिलेगा, जब उन व्यक्तियो के साथ आत्मीय-सम्बन्ध बनाये रखेगे । भले ही आज वे आर्थिक दृष्टि से कमजोर है परन्तु सब हमारे साथी हैं । इनके साथ हर व्यक्ति की आत्मीय भावना होनी चाहिए और चिन्तन करना चाहिए कि ये मेरे भाई हैं, मैं इनका भाई हूँ ।

आज के अधिकाश भाई यही सोचते हैं कि मजदूरी का काम तो मजदूरो का है । हम मेहनत-मजदूरी क्यो करें ? यह व्यर्थ का बडप्पन मध्यम-वर्ग मे विशेष रूप से देखने मे आता है । अरे ! मजदूरी करना कोई छोटा काम नही है ! इस झूठी प्रतिष्ठा के भ्रम मे फसे हुए मध्यम वर्ग की स्थिति क्या है ? यह वर्ग बडी बुरी तरह से पिसा जा रहा है । उसकी आमदनी के जरिए टूट रहे हैं और दो पाटो के बीच मे जैसे दाने पिस जाते हैं, वैसे ही मध्यम वर्ग पिसा जा रहा है । ऐसी दयनीय स्थिति मे भी मध्यम वर्ग अपनी झूठी इज्जत को लेकर चल रहा है और अभी तक भी इस वर्ग मे जागृति नही आई है । इसने कुरीतियो का भारी बोझ बढा लिया है और व्यर्थ के कार्यों मे फिजूल खर्च कर रहा है । कष्ट पाते हुए भी वह कुछ नही विचार रहा है । अरे ! लौकिक रीति-रिवाजो की बात तो दूर रही, आत्मशुद्धि के लिए की जाने वाली तपस्याओ के पीछे भी झूठी प्रतिष्ठा और कुरीति का भूत लग गया है । कोई बहिन तपस्या कर रही है । उसने अठाई आदि कर ली, तो उसके पीछे भी कितना क्या किया जाता है, उसका हिसाब आप जानते होगे ! तपस्या तो आत्मशुद्धि के लिए होती है, परन्तु उसके पीछे भी बडे-बडे आडम्बर होने लगे है । यह भी क्या तपस्या है ! ऐसी स्थिति कभी पैदा नही करनी चाहिए ।

प्रत्येक व्यक्ति को सोचना चाहिए कि मेरे पास सम्पत्ति का या शक्ति का

जो कुछ सचय है, उसका स्वल्प-से-स्वल्प भाग मैं अपने लिए ग्रहण करूँ और जो कुछ शेष बचे, वह अन्य अभावग्रस्त व्यक्तियो के लिए समवितरण मे काम आये । मैं सबके साथ सहानुभूति रखते हुए चलूँ । यदि इस प्रकार की भावना मानव के मस्तिष्क मे आ जाती है, तो वह अध्यात्म के धरातल पर अपने-आपको टिकाये रख सकता है और सकटग्रस्त दु खी व्यक्तियो के आँसू भी पोछ सकता है । वह अध्यात्म-मार्ग, श्रेयमार्ग पर आरूढ हो सकता है । यदि वह इस प्रकार का चिन्तन नही करेगा, तो स्वय आध्यात्मिक मार्ग से गिरेगा साथ ही दूसरो को भी गिराने मे सहायक (निमित्त) बनेगा ।

कोई व्यक्ति कितना भी सम्पत्ति-सम्पन्न क्यो न हो, परन्तु उस सम्पत्ति को यदि कायम रखना है, तो जितनी भी जनोपयोगी सामग्रियाँ हैं, उनके यथा-अवसर समवितरण मे आस्था होनी चाहिये । तभी समता-दर्शन की भूमिका पर आध्यात्मिकता का साकार रूप बन सकता है ।

अत आज के मानव, चाहे वे किसी भी दशा मे हो, किसी के पास पैसे का धन हो, बुद्धि का धन हो, उन सबको अपने-अपने धन का सदुपयोग करना चाहिये । यदि अपने पडौस मे, गाँव मे, राष्ट्र मे रहने वाले भाइयो के साथ सद्व्यवहार किया, समवितरण किया, तो बन्धुओ तभी आपकी आध्यात्मिक सम्पत्ति सुरक्षित रहेगी ।[1]

चित्त का अर्थ चैतन्य है और उसका शुद्ध अर्थ है ज्ञान । ज्ञान उस तत्त्व से अलग नही है । ज्ञान उसका गुण है । वह ज्ञानवान सत् है और सत् का ज्ञाता कहलाता है । यदि वह ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, चरम सीमा को पा लेता है, तो वह आनन्द से परिपूर्ण हो जाता है । ये आत्मा की तीन अवस्थाएँ हैं—सत्, चित्त और आनन्द । जो इन तीनो अवस्थाओ से परिपूर्ण है, वह पर-मात्मा है । जो इनमे से दो अवस्थाओ—सत् और चित्त से युक्त है, वह आत्मा है । उसमे भी पूर्णता प्राप्त करने का सामर्थ्य समाया हुआ है, परन्तु अभी वह कर्मो से आच्छादित है । उस पर मोह और माया का आवरण लगा हुआ है । वह अपने आनन्द को पाने के लिए छटपटा रही है । वह देखती है कि मेरा प्रिय आनन्द कहाँ है । वह इस आनन्द की खोज मे जहाँ भी राह मिलती है, वही बढती है । उसको पता लगा कि अमुक वस्तु मे आनन्द है, तो अपने समस्त जीवन की शक्ति लगाकर वह उस स्थान पर पहुँचने की कोशिश करती है, क्योकि वह आनन्द की भूखी है । परन्तु वहाँ पहुँचने पर भी कष्ट मिलता है और आनन्द की उपलब्धि नही हो पाती है, तब वह घबरा कर सोचती है कि यहाँ आनन्द नही है, पहाड की चोटी पर आनन्द है । लेकिन पहाड़ के इर्द-गिर्द जगली जन्तु हैं और भयावने दृश्य है । वहाँ पहुँचना शक्य नही है । परन्तु उसे

१-आध्यात्मिक आलोक, पृ० ३०-३२

यह विश्वास हो जाता है कि पहाड की चोटी पर आनन्द की अनुभूति होने वाली है, तो वह शरीर की भी परवाह नही करती है और पहाड की चोटी पर पहुँचने की कोशिश करती है। वहाँ पहुँचने पर भी आनन्द का अनुभव नही होता है। इसी प्रकार समुद्र की गहराइयो मे गोते लगाकर अथवा आकाश मे उडाने भर कर वह आनन्द प्राप्त करना चाहती है, लेकिन उसे वहाँ पर भी आनन्द नही मिलता है।

यह सब तो मृगतृष्णा के पीछे भटकना है। जैसे ग्रीष्म-ऋतु मे मृग को प्यास सताने लगती है, तब वह पानी की खोज मे इधर-उधर दूर-दूर तक दृष्टि दौडाता है। रेतीले मैदान मे सूर्य की किरणो की चमक से उसे प्रतीत होता है कि वहाँ पानी हिलोरे ले रहा है। अत वह सारी शक्ति लगा कर पानी पीने के लिए वहाँ पहुँचता है। लेकिन वह देखता है कि यहाँ तो पानी नही है। क्या मैं भ्राति मे पड गया ? वह फिर दृष्टि दौडा कर देखता है तो ज्ञात होता है कि पानी तो पीछे रह गया है। वह फिर उसी तरफ दौड जाता है। लेकिन वहाँ पर भी वास्तविक पानी नही होने से उसकी सम्पूर्ण आशाओ पर पानी फिर जाता है। सूर्य की किरणो से रेतीले मैदान मे जो पानी-जैसा दृश्य दिखलाई देता है, उसको मृगतृष्णा की सज्ञा दी गई है।

भ्रांतिवश जैसे मृग पानी की खोज मे दौडता-दौडता अपने आपको समाप्त कर देता है, वैसी ही दशा आज के अधिकाश मानवो की हो रही है। मनुष्य ज्ञान से युक्त है, परन्तु उसका प्रयोग वह पाँचो इन्द्रियो के विषय-सुख की प्राप्ति मे कर रहा है, जिनमे वास्तविक आनन्द नही है, सिर्फ लुभावने दृश्य दिखलाई देते है।

भौतिक पदार्थों के पीछे मनुष्य भटक रहा है और मानता है कि उनको प्राप्त करने के लिए, चाहे जो साधन अपनाना पडे, भले ही खून-पसीना एक हो जाये, परन्तु कोई परवाह नही। उसे तो चाहिए चन्द चादी के टुकडे। वह सोचता है—इनको जितना इकट्ठा कर लूँगा उतना ही आनन्द मिलेगा। वह ऐसा कभी नही सोचता है कि जिन्होने काफी धन इकट्ठा कर लिया है, क्या उनको आनन्द मिल गया ?

आज भारतवासियो की दृष्टि भी पाश्चात्य जगत् की तरफ लगी हुई है। वे सोचते हैं कि अमेरिका वाले आनन्द मे होंगे, क्योकि उनके पास बहुत पैसा है। परन्तु पूछिए उनसे कि आप कितने आनन्द मे हैं ? सुख-शाति मे तो हैं ? बडी हवेलियो मे रहने वालो से भी पूछिये कि आपको सुख है या दु ख ? वे अपनी सारी शक्ति लगा करके मृगतृष्णा की तरफ भाग रहे हैं। वे नही सोचते हैं कि यह जीवन क्यो है और क्या है ? यद्यपि इन पदार्थों का सर्वथा निषेध नही किया

जा सकता है, परन्तु इनसे ही आनन्द मान लेना और इनसे ही चिपक जाना, यह अज्ञान की दशा है। इसी से आत्मा के आनन्द की शक्ति दव रही है और उसका ह्रास हो रहा है। आज के मानव को सोचना चाहिए कि मैं पूरी शक्ति लगा कर इन पदार्थों को बटोर तो रहा हूँ, परन्तु इनके साथ मेरा सम्वन्ध नही है। ये स्थायी नही है। दुनिया चाहे जिधर भी दौड रही हो, परन्तु क्या हम भी उधर ही भागते जाये। दुनिया मे जिधर भी जाइए, उधर यही रट लग रही है—हाय पैसा! हाय पैसा! हाय धन! यदि यह धन मिल भी गया, तो वह कितने दिन तक टिकेगा? उससे आनन्द की कितनी अनुभूति होगी? इसका चिन्तन करना चाहिए और यदि चिन्तन किया गया, तो अनैतिकता की ओर जीवन को नही ले जाते हुए सोचेंगे कि यह तो साधन है—साध्य नही है। साधन को सीमित रखना चाहिए। पेट की पूर्ति तो हर कोई कर सकता है। मनुष्य ही करता है, केवल यही बात नही है। मनुष्य करता है, तो इसमे क्या विशेष बात है? पक्षी के पास तो केवल एक चोच होती है, परन्तु वह भी भूखा नही रहता है और परिवार का पोषण भी करता है। पशु भी अपना कार्य करते है। परन्तु मानव के पास तो दो हाथ, दो पैर और विकसित मस्तिष्क है। क्या वह भूखा रह सकेगा?

अरे, भूख पेट की नही, परन्तु पेटी की है। उसके लिए इन्सान अपनी शक्ति को कहाँ लगा रहा है, और कहाँ-कहाँ भागता फिर रहा है? यह पेटी की तृष्णा जल्दी से पूरी नही होती है। मनुष्य इसमे आनन्द का अनुभव करना चाहता है, इसलिए वह नैतिकता और अनैतिकता कुछ नही देखता है। जैसे कोई व्यक्ति सोचता है कि ईमानदारी से व्यापार करूँगा तो थोडे से पैसे पैदा होगे। अत इसमे चालाकी की जाए, ताकि पैसे ज्यादा मिल सकें और वह वस्तु मे मिलावट करना चालू कर देता है। ग्राहक की आँखो मे धूल डालने के लिए असली घी मे डालडा या अमुक जाति का तेल डालने की कोशिश करता है। इस मिलावट की दृष्टि से व्यापारी अपनी आत्मा को कितनी मैली कर रहा है? वह सोच भी नही पा रहा है कि उसका जीवन मानवीय धरातल पर है, या अमानवीय धरातल पर है? वह जीवन राक्षस का है, या मनुष्य का है? यदि आप इसे गहराई से सोचेंगे तो प्रकट होगा कि जो व्यक्ति मिलावट करता है, वह अत्यन्त क्रूर और निर्दयी बन रहा है। कोई पैसे का गुलाम बनता है, तभी वस्तु मे मिलावट करता है। इससे मानव को कितना नुकसान होता है, इसका चिन्तन वह नही करता है। जिसके साथ जिस पदार्थ का मेल नही है, यदि वह उसमे मिला दिया जाता है, तो इस सयोग से जो पदार्थ वनता है, वह जहरीला वन जाता है। इस अनुचित सयोग से न मालूम मानव के जीवन को कितनी क्षति पहुँच रही है! इसका उसको ध्यान नही है। इस तरह से जो वस्तुओ मे मिलावट करता है, वह चाहे किसी प्रलोभन मे आकर ऐसा करता हो, परन्तु मैं अनुमान से चिन्तन करता हूँ कि ऐसा करके वह मनुष्यो के लिए

जहरीला काम करता है। ऐसा व्यापारी या कोई व्यक्ति क्या वस्तुत देश का ईमानदार और वफादार नागरिक है ? ऐसे आदमी क्या आत्मा की खोज कर पायेगे ? ऐसे व्यक्तियो के लिए क्या कुछ कहा जाए।

मैं सुनता हूँ कि जितनी ऊँचे दर्जे की दवाइयाँ भारत मे बनती हैं, उनमे भी बेईमानी चलती है। आज नकली दवाएँ बनने लगी है। अरे! रोगी रोग से त्राण पाने के लिए दवा खरीदता है, किन्तु निर्माता उन औषधियो को भी शुद्ध नही रहने देते हैं। मैने यह भी सुना है कि क्लोरोमाइसिन की गोलियाँ आदि को खोलकर दुकानदार बदल लेते हैं और उनमे कुछ दूसरे तत्त्व डालकर वे गोलियाँ दे दी जाती हैं, जिससे रोगी का जीवन खतरे मे पड जाता है, और कोई असर नही होता है। एक दृष्टि से देखा जाये, तो रोगी और दवा मे मिलावट करने वाले आपस मे एक दूसरे के भाई है। यह व्यापारी का दोष है, व्यापार का नही। जब व्यापारी इस प्रकार की मिलावट और कालाबाजारी करते हैं तो अन्य नौकरी वाले भी उनसे पीछे नही हैं। वे भी दूसरे व्यापारी बनने की तैयारी कर रहे है। इस प्रकार की दुष्प्रवृत्ति इन्सान-इन्सान के बीच चले, तो क्या वे मनुष्य हैं ? मैं तो कहूँगा कि वे मनुष्य से भी गये-बीते हैं। वे पशु से भी बदतर हैं। पशु कम-से-कम ऐसा तो नही करता है। बन्धुओ, जो मानवता के विरुद्ध कार्य करते है वे अपनी आत्मा का पतन करने वाले हैं और इसलिए ही कहना पड रहा है कि आज मनुष्य की दशा कितनी विषम है! यही समाज की विषमता है।

मैं सुनता हूँ कि विदेशो मे ऐसी प्रवृत्ति कम है। जो अपने देशवासी वहाँ जाकर आते हैं, वे वहाँ की ईमानदारी की तारीफ करते हुए कहते है, "क्या कहना है वहाँ की ईमानदारी का! वहाँ दुकानें खुली हैं, लाखो का माल भरा पडा है। दुकान का स्वामी नही है, ग्राहक आता है और बिना रोक-टोक दुकान मे प्रवेश करता है। उसे जो चीज चाहिए, वह ले लेता है और ईमानदारी से वहाँ पैसे डालकर चला जाता है। दुकान का मालिक आता है, माल को देखता है और पूरे पैसे प्राप्त कर लेता है।" कहिये, वह ईमानदारी क्या यहाँ के नागरिको मे है ?

'भगवती सूत्र' मे तु गिया नगरी के श्रावको का वर्णन आया है कि वे कैसे थे। बताया गया है कि उनके घर के द्वार सदा खुले रहते थे, अर्गलाये खुली रहती थी। इसका तात्पर्य यह है कि वे कभी भी अपने मकान का दरवाजा बन्द नही करते थे। इसमे कई रहस्य भरे हुए हैं। परन्तु आज वह वर्णन शास्त्रो मे ही रह गया है। आज के श्रावको की क्या दशा है ? आज के मनुष्यो की क्या अवस्था है ? क्या इसका चिंतन आज का मनुष्य कर पायेगा ?[1]

१-आध्यात्मिक आलोक, पृ० ४८-५३

विरक्ति के स्वर

उपर्युक्त सभी विषयो के आनुषगिक प्रतिपादन के उपरात अध्यात्म प्रवक्ता का चरम एव परम प्रतिपाद्य होता है आत्मा की अविनश्वरता एव भौतिक पदार्थो की क्षणभंगुरता का चित्र-सा प्रस्तुत करना। मिथ्यात्व से मोहित एव अज्ञान से अधी चेतना अपने अविनाशी स्वरूप को विस्मृत कर देह, धन-धान्य, परिवार, आदि नाशवान पदार्थों को बटोरने एव उनकी साज-सज्जा मे ही अपने जीवन के बहुमूल्य क्षणो को समाप्त कर देती है। अत मिथ्यात्व एव अज्ञान के सघन अधकार को समाप्त करके आत्म केन्द्र से भटकी आत्माओ को स्वरूप-बोध की ओर उत्प्रेरित करना आत्मद्रष्टा प्रवक्ता का प्रमुख प्रतिपाद्य होता है। यह तभी सभव है जबकि देहादि नाशवान् पदार्थों के प्रति निर्ममत्व के भाव जागृत किए जाये तथा आत्मा के मौलिक रूप का चिंतन किया जाय।

श्रद्धेय आचार्य श्री अपने श्रोताओ मे विरक्ति-बोध जागृत करने मे कितने सक्षम एव सफल रहे हैं, यह पाठक स्वय निर्णय करेंगे, तो अधिक श्रेष्ठ रहेगा—

अन्न और जल का शरीर के साथ एक तादात्म्य सबध है। वर्तमान शरीर अन्न के विना नही रह सकता, पानी के विना जीवन कार्य नही चल सकता और हवा के विना तो यह शरीर रह ही नही सकता। अन्न, पानी, और हवा ये तीनो तत्त्व जीवन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इनसे ही शरीर मे प्रकाश दीखता है, किन्तु इन तीनो के साथ आध्यात्मिक दृष्टि रहनी चाहिए। आध्यात्मिक श्रद्धा के विना जीवन का पौधा पनप नही सकता है। वह तो समय से पहिले ही कुम्हला जावेगा। सामग्री सभी कुछ उपलब्ध है। अन्न, जल और हवा तीनो का पूर्ण सहयोग है। ऐसी स्थिति मे यदि आतरिक जीवन की आध्यात्मिक ऊर्जा शरीर मे नही है, तो शरीर का कोई मूल्य नहीं है। उसकी सुन्दरता उस घडी हाथ मलती रह जायेगी। शरीर सुन्दर है, उसका पोषण करने के लिए तीनो तत्त्व विद्यमान हैं, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति के विना सभी व्यर्थ हैं। जीवन मे प्राणो का मूल्य होता है। इसी से सारे जीवन का मूल्य वढता है। शरीर बडा सुन्दर है, उसके पोषण के लिए तीनो तत्त्व भी प्राप्त है, किन्तु एक तत्त्व के विना आपका शरीर एक "शव" से अधिक कुछ नही है, उसी तत्त्व के कारण ये सारे आकर्षण है। ससार मे जितने भी अनात्म तत्त्व हैं, उनका अपना कोई महत्त्व हो, चाहे न हो, पर आत्मा का सयोग मिलने पर उनमे एक विशिष्टता प्रगट हो जाती है। वाह्य तत्त्वो को अधिक वढावा देने से, अन्तर की प्रगति रुक जाती है। इनमे जीवन का विकास नही हो पाता। जव तक जीवन का विकास नही होगा, तव तक जीवन सुखी नही हो सकता। आज मानव-जीवन मे जो असतोष व्याप्त है, चारो ओर जो विषमताएँ दीख पड रही हैं,

इन सबकी जड मे जीवन के महत्त्वपूर्ण मौलिक तत्त्व के प्रति उपेक्षा-भाव ही मुख्य कारण माना गया है ।

माली अपने बगीचे मे फलो से लदे हुए वृक्षो को देखकर बडा प्रसन्न होता है । उसने सभी वृक्षो की जडो का सिंचन किया है, तभी तो उसका परिश्रम आज फल और फलो के रूप मे खिल रहा है । यदि वह मूल को सीचना छोडकर वृक्षो की शाखाओ को सीचने लगता, तो क्या उसे फल प्राप्त हो जाते ? वृक्ष हरे-भरे रह सकते ? इस प्रश्न के उत्तर मे आप यही कहेगे कि नही । जड सीचने से ही वृक्ष हरा-भरा रहता है । शाखाओ को सीचने से आज तक कोई वृक्ष हरा नही रह सका है । वृक्ष की प्रत्येक शाखा अपनी जड से भोजन लेती है । तभी वह हरी-भरी रह सकती है । मूल यदि सुदृढ है तो शाखा को भी बल मिलेगा । मूल की स्थिति सुधरेगी, तो टहनी अपने आप सुधर जायेगी, क्योकि उसका जीवन-मूल से सबध है । जब मूल की बात को व्यक्ति समझ लेता है, तो फिर टहनी को जल पिलाने का व्यर्थ परिश्रम नही करता है । वह सदा मूल की सुरक्षा का ही ध्यान रखता है । उसे ही बार-बार सीचता है । इस प्रयत्न से उसका परिश्रम सफल हो जाता है । उसे फल भी प्राप्त हो जाते है, और वृक्ष भी रक्षित रहता है । माली कृषि-विज्ञान जानता है, अत वह मूल को छोडकर टहनी को कभी नही सीचता है । वह जानता है कि वृक्ष मे जो भी हरियाली है, जड से आ रही है । जड को खुराक धरती से प्राप्त हो रही है । यद्यपि पृथ्वी मे प्रत्यक्ष हरियाली नही दिखती है । फिर भी जडें मिट्टी मे से ही रसग्रहण करके सारे वृक्ष को हराभरा रखती है । ऊपर से कितनी ही गरमी पडती रहे, फिर भी वृक्ष सूखता नही है । उसकी जडें सुदृढ और गहरी हैं । धरती मे से रस खीचकर टहनियो तक पहुँचाने की उसमे क्षमता विद्यमान है । उसे शाखाओ की चिन्ता नही होती, वह तो सदा मूल को सुधारने मे अपना ध्यान लगाये रखता है ।

माली खाद-पानी कहाँ देता है ? मूल मे, जड मे ।

तो, यही बात मैं आप लोगो से कह रहा हूँ कि अपने जीवन की सुरक्षा के लिए उसके मूल को सुरक्षित करिये । मूल को सुधारिये । तभी आपको अपने जीवन का सुखमय फल प्राप्त होगा । आप अपने जीवन की बगिया के माली है । इसकी रक्षा करना आपका सर्वप्रथम कर्तव्य है । अपने जीवन के वृक्ष को आप माली की तरह देखिये ।

मनुष्य अपने शरीर को ऊपर से देखता है । अपनी सुन्दर काया को देख कर फूला नही समाता है । मन मे सोचता है कि मेरा शरीर कितना सुन्दर है, कितना सुदृढ है । घण्टो-घण्टो दर्पण के सामने उसे देखता रहता है । उसे सँवारता रहता है । उसका यह सारा प्रयास टहनियो को सीचने के समान है ।

वह यह नही सोचता कि शरीर पर यह तेज, यह चमक कहाँ से आ रही है ? अभी तक मूल के महत्त्व को उसने नहीं समझा है। इसी कारण वह बाहरी टीपटाप मे उलझ रहा है। वह इस बात को भूल गया है कि जिस दिन शरीर से मूल अलग हो जायेगा, इसकी सारी सुन्दरता मुरझा जायेगी। वह मूल तत्त्व "आत्मा" है। इस आत्म-तत्त्व की सुरक्षा करने से ही जीवन की सुरक्षा होती है। इसकी शक्ति से ही शरीर सुन्दर शरीर है। इसके बिना वह केवल "शव मात्र" है।

आज का मानव इन्द्रिय-पोषण की ओर अधिक लगा हुआ है। शरीर के अंग-प्रत्यंग के बनाव-शृङ्गार मे ही उसका सारा समय बीत रहा है। कभी बालो मे तेल डालता है, कभी आँखो मे सुरमा लगाता है। अच्छे-अच्छे वस्त्र पहनता है, परन्तु फिर भी उसका जीवन दिनोदिन मुरझा रहा है। उसमे तेज नहीं है, ओज नही है। तनिक सी धूप लगते ही उसकी चमक फीकी पड़ जाती है। क्यो ?

इसलिए कि उसकी जीवनी शक्ति प्रत्येक क्षण क्षीण हो रही है। मूल को भोजन नही मिल रहा है। जीवन की जड़ें सूखती जा रही हैं। समूचे शरीर का नियामक आत्मा, विकारो से घिर गया है। उसकी वास्तविक खुराक उसे नही मिल पा रही है। इसकी ओर ध्यान देने की विशेष आवश्यकता है। एकान्त रूप मे बाहरी तत्त्वो की ओर ध्यान रखने से जीवन का आन्तरिक मूल तत्त्व "असुरक्षित" रह जाता है। जीवन के प्रत्येक भाग में विकृति आने लग जाती है। अतः बाह्य सुधार के साथ-साथ आन्तरिक शक्ति की ओर भी ध्यान दो। कर्त्तव्य पालन के द्वारा मूल का सिंचन करो। तभी आपको सच्चा सुख प्राप्त हो सकेगा। अपने आध्यात्मिक स्वरूप को भूलकर केवल बाहरी रूप-रंग का बनाव-सुधार किसी भी स्थिति मे लाभदायक नही है।

मूल की ओर ध्यान रखने से जीवन का विकास होगा। मानसिक भावना मे निखार आयेगा। धर्मशास्त्र और धर्म-गुरुओ के प्रति सच्ची श्रद्धा जागेगी। ऐसा विचार मन मे कभी नही आयेगा कि धर्म स्थान केवल परलोक सुधारने के लिए ही है। इस लोक से उसका कोई सम्बन्ध नही है। पौष्टिक आहार से जिस प्रकार शरीर पुष्ट होता है ठीक उसी प्रकार धर्म-स्थान मे आकर उपदेश-श्रवण करने से आत्मा को पौष्टिक विचार मिलते हैं। इन विचारो से आध्यात्मिक चेतना पुष्ट होती है। जीवन का संरक्षण होता है। दिन-रात के चौबीस घण्टो मे से यदि एक घण्टा भी इस ओर लगा दिया तो जीवन की मूल शक्ति को बड़ा बल मिलेगा। उसका सुधार होगा। वह दिनोदिन कल्याण के मार्ग पर प्रगति करता चला जायेगा।

बन्धुओ ! यदि ऐसी भावना आज के युवावर्ग मे जागृत हो जायगी, तो वे शीघ्र ही मूल तत्त्व को पहचान जायेगे। उनका जीवन पुष्पित-पल्लवित होकर ससार के जीवो के लिए एक "आश्रय-स्थल" बन जायेगा। जिन्हे अपनी मूल शक्ति पर भरोसा होता है, वे ही दूसरो को कल्याण के मार्ग पर लगा सकते हैं।[1]

दुनिया के कई अज्ञानी प्राणी ससार के अन्दर सुख प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। वे यही सोचते रहते हैं कि पाँचो इन्द्रियो के विषयो का सयोग मिल जाये, तो हम अपने जीवन मे ससार के सुख अच्छी तरह से भोग सकेंगे। ऐसे प्राणियो की तुच्छ बुद्धि इन क्षणिक सुखो से तृप्त होने की स्थिति मे ही रहती है। जब तक व्यक्ति इन तुच्छ सुखो मे आसक्त बना रहता है, तब तक उसकी विचारधारा सामने दिखने वाले विषयो की तरफ ही लगी रहती है और वह इनको ही सब कुछ समझ लेता है। उसकी दृष्टि आतरिक सुखो की ओर बहुत कम जाती है। यदि कोई जबर्दस्ती उसकी दृष्टि को उधर खीच ले और एक बार भी उसको वास्तविक आनद का अनुभव करा दे, तो फिर वह ससार के विषयों को, इन नाशवान सुखो को तृणवत् समझकर आतरिक दिव्य सुख का आनद लेने लगेगा।

जिन प्राणियो का यह ध्यान है कि इस ससार मे इन्द्रिय-जनित सुख प्राप्त करने के लिए लक्ष्मी की आवश्यकता है और जितनी सपत्ति एकत्र कर ली जाएगी, उतनी ही सुख की अभिवृद्धि होगी, वे इसी भावना को लेकर लक्ष्मी के पीछे बुरी तरह भागते है, परन्तु वे समझ नही पाते है कि लक्ष्मी कहाँ है और वह किसके चरणो मे रहती है ?

लक्ष्मी का एक नाम चचला भी है। जिसका नाम ही चचला है, वह स्थिर व्यक्ति के साथ तो स्थायी रूप से रह सकती है, परतु अस्थिर व्यक्ति के साथ टिक नही सकती। स्तम्भ यदि मजबूत है तो झडा कितना ही चचल हो, वह उसके सहारे टिका रह सकता है, परन्तु यदि स्तम्भ डोलायमान है, तो फिर झडा तो उडनेवाला है ही। उसका कोई ठिकाना ही नही रहेगा। लक्ष्मी रूपी झडा, जिसको कमला भी कहा गया है, यदि स्थिर चरणो के साथ है, तो उसकी चचलता भी समाप्त हो सकती है और वह स्थायी रूप से उन स्थिर चरणो मे सदा के लिए बनी रह सकती है। यदि उसके चरण ही स्थिर नही हैं, तो फिर वह कमला स्थिर कैसे रह सकती है ? कवि ने रूपक दिया है कि—

चरण कमल कमला वसे रे, निर्मल स्थिर पद देख।
समल अस्थिर पद परिहरे रे, पकज पामर देख॥

१–पावस प्रवचन, भाग २, पृ० ८८–८१

दुनिया के लोग समझते हैं पकज यानी कमल पर लक्ष्मी का निवास है और वह कमल का सहारा लेकर चलती है, परन्तु ज्ञानी जनो का कथन है कि कमल के सहारे लक्ष्मी टिक नहीं सकती, क्योकि कमल स्वयं चंचल है। कमल कीचड से पैदा होनेवाला है और जो कीचड से पैदा होनेवाला है, उसके साथ लक्ष्मी कब टिक सकती है ? लक्ष्मी तो निर्मल वुद्धि को देखकर ही स्थायी रह सकती है। परमात्मा के चरणो का सहारा लक्ष्मी ने लिया, कमला ने लिया, तो क्या समझकर लिया ? इसीलिए कि प्रभु के चरण निर्मल हैं। उनमे मल नही है और वे स्थिर हैं, कभी भी विचलित होने वाले नही हैं। ऐसे प्रभु के चरणो मे कमला वसने लगी और उसने पकज को छोड दिया, क्योकि वह मल-युक्त था।

चचला कमल को छोडकर प्रभु के चरणो मे पहुँची। यह एक अलकार है। इस अलकार के माध्यम से आप वास्तविक सुख की सिद्धि को, लक्ष्मी को समझिए। आत्मा को वास्तविक सुख दिखानेवाली वह कमला आध्यात्मिक लक्ष्मी है। उस लक्ष्मी को निर्मल चरण ही पसद हैं। वह प्रभु के चरणो को निर्मल समझकर ही उनमे स्थिर है।

हाड, माँस, रक्त, आदि से वने मनुष्य के चरण तो नाशवान हैं। ये चरण स्थिर रहनेवाले नही है, परन्तु उन सिद्ध परमात्मा के चरण तो श्रुत और चारित्र रूप हैं। श्रुत और चारित्र रूप चरण परमात्मा की विराट् शक्ति के अटल स्तम्भ हैं। जिस व्यक्ति को परमात्मा का स्वरूप पसन्द है, जिसको स्थायी शाति चाहिए और जो सदा के लिए आध्यात्मिक लक्ष्मी को पाना चाहता है, वह प्रभु के श्रुतधर्म और चारित्रधर्म रूप इन दोनो परम पवित्र चरणो को ही ग्रहण करेगा।

श्रुत का तात्पर्य है—आत्मा और परमात्मा का सही विज्ञान। इस ससार मे कौन-से पदार्थ ग्रहण करने योग्य हैं, कौनसे छोड़ने योग्य है और कौनसे जानने योग्य है, इस प्रकार के सही आध्यात्मिक विज्ञान के साथ जो निर्मल ज्ञान है, उस निर्मल ज्ञान के साथ वैसा ही विश्वास भी है, तो वह श्रुत रूपी चरण है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से संसार के पदार्थो का ज्ञान किया, फिर उनमे से त्यागने योग्य पदार्थ का त्याग करके और ग्रहण करने योग्य पदार्थ का ग्रहण करके समग्र जीवन को उस आध्यात्मिक सुख के लिए लगा लिया, तो वह चारित्र रूपी चरण है।

ये दोनो मूल आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं। इन दोनो शक्तियो के सहारे ही आत्मा चरम सीमा की अवस्था मे परमात्मा वन सकती है। उसकी आराधना के लिए ही यह मनुष्य तन है। इस मनुष्य जन्म मे जिसने प्रभु के चरणो की आराधना को समझ लिया, वह स्थायी रूप से लक्ष्मी को पा लेगा। वह स्थायी

सुख दिलाने वाली लक्ष्मी के साथ सदा के लिए सबधित हो जाएगा । फिर कभी सुख उससे अलग नही होगा । आध्यात्मिक लक्ष्मी उससे दूर नही होगी । वह सदा के लिए प्रतिक्षण अनन्त सुख का आनन्द लेता रहेगा । इसी भावना के साथ जिन आत्माओ का विज्ञान प्रबुद्ध हो गया, वे आत्माएँ चाहे प्रारम्भ मे सत्सगति का योग न बैठने के कारण अन्य तरीको से ससार के नाशवान सुख को पकड कर चलती रही हो, परन्तु जैसे ही भीतर की जागृति हुई, कि वे उसी समय ससार के इन नाशवान सुखो को नाक के श्लेष्म की तरह त्यागकर अपने दिव्य सुख की खोज मे लग गईं।

हम प्राचीन काल की कथाओ मे पढते हैं और ऐतिहासिक पृष्ठो को उलटने का प्रसग आता है, तो उनमे ऐसे दिव्य पुरुषो का स्वरूप चमकता हुआ दृष्टिगत होता है कि प्रारभ मे नाशवान गदी वासना मे निमग्न प्राणी कालान्तर मे निमित्त पाकर किस प्रकार प्रबुद्ध हो गए । इस विषय मे अनेक रूपक हैं। उनमे से महात्मा तुलसीदास का रूपक आपके सामने रखता हूँ ।

महात्मा तुलसीदास के प्रारभिक जीवन की घटना को आप सुनेगे, तो आपको पता लगेगा कि वे किस प्रकार इन पाँचो इद्रियो के विषयो मे लिप्त थे । जैसे कि अन्य साधारण व्यक्ति ससार के सबध को जोडकर चलते है और तरुणाई मे मोह के नशे मे रहते हैं, वैसे ही थे तुलसीदास । कोई विरले ही पुरुष ऐसे होगे जो इस मोह के नशे से ऊपर उठकर इस मदिरा पर अपनी आत्मा का अकुश लगा पाये ।

सुबाहुकुमार का प्रसग शास्त्रीय दृष्टि से आप सुनते ही रहे है । उन्होने समृद्धिशाली परिवार मे जन्म लिया । अनेक रमणियो के साथ उनका विवाह-सम्बन्ध हुआ । वे पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे लिप्त रहे । परन्तु जैसे ही उनको ज्ञान हुआ कि यह मनुष्य-तन इन नाशवान सुखो के पीछे नष्ट करने के लिए नही है, तो तत्क्षण वे जागृत हो गए । वे भरा-पूरा घर और रमणियो को छोडकर आध्यात्मिक लक्ष्मी की साधना मे चल पडे ।

कथा की दृष्टि से महात्मा तुलसीदास का विषय भी कुछ ऐसे ही प्राणियो जैसा था । तरुणाई मे उनका विवाह हो गया । फिर विवाह के प्रसग से वे इतने दीवाने बने कि एक दिन उनकी अतरात्मा वासना से व्याप्त हो गई । वे सोचने लगे कि मेरी धर्मपत्नी तो पीहर मे है और मैं यहाँ घर मे हूँ । कैसे, क्या किया जाए ? उन्हे कुछ नही सूझ रहा था ।

आकाश मे घनघोर बादल छाये हुए थे । भयकर अन्धेरी रात थी । साँय-साँय करके चारो ओर से हवा चल रही थी । बड़ा भयावना दृश्य था । कोई व्यक्ति बाहर नही निकल सकता था, परन्तु तरुण तुलसीदास के मस्तिष्क मे

काम की आँधी ने इस प्रकार धक्का दिया कि वे घर से चल पडे । उनके सामने केवल एक ही लक्ष्य था कि किसी प्रकार से भी मैं धर्मपत्नी के पास पहुँचू ।

वे विकट मार्ग को पार करके अपने ससुराल पहुँचे । गाँव मे सभी प्राणी रात्रि की सुनसान अवस्था मे निद्रा ले रहे थे । सब घरो के दरवाजे बन्द थे । इस स्थिति मे वे अपनी ससुराल के नजदीक पहुँचे । वहाँ का दरवाजा भी बन्द था । आधी रात के समय आवाज लगाकर दरवाजा खुलवाना उचित नही था । वे कुछ देर इधर-उधर देखते रहे ।

अचानक उनकी दृष्टि बिजली की चमक मे दीवार पर पडी । उन्होने देखा कि वहाँ एक रस्सी लटक रही है और उसको पकड कर ऊपर चढा जा सकता है । उन्होने वह रस्सी पकडी, परन्तु वह रस्सी नही थी, सर्प था । खैर ! उसके सहारे ऊपर चढ गए । उनको यह भी भान नही रहा कि यह जहरीला जतु है और काट सकता है । परन्तु उन्होने कोई परवाह नहीं की और वे येन-केन प्रकारेण अपनी धर्मपत्नी के पास पहुँचे । कथा-भाग मे ऐसा वर्णन है ।

पति को अचानक अपने कमरे मे देखकर पत्नी आश्चर्य-चकित हो गई । उसने कहा, "नाथ ! इस भयकर रात्रि मे आप यहाँ कैसे ?" उन्होने सब बात कही तो स्त्री ने पूछा—"यहाँ कौनसी रस्सी है ?"

देखा गया तो प्रकट हुआ कि वह रस्सी नही, एक जहरीला जंतु था । फिर पति का स्वागत करते हुए पत्नी ने कहा, "आपने मुझे अनुगृहीत किया । इसके लिए मैं आपकी बहुत कृतज्ञ हूँ । परन्तु नाथ ! आपको इतना भी भान नही रहा कि यह जहरीला जतु काट लेगा, तो प्राणात हो जाएगा । क्या ही अच्छा होता कि आपका जैसा ध्यान मेरी तरफ है, वैसा ही प्रभु के चरणो मे होता । यदि ऐसा कर पाते तो आपका बेडा पार हो जाता—

अस्थि चर्ममय देह मम, तासो ऐसी प्रीति ।
वैसी जो श्रीराम मे, होत न कहुँ भवभीति ।।

इस गदी वासना के प्रति आपका जितना ध्यान है, उतना ही यदि प्रभु की ओर हो, तो आपको किसी प्रकार भव-बाधा नही रहेगी ।" तुलसीदास ने पत्नी के इतने से वाक्य सुने और उनकी आत्मा मे जागृति आ गई ।

उसी समय तुलसीदास ने कहा "प्रिये, तुमने बहुत सुन्दर बात कही है । आज से तुम मेरी गुरु हो और मैं तुम्हारा शिष्य हूँ । तुमने अच्छा बोध दिया ।" और वे उसी समय चल पडे ।

जब तक आध्यात्मिक ज्ञान का सही भान नही हुआ, तब तक ही उनकी यह दशा थी । आगे चलकर वे महात्मा तुलसीदास के नाम से विख्यात हुए ।

उपर्युक्त प्रवचन-उद्धरणो मे आचार्य श्री के अतल प्रवचन-सागर से कुछ मणिमुक्ता ही यहाँ प्रस्तुत किए गए है। मैं यह सोचता हूँ कि आचार्य श्री के वैचारिक जीवन-दर्शन की थाह पाने के लिए ये पर्याप्त होगे।

"हाथ कगन को का आरसी" अथवा "प्रत्यक्षे किं प्रमाण" के अनुसार जिन पाठको को आचार्य श्री के वैचारिक जगत का साक्षात्कार करना हो, वे उस महामहिमा मडित व्यक्तित्व का प्रत्यक्ष दर्शन कर आज भी अपनी नेत्रतृषा को परितृप्ति से आप्यायित कर सकते है तथा आपके वैचारिक परिवेश को व्यापक अर्थों मे समझ सकते है।

आचार्य श्री के विशाल पाडित्य, विचक्षण प्रतिभा, गभीर विचारणा, अपूर्व तर्कणा-शक्ति एव तलस्पर्शी अध्ययनशीलता की अनुपम छाप आपके प्रवचनो मे स्थान-स्थान पर पाई जाती है। आज के विद्वत् समाज पर इसका प्रभाव अकित है।

आचार्य श्री का विचार-परिमल इतना व्यापक, विराट् एवम् मनो-मुग्धकारी है कि उसकी सौरभ, सामाजिक, पारिवारिक, राष्ट्रीय, नैतिक, आत्मिक, आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक एवं परा आध्यात्मिक सभी क्षेत्रो मे समान रूप से परिव्याप्त है। वास्तव मे आचार्य श्री के मुखकमल से नि.स्तृत प्रत्येक शब्द एव उसकी हर क्रियान्विति अपने आप मे गुणार्थक उपदेश है, जिसके द्वारा प्रत्येक आगतुक सहजतया आप्लावित हो, भाव-विभार हो जाता है।

• • •

प्रश्न करें:
उत्तर आचार्यश्री के

प्रश्न मेरे - उत्तर आचार्यश्री के

युग पुरुष वह होता है जो युग की पुकार को, तत्कालीन समस्याओ एव ज्वलन्त प्रश्नो को समझ कर उन्हे समाहित करने की क्षमता रखता हो ।

आज का युग वैज्ञानिक एव तकनीकी विकास का युग है । एक दृष्टि से इसे हम आध्यात्मिक सक्रान्ति काल भी कह सकते है, क्योकि आज अध्यात्म के समक्ष सख्यातीत प्रश्न मुँह बाए खडे है, जो अध्यात्म को वैज्ञानिक तुला पर तोलना चाहते है । अध्यात्मवादियो के समक्ष यह चुनौती खडी है कि वे अध्यात्म को वैज्ञानिक परिवेश प्रदान करे ।

आज का सामाजिक परिवेश भी अध्यात्म से कटा-कटा-सा जा रहा है । अध्यात्म एव सामाजिकता के सम्बन्ध टूट-से गये है । स्थिति यहाँ तक उत्पन्न हो गई है कि समाज और अध्यात्म दो भिन्न-भिन्न किनारो पर खडे दिखाई दे रहे हैं । ऐसी स्थिति मे अध्यात्मवादियो के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि वे समाज को वह दिशा प्रदान करे, जिससे वर्तमान समाज अध्यात्म की ओर उन्मुख हो सके, अपनी सडी गली अन्ध परम्पराओ से मुक्त हो सके ।

यही नही, आज आध्यात्मिक क्षेत्र स्वय ही स्वय के लिये प्रश्न वाचन बन गया है । कुछ रूढ धारणाओ एव क्रियाकाण्डो ने आज के युवा मानस के समक्ष अनेक ज्वलन्त प्रश्न खडे कर दिये है ।

इन सभी स्थितियो मे एक युग पुरुष के समक्ष क्या कर्त्तव्य आ पडते हैं और वह उनका कैसा मार्मिक चिन्तन प्रस्तुत करता है, यह हम यहाँ पढेंगे ।

वर्तमान परिवेश को आन्दोलित करने वाले कुछ मौलिक प्रश्नो का ही समाधान यहाँ प्रस्तुत है, जिसके माध्यम से हम आचार्यश्री के व्यक्तित्व के उस पक्ष से परिचित होगे, जो उनके अन्तर-बाह्य, अध्यात्म-समाज दोनो पक्षो को उजागर करता है ।

प्रश्न—१

निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति का उद्भव किस युग की देन है ? वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे उसके सास्कृतिक मूल्यो पर प्रकाश डालने की कृपा करे ।

उत्तर

प्रश्न अति मौलिक है। उत्तर की गम्भीरता तक पहुँचने के लिये आवश्यक है कि शब्दश व्याख्या का आश्रय लिया जाए। चूँकि प्रश्न, निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति के सन्दर्भ मे पूछा गया है, अत: सस्कृति शब्द पर कुछ दृष्टिपात आवश्यक है।

निर्युक्ति की दृष्टि से सस्कृति का अर्थ होगा सम्यक् कृति। अर्थात् शुद्ध सस्कार-सम्पन्न कृति, सस्कृति कहलाती है। "कृति" शब्द यहाँ किन्ही मौलिक अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। "कृति" क्रिया के भावात्मक या प्रत्यक्ष रूप को कहते हैं और "सम" उपसर्ग है।

लाक्षणिक दृष्टि से अग्रेजी का कल्चर शब्द हिन्दी के सस्कृति शब्द का प्रति रूप माना जा सकता है। कल्चर का अर्थ है, वह गुण जो उत्पन्न किया गया हो, सस्कृति का भी कुछ-कुछ यही अर्थ है, जिसे हम सामान्य भाषा मे सस्कार कहते है।

इस प्रकार सस्कृति का अर्थ हुआ अच्छी कृति। समाजगत सामूहिक श्रेष्ठ कृतियाँ भी सस्कृति कही जा सकती हैं। व्यक्ति की कृतियो मे चेतना का सम्पुट रहता है, अतएव समष्टि की कृतियो मे चेतना अवश्यम्भावी है। समाज की समष्टि रूप से विकासोन्मुखी चेतनामयी कृतियाँ ही सस्कृति हैं।

सस्कृति को मुख्य दो धाराओ मे विभक्त किया जा सकता है। एक भौतिक और दूसरी आध्यात्मिक। भौतिक सुखो तथा सस्कृति के ऊपरी आवरणो मे भौतिक सस्कृति का दर्शन किया जा सकता है—नाटक, खेल-कूद, अध्ययन, साहित्य, मानवीय व्यवहार, रहन-सहन, पहनाव एव रीति-रिवाज आदि भौतिक कर्मों मे सस्कृति की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है, जिसे सभ्यता के नाम से पुकारते हैं। इसके विपरीत आध्यात्मिक सस्कृति से तात्पर्य है, मानवता की अन्तरात्मा और उसके स्वतन्त्र व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा का प्रयत्न। इसमे ऐसे सभी आचारो, अभ्यासो एव उपकरणो का समावेश हो जाता है, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से आध्यात्मिक उत्थान मे सहायक सिद्ध हो। महान् विचारक श्री मैथ्यू आरनाल्ड के अनुसार "इसके मूल मे पशुता से भिन्न अन्त -करण की मानवता, सतत विकासशीलता, अखिल-मानव समाज की सामूहिक उत्क्रान्ति एव मानव की समग्र शक्तियो के व्यापक विस्तार की भावना छिपी हुई है।"

यथार्थ मे अध्यात्म सस्कृति समाजवद्ध मानव की वह श्रेष्ठतम उपलब्धि है, जिसमे ज्ञान, विश्वास, कला, विनयशीलता, सात्विकता आदि समाविष्ट है।

इस प्रकार मनुष्य की श्रेष्ठतम साधनाओ को सस्कृति की सज्ञा दी जा सकती है। भारतवर्ष के भूतपूर्व राष्ट्रपति सर्वपल्ली डॉ० राधाकृष्णन् ने सस्कृति की एक विचित्र-सी व्याख्या की है । उनके अनुसार "स्कूलो-कॉलेजो तथा सभी शिक्षण-सस्थानो में जो कुछ पढा जाता है, वह भुला देने के पश्चात् जो कुछ शेष रह जाए, वही सस्कृति है ।"

वस्तुत सस्कृति मात्र रीति-रिवाज, नृत्य-गायन, त्यौहार एव वेश-विन्यास ही नही है, सस्कृति इनकी अन्तरात्मा हैं । प्रसिद्ध साहित्यकार सम्पूर्णानन्दजी ने "सस्कृति" की व्याख्या करते हुए कहा है कि सस्कृति वह साचा है, जिसमे समाज के विचार ढलते हैं, वह बिन्दु है, जहाँ से जीवन की समस्याएँ देखी जाती हैं। सस्कृति विभिन्न सस्कारो द्वारा व्यक्ति की प्रतिभा और योग्यता के पूर्ण विकास मे समुचित योग देती है ।

सक्षेप मे कहे तो व्यक्तित्व की पतनोन्मुखी वृत्ति का नाम है विकृति अथवा निकृति तथा विकासोन्मुखी आदर्श व्यक्तित्व की कृति का नाम है सस्कृति । सस्कृति व्यक्ति का आत्म-परिष्कार करती है, तो सभ्यता जिसे हमने भौतिक सस्कृति के नाम से पुकारा है, उसे बाह्य जीवन के व्यवहारो मे अधिक शिष्ट, समृद्ध एव उन्नत बनाती है । सस्कृति आत्मिक विकास की युग-युगान्तर से चली आ रही अवस्थाओ को अनुसूचित करती है, तो सभ्यता दैहिक एव भौतिक क्रम को स्पष्ट करती है ।

"सस्कृति" शब्द की उपर्युक्त विवेचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अध्यात्म सस्कृति न किसी क्षेत्र-विशेष की देन होती है और न किसी काल विशेष की । चूँकि निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति एक गगा के निर्मल प्रवाह की तरह धारा प्रवाही सस्कृति है, अत. उसके काल-सम्बन्धित छोर को पाना उतना ही कठिन है, जितना कि सृष्टि के आदिकाल को । इस दृष्टि से निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति प्रवाह की अपेक्षा से अनादिकालीन सस्कृति है । उसके अनुसार अनन्त युग बीत गये है और प्रत्येक युग मे यह अपने अस्तित्व मे कायम रही है । हाँ, सस्कृति के इस प्रवाह मे सरित धारा के प्रवाह की तरह ह्रास-विकास अवश्य हो सकता है । कोई काल अपना सास्कृतिक मूल्य वहुत अधिक वना लेता है, तो किसी काल मे सस्कृति अति मन्थर गति से चल पाती है अर्थात् वौद्धिक युग सस्कृति के विकास का युग माना जा सकता है, जिसमे युग के सास्कृतिक मूल्य प्रस्थापित होते है ।

जैन दर्शन के अनुसार काल को दो भागो मे विभक्त किया गया है जिसे आज की भाषा मे प्राक्ऐतिहासिक एव ऐतिहासिक काल कहते हैं । जैन दर्शन उसे अकर्मभूमिक एव कर्मभूमिक काल के नाम से पुकारता है । आपेक्षिक दृष्टि

से निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति कालातीत सस्कृति है, किन्तु काल चक्र के प्रवाह मे इसका कभी आविर्भाव तो कभी तिरोभाव होता रहा है।

जैसा कि शब्द से ही स्पष्ट है, निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति "श्रम" की सस्कृति ह, अत इसका सम्बन्ध कर्मभूमिक काल से अधिक है। भारतीय दर्शनो के सिहावलोकन से ज्ञात होता है कि "निर्ग्रन्थ" एव "श्रमण" जैन दर्शन के मौलिक शब्द हैं तथा जैन दर्शन मे ये लाक्षणिक अर्थो मे प्रयुक्त हुए हैं।

"निर्ग्रन्थ" का शाब्दिक अर्थ होगा ग्रन्थि रहित अर्थात् गाठ रहित और इसका लाक्षणिक अर्थ होगा राग-द्वेष, कषाय-कलमष की गाठो का छेदन करने वाला साधक। "श्रमण" शब्द उसी साधक की श्रमपूर्ण साधना का अभि-व्यजक है। व्युत्पत्ति के अनुसार "श्राम्यति इति श्रमण" अर्थात् जो श्रमजीवी है, वह श्रमण है। तात्पर्य यह है कि जो राग-द्वेषादि आन्तरिक विकारो की ग्रन्थियो के शमन मे निरन्तर श्रमरत है, वह निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति का समुपासक है।

उपर्युक्त शब्द-व्याख्या के आधार पर यह निष्कर्ष फलित होता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति "श्रम" अर्थात् कर्म की सस्कृति है अत. इसका सम्बन्ध अकर्म से नही कर्मभूमिक युग से अधिक है और इस प्रकार इसका वर्त्तमानिक रूप आदि तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव के द्वारा प्रदत्त माना जा सकता है।

चूँकि, प्रभु ऋषभ देव के पूर्व कर्म अर्थात् श्रमपूर्वक जीवनयापन की व्यवस्था नही थी, अत. वह युग युगलिक-अकर्म भूमिकाल से पुकारा जाता है। जैन परम्परा अथवा ऐतिहासिक दृष्टि के अनुसार प्रभु ऋषभदेव से पूर्व का युग ऐसा युग था, जब मनुष्य का अपना जीवन प्रकृति पर ही आधारित था, उस समय वह न कर्म करना जानता था और न उसका कर्म पर विश्वास ही था। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति से पूरी होती थी। भूख-प्यास से लेकर जीवन की हर समस्या मे वह प्रकृति के सहयोग पर ही जीता था। कल्पवृक्षो के माध्यम से प्राप्त सामग्रियो के आधार पर अपना जीवन निर्वाह करता था। इस प्रकार उस आदि युग का मानव प्रकृति के हाथो खेला था। उत्तरकालीन ग्रन्थो से ज्ञात होता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ अति सीमित थी। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, किन्तु उनका वह वैवाहिक सूत्र सामाजिक बन्धनो से असम्बद्ध था। जन्म से भाई-बहिन ही समय की परिपक्वता के अनुसार पति-पत्नी का रूप ले लेते, किन्तु उनको एक-दूसरे पर कोई उत्तर-दायित्व का बोध एव भार नही होता था। एक-दूसरे से सहारा पाने की भावना उनमे नाम मात्र को भी नही होती थी। एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन तथा सामाजिक एव पारिवारिक सीमाओ से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन

था । कल्पवृक्षो के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओ की पूर्ति होती थी, अतः किसी को भी उत्पादन-श्रम एव उत्तरदायित्व की भावना से बाधा नही गया था, सभी अपने मे मस्त एव आनन्दित थे ।

अकर्म भूमि के उस अकर्मण्यकाल मे मनुष्य अनेक सागरो अर्थात् असख्य वर्षों तक चलता रहा, मानव की पीढियाँ-दर-पीढियाँ बीत गईं, किन्तु फिर भी उस जाति का विकास नही हुआ । उनका जीवन क्रम उसी नपीतुली रेखा मे परिबद्ध रहा । विकास का एक चरण भी वह नही बढा सका । यद्यपि उनके जीवन मे लालसाएँ और आकाक्षाएँ कम थी, अत सघर्ष भी कम थे । कषाय की परिणतियाँ कम थी, पूरा जीवन सरलता एव भद्रता से व्याप्त था । किन्तु ये सब गुण उनमे ज्ञानपूर्वक नही थे, तत्कालीन नैसर्गिक प्रकृति ही वैसी थी । उसकी प्रकृति ही शान्त एव शीतल थी ।

भौतिक दृष्टि से सुखी होते हुए भी उनके जीवन मे ज्ञान एव विवेक का अभाव था । वे केवल शरीर-निर्वाह के क्षुद्र घेरे मे बन्द थे । आत्मोत्कर्ष के लिये संयम-विवेक एव साधना का आदर्श उनके जीवन से कोसो दूर था ।

सक्षेप मे वह युग अतिवासना का युग नही, तो साधना का युग भी नही था । उस जीवन मे पतन के द्वार नही थे किन्तु उत्थान के द्वार भी अवरुद्ध थे । जीवन की यह निर्माल्य दशा त्रिशकु की तरह महत्त्वहीन ही मानी जाती है । यही कारण है कि उक्त अकर्म युग मे कोई भी आत्मा मोक्षगामी नही बन सकती थी ।

काल पचति भूतानि, काल सहरति प्रजा ।
काल सुप्तानि जागर्ति, कालोहि दुरतिक्रमः ॥

कालवादियो के इस सिद्धान्त के अनुसार, जिसे जैन दर्शन सापेक्ष सत्य मानता है, कालक्रम के प्रवाह मे पदार्थों मे नूतनता-पुरातनता का सचार होता है । यही स्थिति अकर्म भूमि की समाप्ति और कर्मभूमि के उदय का हेतु बनती है । धीरे-धीरे कल्पवृक्षो का युग समाप्त हुआ, क्योकि कालस्थिति के अनुसार प्रकृति के उत्पादन क्षीण होने लगे और उपभोक्ताओ की सख्या बढने लगी । जब आवश्यक उत्पादन कम होते हैं और उपभोक्ताओ की सख्या अधिक होती है, तो सघर्ष अनिवार्य है । यही स्थिति उस युग मे भी बनी । पारस्परिक प्रेम एव स्नेह टूटकर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढने लगे । सघर्ष की ज्वालाएँ झुलसने लगी, चारो ओर हाहाकार मचने लगा, अभावो से पीड़ित जनता त्राहि-त्राहि करने लगी ।

मानव जाति की उस सकटापन्न वेला मे, सक्रमण की उन घडियो मे, सकटहर्ता, जन-त्राता आदि तीर्थंकर प्रभु ऋषभदेव ने मानवीय भावना का

उद्‌बोधन दिया । तत्कालीन सत्रस्त मानव जाति के लिये उनके करुणापूर्ण स्वर थे कि अब हमे प्रकृति की परावलम्बनता से ऊपर उठना होगा। स्वय के पुरुषार्थ के बिना इस दयनीय स्थिति से उपराम नही पाया जा सकेगा, अत. यह आवश्यक है कि अब अपने पैरो पर खडा हुआ जाये । प्रभु ने कहा अब युग बदल गया है । वह अकर्म-युग का मानव कर्म-युग (पुरुपार्थ युग) मे प्रवेश कर रहा है । अभी तक पुरुष अपने हाथो का उपयोग भोग मे, खाने मे ही कर रहा था, अब उसे खाने के साथ कमाने-उपार्जन के पुरुपार्थ पर भी सन्नद्ध होना होगा । उसकी भुजाओ मे ही वह शक्ति है, जिसके सम्यग् उपयोग से इस सक्लेश-मय स्थिति से मुक्ति पाकर आनन्द प्राप्त किया जा सकता है ।

मानव-मानव के मन मे व्याप्त निराशा, दौर्बल्य एव दैन्य स्थिति के उस काल मे प्रभु ऋषभदेव ने युग को एक नया मोड दिया । सम्पूर्ण मानव जाति को जो धीरे-धीरे अभाव ग्रस्त हो रही थी, प्रकृति की पराधीनता के फदे मे फस कर अपनी स्वतन्त्र स्थिति को भुला बैठी थी, कर्म-उत्पादन का मत्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया और मानवीय चेतना फिर से सुख और समृद्धि के साथ आनन्द की सास लेने लगी । जनजीवन अश्रम की पराधीनता से निकल कर श्रम की स्वतन्त्रता मे जीने लगा ।

भगवान् ऋषभदेव की उस अनन्त करुणा का प्रतिफल था कि मनुष्य अकर्मभूमि से कर्मभूमि मे प्रविष्ट हुआ और उसके चारो ओर अपने ही श्रम से निष्पन्न भौतिक आनन्द की स्रोतस्विनी बहने लगी । प्रभु ने तत्कालीन परि-स्थितियो का अपने ज्ञान से अवलोकन किया और एक प्रजापालक नृपति के दायित्व के आधार पर मानव जाति को अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ के प्रति पूर्णरूपेण अपने आप पर निर्भर करने के लिये पुरुप को ७२ एवं नारी को ६४ कलाओ का अल्पारम्भ के रूप मे मधुर सदेश दिया ताकि अपने अभावो की सम्पूर्ति के साथ जन-मानस अपने दायित्वो को भी भलीभाति समझ सके ।

इस प्रकार उस नये युग का नया संदेश जन-जीवन मे नई चेतना का आदर्श बन गया, सर्वत्र सुख-समृद्धि का उल्लास छा गया । अभी तक का मानव सामाजिक दायरो से अपरिचित था, अब उसमें सामष्टिक समूहगत व्यवहारो के प्रति सजगता फैलने लगी, इतना सब कुछ हो जाने पर जीवन के अध्यात्म पक्ष के बोध से जनता अभी भी अपरिचित थी । भौतिक उपादानो के उपार्जन एव उपभोग के परिज्ञान तक ही उसका बोध सीमित था । इसके अतिरिक्त जीवन का कोई अविनाशी तत्त्व है और उसके विकास के प्रति सजग होना मानव-जीवन का अनिवार्य अग है, इस विषय का परिबोध उन्हे सर्वथा नही था ।

ऐसी स्थिति मे प्रभु ऋषभदेव ने अध्यात्म का मधुर सदेश दिया। बस यही से भरत-क्षेत्र की अपेक्षा से निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति का उद्भव माना जा सकता है।

प्रभु ने अपने सदेश मे गृहस्थावस्था मे रहते हुए जीवन जीने की कला अर्थात् भौतिक विज्ञान से जीवन को सुख एव शातिमय बनाने का बोध देने के पश्चात् जीवन के दूसरे चरण मे जन-मानस को अध्यात्म की ओर प्रेरित किया कि "जीवन का उद्देश्य केवल भौतिक समृद्धि ही नही है, अपितु जीवन का प्रथम लक्ष्य है, स्वरूप बोध। हम शारीरिक, पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्धो के सकुचित घेरे तक ही सीमित न रहे, जीवन की विराटता को समझ कर सभी आत्माओ के प्रति आत्मोपम्य की भावना का विस्तार करे। इसके लिये आवश्यक है कि पारिवारिक, सामाजिक सम्बन्धो के बीच एक-दूसरे की आत्मा को समझने का प्रयास हो। केवल शरीर और उसकी आवश्यकताओ को ही महत्त्व नहीं देकर आत्मिक पवित्रता के प्रति भी सजग बनें। शरीर-निर्वाह के लिये जितना किया जाना आवश्यक है, वह भी आसक्तिपूर्वक नही, कर्तव्य समझ कर किया जाय। शरीर एव इन्द्रियो के साथ रहते हुए भी उनके दास नही, स्वामी बनकर रहा जाय, भोग के झूले मे मस्त होकर योग की महत्ता को न भुला बैठें। भव्य गगन-चुम्बी अट्टालिकाये, ऊँचे सिहासन एव विशाल ऐश्वर्य के मध्य रहते हुए भी इनके गुलाम न बन जायें। जब भौतिक सम्पदा को ही सब कुछ मान लिया जाता है, तो विद्वेष एव भटकाव बढते है। धन एव सत्ता मूर्तिमान शैतान है, जब ये सर पर चढ बैठते है तो इन्सान को भी शैतान बना देते है। अत जीवन का लक्ष्य भोग नही, योग है।"

प्रभु ऋषभदेव के उपर्युक्त सदेश में निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति की अध्यात्म-वादी धारा के प्रमुख सूत्र हैं, जिन्हे प्रभु ने स्वय जीवन में आत्मसात् करके दिखाया। वे सदेश केवल उपदेश मात्र नही थे। राजकीय वैभव, भव्य भवन तथा समस्त भौतिक सुखो को छोडकर सर्व प्रथम वे स्वय साधना पथ पर अग्रसर हुए। उनकी वह साधना तितिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त कठोर साधना थी। साधना में प्रवेश का अर्थ है, भौतिक सुख-लिप्सा के प्रति निरीह बन जाना, अत देहासक्ति को छोडकर उन्होने जगलो मे भ्रमण प्रारम्भ किया। अपने छद्मस्थ काल अर्थात् कैवल्य की उपलब्धि के पूर्व तक मौनव्रत स्वीकार किया ताकि सामान्य जन-मानस उनकी हर क्रिया से कुछ सीख ले सके।

तप साधना मे गति करते हुए यदाकदा वे नगरो मे भिक्षार्थ प्रवेश करते, तो श्रमण-मर्यादा से अपरिचित भावुक जनता यह सोचकर कि अन्नादि पदार्थो

के आविष्कर्ता महाप्रभु को भोजनादि सामान्य पदार्थ क्या समर्पित करें, हाथी-घोड़े एव रथ सम्मुख करते और निवेदन करते कि आप जगलो मे भ्रमण करते हुए थक गये होगे, अत· इन पर आसीन हो, हमे कृतार्थ करें।

प्रभु मौनपूर्वक शातभाव से आगे बढ जाते पर एक सीख दे जाते कि निर्ग्रन्थ श्रमण को इन साधनो की आवश्यकता नही होती। अगर ये इनका उपयोग करते, तो जगलो मे क्यो जाते ?

इसी प्रकार बहुमूल्य आभूषण आदि पदार्थों के परित्याग से अपरिग्रह का तथा अपनी हर क्रियान्विति से किसी भी चेतना को सक्लेश नही पहुँचाने से अहिंसा का मूर्त उपदेश अपने जीवन के आचरणो द्वारा ही प्रस्तुत कर देते। बस यही निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति का आधार-स्तभ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान युगीन निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति का मूल उद्गम आज से असख्य वर्ष पूर्व इतिहास की पहुँच से परे, ऋषभदेव द्वारा हुआ और उत्तरवर्ती तीर्थंकरो ने उसे समय-समय पर सबल प्रदान कर अद्यावधि तक अक्षुण्ण बनाए रखा।

चूँकि, यह प्रतिपादन प्रागैतिहासिक है, अत. सहसा आज के वैज्ञानिक तथ्यो के आधार पर ही जीनेवाला जन-मानस इस पर विश्वास नही कर पायेगा। किन्तु ऐतिहासिक युग-पुरुष तीर्थंकर महावीर के युग की जो विरासत हमे मिली है, उससे तथा कुछ वेदकालीन सास्कृतिक सकेतो के माध्यम से, आनुमानिक तौर पर उस युग की सांस्कृतिक चेतना का साक्षात्कार किया जा सकता है।

प्रश्न के पूर्वार्ध की सामान्य विवेचना मे निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति के उद्भव के काल-सबधी विवेचन के पश्चात् वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे उसके साँस्कृतिक मूल्यो पर प्रकाश डालने का आग्रह है, जिसे सक्षेप मे समाहित करने का प्रयास है।

प्रश्न के पूर्वार्ध के उत्तर मे बताया जा चुका है कि निर्गन्थ श्रमण-सस्कृति का उद्भव तत्कालीन अराजकता के परिष्कार, अभावग्रस्त हिंसक वृत्तियो से सत्रस्त मानव समुदाय के परित्राण एव आत्मिक आनन्द की उपलब्धि हेतु हुआ था, जिसके मूल मे अहिंसा के स्वर रहे हुए हैं।

इतने विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि निर्ग्रंथ श्रमण-सस्कृति की साँस्कृतिक विरासत मे अहिंसा सिद्धान्त का मूल्य सर्वाधिक है, अथवा यो कहे, निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति अहिंसा-दर्शन का ही अपर पर्याय है, और अहिंसा का साँस्कृतिक मूल्य प्रत्येक युग मे अपना समान महत्त्व रखता है। हाँ, जब कभी हिंसा की पैशाचिक बर्बरता बढ जाती है, मानव-मानव सत्रस्त एव भयाक्रान्त

हो उठता है, उस समय अहिंसा-दर्शन की महत्ता उपयोग की दिशा मे कुछ बढ जाती है ।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति किंवा अहिंसा-दर्शन की उपयोगिता सर्व विदित है ।

आज का युग लोकतत्र का युग है, कोई भी इन्सान अपने पर किसी के शासन तन्त्र को स्वीकारना नही चाहता । पर ऐसा क्यो है ? इसलिये कि प्रत्येक व्यक्ति अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहता है, उसे गुलामी एव असमानता से सख्त नफरत है । यह समानता ही लोकतत्रात्मक शासन प्रणाली का आधार है । प्रजातन्त्र का अर्थ ही है प्रजा के द्वारा, प्रजा के लिये, प्रजा का शासन, जिसमे सभी व्यक्ति अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का बोध कर पाते हैं । जहाँ भय, आतक, घृणा और वैर समाप्त हो जाते है, सभी मे समानता का बोध जागृत होता है, और चारो ओर प्रेम, करुणा, दया, ममता एव स्नेह की वर्षा होने लगती है ।

बस, यही मधुर अध्यात्म आत्मतत्र का सदेश देती है निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति, जिसे हम अहिंसा, अनेकान्त एव आत्म-परिष्कार के नाम से पुकारते है, और आधुनिक परिप्रेक्ष्य मे जिसकी सर्वाधिक उपयोगिता है ।

वर्तमान युगीन जन-चेतना पर दृष्टिपात करे, तो परिलक्षित होता है कि चारो तरफ अभावो की आग धू-धू करके जल रही है । इन्सान चाहे दिन हो या रात, शरीर कँपा देने वाला शीत हो या देह झुलसा देने वाली गर्मी, हमेशा कही पत्थर फोड रहा है, कही लोहा पीट रहा है, कही खेत खोद रहा है, तो कही कारखाने की चारदीवारी मे पसीना वहा रहा है । और यह सव प्रयास उन सव अभावो की आग को शान्त करने के लिये हो रहे हैं । पर इन उपायो के जो परिणाम हैं, वे सब हमारे सामने स्पष्ट हैं ।

"पारस्परिक मनोमालिन्य, अनैतिक जीवन का ताण्डव नृत्य, हिंसा की वर्वरता, आक्रान्ताओ की पैशाचिकता, एक ओर साधनहीन व्यक्तियो का शोषण और दूसरी ओर साधनो का भयकर अपव्यय एव दुरुपयोग । इन सभी कारणो से असमानता-जनित अशाति एव अराजकता का साम्राज्य अठखेलियाँ कर रहा है ।"

इस भयकर सत्रासपूर्ण वातावरण मे अगर परित्राण का मार्ग कही उपलब्ध हो सकता है, तो वह अहिंसामूलक निर्ग्रंथ श्रमण-सस्कृति की पुनीत छाया मे ही ।

क्या लौकिक और क्या लोकोत्तर, दोनो ही प्रकार के मगल-जीवन की आधार-शिला भगवती अहिंसा ही है । अहिंसा मानवीय चिन्तन की उच्च

भूमिकाओ का सर्वोच्च विन्दु है । व्यक्ति से परिवार, परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र और राष्ट्र से विश्व-वन्धुत्व का जो विकास हुआ है अथवा यत्किंचित् हो रहा है, उसके मूल मे अहिंसा-सिद्धान्त की पवित्र भावना काम कर रही है । मानव सभ्यता के उच्चतम आदर्शों का सही सही मूल्याकन अहिंसा के रूप मे ही किया जा सकता है । हिंसा, विनाश, अधिकार-लिप्सा, असहिष्णुता, स्वार्थान्धता के विप से उत्पीडित ससार मे अहिंसा ही सर्व-श्रेष्ठ अमृतमय विश्राम-भूमि है, जहाँ पहुँचकर मनुष्य शान्ति को साँस लेता है । स्व-पर को समान धरातल पर देखने के लिये अहिंसा की निर्मल आँख का होना नितान्त आवश्यक है ।

ससार के समस्त धर्मो ने किसी-न-किसी रूप मे अहिंसा-दर्शन को स्वीकार किया है, किन्तु निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति का तो यह प्राण ही है । निर्ग्रन्थ सस्कृति और अहिंसा-दर्शन एक दूसरे के पर्याय माने जा सकते है ।

'प्रश्न व्याकरण' सूत्र के अनुसार निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति के प्रवचन का उद्देश्य ही अहिंसा-दर्शन का प्रतिपादन है ।

"सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठायाए
पावयण भगवया सुकहिय ।"

इस उपर्युक्त विवेचन के आधार पर स्पष्ट कहा जा सकता है कि आज हाइड्रोजन, उद्जन एव न्यूट्रान वमो के विनाशकारी युग मे भ्रातृत्व-भाव, विश्व-वात्सल्य, समता-दृष्टि, आत्मोत्कर्ष एव परम शान्ति का मधुर सदेश देने वाली निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति के साँस्कृतिक मूल्य कितने गहरे हैं और वर्तमान परिप्रेक्ष्य मे वे अपना दार्शनिक जगत् मे कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते है । साथ ही यह भी स्पष्ट हो जाता है कि निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति का सदेश न किसी युग-विशेप के लिये है और न किसी सम्प्रदाय विशेष के लिये, अपितु यह सदेश युग-युगीन सदेश है, जो जन-जीवन, आत्मा-परमात्मा, आदि के प्रति चिरन्तन सार्वकालिक साँस्कृतिक मूल्यो की प्रतिष्ठा करता है ।

यद्यपि कालप्रवाह के कारण इसकी वाह्य पथ-दिशा मे पात्र की योग्यतानुसार साधना मे अभिरुचि की न्यूनाधिकता का वर्गीकरण मुख्य-गौण भाव से दृष्टिगोचर होता है, और सामयिक परिवर्तन अथवा मोड आते रहते है, तथापि इसकी आत्मा, इसकी अन्तरग जलराशि मे कभी परिवर्तन नही आता । वह तो युगोयुगो मे पिपासार्त प्राणियो की पिपासा को शान्त करने वाली चिरन्तन शाश्वत धारा है, जिसके द्वारा मानव-जगत् ही नहीं, सम्पूर्ण प्राणि वर्ग, पथ का आलोक प्राप्त कर, चिरशान्ति की साँस ले सकता है ।

प्रश्न—२

जैन दर्शन की साधना पद्धति मे ध्यान-योग के स्वरूप, महत्त्व एव उपयोगिता पर कुछ विस्तृत विवेचन करने का अनुग्रह करें।

उत्तर

स्वरूप —साधना-पद्धति मे, चाहे वह जैन-दर्शन की हो अथवा अन्य किसी दर्शन की, ध्यान अनिवार्य अग है। बिना ध्यान के साधना ही नही, ससार के किसी भी कार्य मे सफलता अर्जित नही की जा सकती है। अत. साधना और ध्यान का अविनाभावी सम्बन्ध है। उसमे जैन-दर्शन की साधना तो ध्यान से ही अनुप्राणित है। या यो कहे, वह ध्यान की साधना है। भगवान् महावीर एव उनके साधक-जीवन पर दृष्टिपात करें, तो ज्ञात होगा कि उन्होने तथा उनके साधको ने महीनो ध्यान-योग की साधना मे विताए थे। चूँकि, ध्यान शब्द अभिव्यन्जना का नही, अनुभूति का विषय है, अत. उसे परिभाषित करना अथवा उसके स्वरूप का कथन कर पाना उतना ही कठिन है, जितना कि एक जन्मान्ध व्यक्ति को किसी रग-रूप अथवा प्रकाश का साक्षात्कार कराना। जन्मान्ध व्यक्ति, जिसने कभी किसी भी वस्तु के रूप का अवलोकन नही किया हो, उसे हम लाख प्रयास करके भी प्रकाश तो क्या अन्धकार का भी वोध नही करा सकते कि "प्रकाश ऐसा होता है।" ठीक उसी प्रकार अनुभूति के अभाव मे "ध्यान" शब्द को स्वरूप की दृष्टि से व्याख्यायित नही किया जा सकता है तथापि अनेकानेक ऋषि-महर्षियो एव पूर्वाचार्यों ने ध्यान को विविध रूपो एव आयामो मे व्याख्यायित किया है। बस, इसी दिशा मे यहाँ पर भी वही सामान्य प्रयास है।

"ध्यान" का सामान्य अर्थ होता है विचारो का केन्द्रीकरण, विविध दिग्गामी विचार-प्रवाह को एक व्यवस्थित दिशा प्रदान करना। विशेष अर्थों मे "ध्यान" प्रत्येक जीवन-चेतना की अवश्यम्भावी वृत्ति है। जहाँ जीवन है, वहाँ भला-बुरा चिन्तन अवश्यम्भावी है और जहाँ भले-बुरे का चिन्तन है, वहाँ ध्यान सहज घटित होता है। इस प्रकार जीवन के प्रत्येक क्षण मे ध्यान की धारा दिशा-परिवर्तन के साथ निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। कभी उसमे सक्रियता बढ जाती है, तो कभी घट जाती है, किन्तु चिन्तन-धारा को ही "ध्यान" सज्ञा दी जाती है। चिन्तन की उस धारा की प्रमुख दो ही दिशाएँ हैं—एक निम्न, दूसरी ऊर्ध्व। निम्नगामी विचार-प्रवाह की भी दो धाराएँ है—एक तो अत्यन्त निकृष्टता की ओर ले जाती है, दुर्गति मे पहुचाती है। उसको अप्रशस्त एव अशुभ कहा जाता है। दूसरी आत्मिक सपरिपूर्णता की अपेक्षा से तो न्यून कही जा सकती है, किन्तु आत्मिक परिपूर्णता मे सहायक होने से तथा लोक-परलोक-सबधी भौतिक उपलब्धियो का कारण होने से प्रशस्त। उस सर्व

आपेक्षिक अथवा ऊर्ध्वगामी को अशुभ और ऊर्ध्वमुखी विचार-प्रवाह को शुभ ध्यान कहा जाता है और जो विचार-प्रवाह केवल ऊर्ध्वगामी हो, उसे शुभ ध्यान कहा जाता है। विचारो की अशुभता के सामान्य परिणाम भयंकर, क्रूरतापूर्ण होते हैं। अशुभता चेतना को उसके मूल स्वभाव से निकृष्ट स्थिति मे भटकाने का कार्य करती है।

निम्नगामी विचार-प्रवाह की अपेक्षा प्रशस्तता जो शुभी भी कहलाती है भौतिक उपादानो की समुपलब्धि मे कुछ सहयोग कारण है। परलोक सम्बन्धी समृद्धि एव आत्मिक सपरिपूर्णता मे यह ध्यान भी साधारण निमित्त बनता है। किन्तु सपरिपूर्ण अध्यात्म-साधक के लिये, जो लोक-परलोक की भावना से ऊपर उठ जाता है, यह ध्यान अनावश्यक हो जाता है।

जब जीवन के चरम विकास का लक्ष्य निर्धारित हो जाता है और तदनुरूप स्वरूप-उपलब्धि की दिशा मे स्थायी शान्ति की प्राप्ति हेतु विचार प्रवाह चलता है, तो वह शुभ ध्यान की कोटि मे आता है। इस ध्यान-प्रवाह में भी प्रारभ मे प्रशस्त सकल्पो एव विचारो की बहुलता रहती है, किन्तु जब चरम-विकास की दृढता वृद्धिगत होती जाती है, तब प्रशस्त सकल्पनात्मक भावनाओ की क्रमश. अल्पता एव अनुभूतिमूलक आत्मिक ज्योति की प्रबलता एव प्रचुरता बढ जाती है। जैसे-जैसे आत्मिक अनुभूति का आलोक स्पष्ट होता है, वैसे-वैसे आत्मीय चेतना की अमरता एवं दिव्य शक्तिमत्ता का बोध जागृत होता है। समग्र विश्व के प्रति सहज उपेक्षा-भाव के साथ स्वरूप उपलब्धि की सक्रियता बढती है। विनश्वर पदार्थों की उपेक्षा के साथ जीवन को विमुक्त करने से सम्यग् बोध होता है।

ध्यान की इस प्रारम्भिक भूमिका का स्पर्श होने के पश्चात् ध्यान की गहराई मे प्रवेश पाने हेतु विभिन्न विधियो का अवलम्बन लिया जाता है। प्रारम्भ मे अध्यात्मोन्मुख ध्यान-धारा मे अवगाहन के लिये आदर्श जीवन के विघातक अलीक प्रवचन, आसक्ति, मोह, भावनिद्रा, आदि दुर्विचार रूप शत्रुओ को सत्य, सरलता, अनासक्ति, निर्ममत्व एव समतारूप भावो के द्वारा परास्त करना होता है तथा इन्ही प्रशस्त भावो के द्वारा आत्म-जागृति की साधना की जाती है।

जैसे बड़े नगरो की अत्यन्त दुर्गन्धपूर्ण नाली के पानी मे अवगाहन करने वाला व्यक्ति, अपने बहुमूल्य वस्त्रो के साथ ही उत्तम स्वास्थ्य से भी वंचित रहता है, वैसे ही अलीक आदि मलिन विचारो के प्रवाह मे डुबकियाँ लगाता हुआ इन्सान प्रशस्त ध्यान की अमूल्य साधना रूप स्वास्थ्य को सपादित नही कर पाता है। अत. ध्यान-साधना के जिज्ञासुओ के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि पहले अपने वर्तमान जीवन मे प्रवहमान अन्ध श्रद्धाओ, मलिन विचारो

एव असत् आचारो मे संशोधन-परिवर्तन करें। इसके बिना पुनीत आध्यात्मिक मार्ग पर गति असम्भव है।

अशुद्ध श्रद्धा एव मलिन विचारो के परित्याग का अर्थ श्रद्धा एव विचारो की मूल शक्ति के त्याग से नही, अपितु उनके सशोधन से है। सागर का क्षार आदि का जीवन-नाशक तत्त्वो के घोल-युक्त पानी को सशोधित (फिल्टर) कर जीवनी-शक्तिदायी रूप मे परिवर्तित करने के समान विचारो मे सशोधन किया जाता है। यह विचार-शुद्धि का मार्ग है, विचार-शून्यता का नही।

ध्यान-साधना की भूमिका का दूसरा चरण है, जीवन व्यवहार का सम्यक् अवलोकन। अनायास उठनेवाली विचार-तरग का अवलोकन करते हुए उसके गूढ रहस्यो का विश्लेषण करना तथा उनके सम्यक् वर्गीकरण एव फलाफल अथवा हिताहित का निर्णय करना होता है। शुद्ध एव हितप्रद विचारो को, जो शाश्वत परम शान्ति के हेतु हैं, दृढतर बनाना तथा अन्य विचार-तरगो को भी उसी दिशा मे मोडने का प्रयत्न करना साधना के इस बिन्दु की आवश्यकता है। विचारो के अनुरूप ही आचरण के सोपानो पर बढते जाना भी ध्यान-साधक के लिये आवश्यक होता है।

बाह्य दृश्य पदार्थों को देखने, सुनने, आदि के द्वारा जो व्यवहार बनता है, उस पर स्वीकृत निर्णय के अनुसार सजग रहने का अभ्यास भी ध्यान-साधक के लिए अपेक्षित होता है।

जीवन के व्यावहारिक क्रिया कलापो मे समुचित परिवर्तन के साथ ही साधना के अन्तरग रूप के परिष्कार पर बल दिया जाना चाहिये। ध्येय के स्वरूप की गरिमा को समझकर उसके साथ स्वरूप का तुलनात्मक अकन करने के लिये आवश्यक है कि अपनी आन्तरिक वृत्तियो का सूक्ष्म दृष्ट्या अवलोकन किया जाये।

बिखरी हुई मानसिक वृत्तियो को सम्यक् निर्णीत ध्येय-बिन्दु पर केन्द्रित करने के लिये प्रारभ मे विधिपूर्वक श्वास-प्रश्वास-प्रक्रिया का अवलम्बन भी लिया जा सकता है। श्वासानुसन्धान पर अभ्यास के स्थिर होने पर प्राण-केन्द्रो, उनके क्रिया-कलापो और व्यवहारो को ठीक समझने का प्रयास किया जाय। तदनन्तर विचार-प्रवाह के सशोधित रूप से जाज्वल्यमान्, उज्ज्वल प्रशान्त स्वरूप का साक्षात्कार करते हुए अन्त मे आपेक्षिक निराकार ध्येय की उपलब्धि का प्रयत्न प्रारभ होता है।

इस प्रकार क्रमिक सशुद्धि-प्रक्रिया के द्वारा आत्म स्वरूप के साक्षात्कार के सोपानो पर यथाशक्ति आरोहण को सहजिक प्रक्रियाओ के साथ वरण करना

ही ध्यान की प्रारम्भिक भूमिका के रूप मे अकित किया जाता है। यह ध्यान का प्रारम्भिक रूप भी माना जाता है।

आधुनिक युग मे, विभिन्न-ध्यान-साधको ने अपने-अपने प्रयोग पर ध्यान-योग को व्याख्यायित किया है। हठयोग, कर्मयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, लययोग, शब्दयोग आदि उसी के रूप माने जा रहे हैं। इसी प्रकार इसकी षड्चक्र-भेदन, कुण्डलिनी–जागरण, सुषुम्ना-सबोधन, खेचरी मुद्रा, आदि प्रायोगिक विधियाँ काफी प्रचलित हुई,हैं, किन्तु वे अधिकाशत वैयक्तिक प्रयोग पर ही आधारित हैं। यह आवश्यक नही कि एक व्यक्ति की प्रयोग-विधि किसी अन्य के लिये भी सार्थक हो जाए। अत॰ प्रचलित-प्रणालियो मे बहुत कुछ सशोधन, परिवर्तन एव परिवर्धन अपेक्षित है।

यद्यपि इन प्रयोग-विधियो मे कुछ प्राचीन ग्रन्थो का आधार भी लिया जाता है, किन्तु ग्रन्थो मे जो कुछ विवेचन उपलब्ध होता है, वह बीज अथवा ताले के रूप में ही है, जिसकी कु जी (चाबी) अनुभवी साधको के पास ही रह जाती है। अत जैसे विधिवत् कु जी के अभाव मे ताला नही खुल सकता है, उसी प्रकार अनुभवी साधक गुरु के अभाव मे ध्यान-साधना भी अभीष्ट फल-दायिनी नही सिद्ध हो पाती है।

ध्यान-साधना की इसी दुरूहता के कारण जैन दर्शन मे हठयोग, राजयोग, आदि को अधिक महत्त्व न देकर सहजयोग को महत्त्व दिया गया है। आज ध्यान-साधना की क्लिष्टताओ का मुख्य कारण भी यही है कि अधिकाश साधक सहज योग की साधना से अनभिज्ञ हैं, जबकि सहजयोग ही विशिष्ट योग है और वही ध्यान-साधना की मूलभित्ति है। जैन दर्शन के व्याख्याता एव अनुसर्ता भी अधिकाशत ध्यान-विवेचना मे हठयोग, आदि के प्रसगोपात वर्णन को ही प्रमुखता देकर मौलिक सहजयोग से प्राय. तटस्थ बनते जा रहे हैं। फलस्वरूप ध्यान, जो जीवन-विकास का परम पवित्र, अमोघ साधन है, पल्लवित-पुष्पित नही हो पा रहा है।

आधुनिक ध्यान-साहित्य के अवलोकन से कभी-कभी लगता है कि कुछ व्यक्ति अपनी क्षुद्र प्रतिष्ठा की प्यास को शान्त करने के लिये ध्यान जैसी पवित्र क्रिया का दुरुपयोग कर रहे हैं और सामान्य जनता को दिग्भ्रमित कर अपनी स्वार्थपूर्ति कर रहे हैं।

सहजयोग की ध्यान-साधना साधक को इन सभी छलनापूर्ण वृत्तियो से बचाकर सहज जीवन की ओर गतिशील करती है। वास्तव मे ध्यान की विभिन्न पद्धतियो मे सहजयोग का जो महत्त्व है, वह अलौकिक है और उसी के द्वारा व्यक्ति स्वप्रतिष्ठित होकर परम सत्य एव शाश्वत शाति को उपलब्ध हो सकता

है। यह कथन अतिशयोक्तिपूर्ण प्रतिभासित हो सकता है, किन्तु अनुभूति का आलोक इन शब्दो की सत्यता को प्रमाणित कर सकता है।

महत्त्व—जैन दर्शन से उपदर्शित ध्यान-योग किंवा सहजयोग का कितना महत्त्व है, यह तो अनुभूति का विषय है। अत सम्यक् ध्यान-साधक ही उसकी अनुभूति का रसास्वादन कर सकता है। किन्तु यह ध्रुव सत्य है कि आज के भौतिक जगत् मे विज्ञान के क्षेत्र मे अग्नि, विद्युत, भाप, गैस, तेल, अणु-विस्फोटक लैसर, आदि का जितना महत्त्व है, उससे सहस्राधिक महत्त्व (साधना के क्षेत्र मे) ध्यान का है।

हठयोग, कर्मयोग, आदि अन्यान्य साधना-पद्धतियो मे एकान्तिक आग्रह-मूलक दृष्टि का प्राधान्य होने से, विकृति एव विक्षिप्तता की अधिक सभावनाएँ रहती हैं, जबकि सहजयोग इन सभी विकृतियो से अलग हटकर अपना महत्त्व स्थापित करता है।

जैनागमो मे सहजयोग की मौलिक प्रक्रियाओ का आध्यात्मिक अनु-सधानपूर्वक वैज्ञानिक विवेचन वटवृक्ष की शाखाओ की भाँति बहुआयामी विस्तार मे उपलब्ध होता है।

साकेतिक रूप से ध्यान का वर्गीकरण आगम की भाषा मे यो हुआ है—

"चउविहे झाणे पण्णते तजहा—अट्ठ झाणे, रुद्दे झाणे, धम्मे-झाणे, सुक्के झाणे।" (स्थानाग सूत्र—४) आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्म ध्यान, और शुक्लध्यान। इन चारो ध्यानो के स्वरूप एव भेद-प्रभेदो का विस्तृत विवेचन उत्तरवर्ती साहित्य मे उपलब्ध होता है, जो जैन-दर्शन कथित ध्यान की महत्ता पर गहरा प्रकाश डालता है।

आवश्यकता है नितनूतन आविष्कर्ता वैज्ञानिको की भाँति अन्तरग खोज के प्रति सपूर्ण समर्पणा की। जैसे भौतिकी अनुसधानो मे अनुरक्त वैज्ञानिक अपनी शारीरिक एव पारिवारिक दृष्टि तक के प्रति अनासक्त बनकर केवल आविष्करणीय तत्त्व के प्रति ही तन्मय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार ध्यान-साधक के लिये भी आवश्यक है कि वह केवल ध्यान की शब्दात्मक एव भेदात्मक विवेचना तक ही अटक कर नही रह जाये, अपितु ध्यान मे ध्येय के प्रति सपूर्ण रूप से समर्पित हो जाये। सर्वतोभावेन समर्पणा के आधार पर ही ध्यान के अनुभूति-मूलक महत्त्व को हृदयगम किया जा सकता है।

उपयोगिता—शरीर-निर्वाह के लिये शुद्ध अन्न, जल एव वायु (ऑक्सीजन) की जो उपयोगिता है, वही उपयोगिता अध्यात्म के लिये ध्यान की है।

कहा जा चुका है कि ध्यान की मुख्य दिशाएँ दो है—शुभ और अशुभ। जिस प्रकार दूषित अन्न, जल एव वायु व्याधि एव दु ख के कारण बन जाते है, उसी प्रकार दुर्ध्यान एव दुश्चिन्तन आत्मिक शाति के क्षेत्र मे व्याधि, शोक, सक्लेश आदि के निमित्त बन जाते हैं। जैसे शुद्ध वायु आदि आवश्यक जीवनोपयोगी तत्त्वो के अभाव मे शारीरिक ऊर्जा को क्षति पहुँचती है अथवा ऊर्जा क्षीण हो जाती है। उसी प्रकार प्रशस्त ध्यान किंवा पवित्र विचारो के अभाव मे चेतनागत ऊर्जा अथवा भाव प्राण की शक्ति क्षीण होती चली जाती है। अतः पवित्र विचारयुक्त ध्यान प्रारंभिक ध्यान-साधको के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है।

चिन्तन की पवित्र धारा जीवनगत राग-द्वेषात्मक कूडे-करकट को ध्वस्त करती है। फलस्वरूप जीवन मे नैतिक, धार्मिक एव आध्यात्मिक जागरण होता है, जो जीवन निर्माण मे पाथेय का कार्य करता है।

चिन्तन की वही पवित्र धारा जिसे हमने ध्यान की सज्ञा दी है आगे विकासोन्मुख होती हुई सागर की अतुल गहराई मे रूपान्तरित हो जाती है, जहाँ ध्याता और ध्येय एकाकार बन जाते हैं, साधक साध्य मे रूपान्तरित हो जाता है।

इस प्रकार सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि ध्यान के मौलिक स्वरूप, महत्त्व एव उसकी उपयोगिता को आधुनिक ध्यान-साधक ठीक से हृदयगम कर अनुभूति के प्रकाश का वरण करे तो ध्यान साधना मे आशातीत सफलता मिल सकती है।

प्रश्न—३

धर्म और विज्ञान परस्पर विरोधी हैं या पूरक ?

उत्तर

चूँकि प्रश्न युगसापेक्ष है, अत उत्तर मे सापेक्षता होनी सहज है। वैसे जैन दर्शन अनेकान्त दर्शन है, अत वैज्ञानिक विश्लेषण भी अनेकान्त दर्शन के आधार पर धर्म का विरोधी अथवा पूरक हो सकता है।

अगर विज्ञान की शाब्दिक व्याख्या की जाये, तो वह होगी "विशिष्ट ज्ञान विज्ञानम्" अर्थात् विशेष ज्ञान को विज्ञान कहते हैं। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से विज्ञान धर्म का विरोधी नहीं हो सकता है, क्योंकि ज्ञान आत्मा का मौलिक धर्म है और विशेष ज्ञान-आत्म-परिष्कार का ही कारण बनता है, किन्तु विज्ञान शब्द का आज जो भौतिक आविष्कारो के लिए रूढ अर्थ मे प्रयोग हो

रहा है, उस विज्ञान शब्द से धर्म का सम्बन्ध उसके प्रयोग की दिशा के आधार पर पूरक अथवा विरोधी दोनो अर्थों मे हो सकता है।

धर्म की मौलिक परिभाषा है—आत्म-स्वरूप मे लीनता। जैनागमो मे "वत्थुसहावो धम्मो" के अनुसार वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा गया है, किन्तु यहाँ हम जिस धर्म के सम्बन्ध मे विचार कर रहे है, वह है शुद्ध चैतन्य का स्वरूप-रमण रूप स्वभाव अर्थात् परम चेतना का आत्म-भाव। शुद्ध चैतन्य इस दृष्टि से कि ससारगत कर्मयुक्त चेतना को सापेक्ष दृष्टि से रूपी भी माना गया है। रूपी का धर्म आत्मा का शुद्ध स्वभाव नही बन सकता है। अस्तु, धर्म से तात्पर्य है—राग, द्वेष, मोह, ममत्व आदि दुष्प्रवृत्तियो से रहित आत्मा का मूल स्वभाव।

इसके विपरीत आज के रूढ अर्थ वाला विज्ञान आत्म धर्म को गौण कर भौतिक ऊर्जा के विकास-परिष्कार से अधिक सम्बन्धित है, अत दोनो का कोई मौलिक सम्बन्ध स्थापित करना समन्वय की अति होगी तथापि विज्ञान को उसके उपयोग के आधार पर धर्म की बाह्य परिधि मे अथवा आत्म-कल्याण सम्पादन मे सहयोगी माना जा सकता है, बशर्ते कि उस भौतिक विकास का उपयोग जनकल्याण, जनशाति एव चेतना के परम विकास के लिये हो।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, आदि सिद्धान्त धर्म के मूर्त्त रूप है। विज्ञान यदि इन सिद्धान्तो की सुरक्षा का कवच बनता है और सम्पूर्ण मानव समाज के सत्रास को समाप्त करने का कार्य करता है तो वह निश्चित धर्म किंवा जीवनोत्थान के मार्ग मे पूरक बनकर उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि मात्र विज्ञान अपने आप मे धर्म का न पूरक हो सकता है, न विरोधी। उसका प्रयोगकर्त्ता ही उसमे पूरकता अथवा विरोध का समारोप करता है। कलम सत्य-लेखन मे प्रयुक्त हो सकती है और असत्य-लेखन मे भी। सौ रुपये का उपयोग किसी अपग को सहयोग देकर भी किया जा सकता है और शराब पीकर पागल बनने मे भी। वास्तव मे पदार्थ अथवा साधन अपने आप मे न बुरे होते हैं न अच्छे। उसका प्रयोग करने वाला जिस दिशा मे चाहे, उनका उपयोग कर सकता है।

ठीक यही स्थिति वैज्ञानिक अनुसधानो की है। वर्तमान विज्ञान ने भौतिक साधनो के विकास मे आशातीत सफलता अर्जित की है, इसलिए वर्तमान युग का अपर नाम ही वैज्ञानिक युग बन गया है। मानव-जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने हेतु विज्ञान ने अनेकानेक भौतिक सुविधाएँ उपस्थित की हैं, इसमे दो मत नही हो सकते।

वैज्ञानिक गवेषणाओ के द्वारा शल्य-चिकित्सा का जो विकास हुआ है, उसमे मरणासन्न व्यक्ति का उपचार हो सकता है और उसकी रक्षात्मक प्रक्रिया के द्वारा अहिसा को पुष्ट किया जा सकता है। यातायात एव समाचार-सचार के साधनो द्वारा दुर्भिक्ष से पीडित क्षेत्रो मे आवश्यक साधन-सामग्री पहुँचाकर हजारो प्राणियो के प्राण बचाये जा सकते हैं। इसी प्रकार विज्ञान की अन्य अनेक सृजनात्मक उपलब्धियो पर सन्तोष व्यक्त किया जा सकता है और उन्हे धर्म मे पूरक माना जा सकता है।

शक्ति (ऊर्जा) पर जब तक विवेक और नीति का नियन्त्रण रहे, तभी तक उसकी उपयोगिता है। दुष्टता के साथ उसकी दुरभिसधि जुड जाने पर विकास एव जन-कल्याण के स्थान पर विनाश एव सहार के दुष्परिणाम ही उपस्थित होगे।

आज के वैज्ञानिक विकास को देखकर सामान्य जनमानस एक ओर प्रसन्नता से झूमता दिखाई देता है, तो दूसरी ओर इसके सम्भावित दुष्प्रयोग की विभीपिका से चिन्ताग्रस्त भी दिखता है।

क्षुद्र स्वार्थी मनुष्यो ने विशेपकर सत्ता-लोलुप राजनीतिज्ञों ने वैज्ञानिक आविष्कारो का भयकर अणु-आयुधो के रूप मे, जो दुरुपयोग किया है, वह निश्चित ही जन-साधारण मे विज्ञान के प्रति घृणा का कारण बन गया है। हिरोशिमा और नागासाकी पर बम वर्षा से विनाश का जो ताण्डव नृत्य हुआ है, वह विज्ञान के प्रति सहज भयाक्रान्तता का भाव पैदा कर देता हैं। निकट भविष्य मे हुए वियतनाम-युद्ध मे वैज्ञानिक अस्त्रो का जो दुरुपयोग हुआ और उसके द्वारा लाखो निरपराध प्राणी स्वाहा हो गये, यह किसी से छिपा नहीं है।

विज्ञान का सहारा पाकर मानव दैत्य बनता जा रहा है। घातक अस्त्रो के निर्माण ने मानवी सस्कृति को, जिसे विकसित होने मे लाखो वर्ष लगे, विनाश के कगार पर लाकर खडा कर दिया है। अपनी सामान्य-सी सत्ता-लिप्सा के कारण, वैज्ञानिक साधनो का नर-सहार के रूप मे जो उपयोग हो रहा है, वह धर्म का पूरक नही, घातक ही कहा जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि इस विध्वसनात्मक स्थिति मे विज्ञान को दोषी मानकर क्या हेय मान लेना चाहिए ? इसका छोटा-सा उत्तर होगा एकान्त रूप से ऐसा नहीं माना जा सकता है। प्रश्न हो सकता है कि भौतिक विज्ञान जो कि आशिक सत्य की खोज है, वह हेय अथवा सर्वथा बुरा कैसे हो सकता है ? बुरा तो वह इन्सान है, जो अपने निहित स्वार्थ के लिए विज्ञान का दुरुपयोग करता है। आपरेशन के चाकू से यदि रक्षात्मक भावना से आपरेशन किया जा रहा है,

तो वह उस चाकू का सदुपयोग होगा और उसी से स्वार्थवश किसी का गला काटा जाय तो वह उसका दुरुपयोग होगा। इसमे चाकू को दोषी कैसे कहा जा सकता है ? दोषी तो उसका उपयोगकर्त्ता है।

जिन लेजर किरणो के रचनात्मक उपयोग से कैंसर जैसे दु साध्य रोगो पर नियन्त्रण पाया जा सकता है, आँख की पुतली या किसी कोने मे ट्यूमर आदि हो जाने पर एक सैकण्ड मे हजारवें भाग मे आपरेशन द्वारा रोगी को रोग-मुक्त किया जा सकता है, उन्ही लेजर किरणो के विध्वसक उपयोग द्वारा महाविनाश की लीला प्रस्तुत की जा सकती है। वैज्ञानिको के अनुसार लेजर किरणो का युद्ध अणुयुद्धो से सस्ता पडेगा और पलक झपकते ही अभीष्ट क्षेत्र के सैनिक और नागरिक ही नही, वृक्ष, फसल, घास-पात सब भस्म हो जायेंगे। लेजर किरणो का प्रयोग एक ऐसा जादुई चिराग-सा है जो सृजन और विनाश दोनो क्षेत्रो मे विस्मयकारी भूमिका अदा कर सकता है। रूस और अमेरिका दोनो देशो के हजारो वैज्ञानिक सैकडो प्रयोगशालाओ मे इस महाशक्ति की साधना मे अहर्निश जुटे हुए हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-शोध-अनुसधान-सस्था के निदेशक डॉ० फ्रेकवारनेवी ने ससार को चेतावनी दी है कि जिस क्रम और उत्साह से प्रकृति विजय के अन्तर्गत मारक शक्तियाँ विकसित और उपलब्ध कराने की होड चल रही हैं, उसके परिणाम घातक होगे।

जैन दर्शन की अनेकान्त शैली से कहे तो विज्ञान धर्म का पूरक भी हो सकता है और घातक भी। जो वैज्ञानिक प्रयोग अहिंसा, सत्य, आदि की प्रतिष्ठा मे सहयोग प्रदान करते हैं वे धर्म एव मानव-कल्याण के पूरक है, और जो प्रयोग क्षुद्र स्वार्थों से प्रेरित हो विनाश लीला की रचना कर रहे है, वे धर्म और मानव-कल्याण मे बाधक हैं। अत आवश्यक है कि वैज्ञानिक प्रयोग पर आत्म-दर्शन एव विवेकपूर्ण सम्यग् निर्णय का नियन्त्रण रहे, ताकि प्रचण्ड वैज्ञानिक शक्ति का जन-कल्याण एवं विश्व-कल्याण के लिए समता के धरातल पर सही उपयोग हो सके।

प्रश्न—४

आत्म-साधना की दृष्टि से जैन धर्म की यह ध्रुव मान्यता है कि प्रत्येक आत्मा समान रूप से शक्ति-सम्पन्न है, फिर लिंग-भेद को मुख्यता देकर साधना मे समान होते हुए भी साध्वी को द्वितीय स्थान क्यो दिया गया ?

उत्तर

यह सत्य है कि जैन दर्शन की मौलिक मान्यता के अनुसार ससार की

सभी आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से समान हैं। भगवान् महावीर का स्पष्ट उद्घोष है कि "अप्पसम मन्निज्ज छप्पिकाए" अर्थात् ससार की समस्त आत्माओ को अपनी आत्मा के तुल्य समझो, अथवा "एगे आया" ससार की सभी आत्माएँ स्वरूप की दृष्टि से एक हैं। जो अनन्त ज्योति स्वरूप परमात्मा का है, वही ससार की एक छोटी-से-छोटी आत्मा का भी है।

इतना होते हुए भी ससार के समस्त प्राणियो मे कर्म-जनित इन्द्रिय एव देह सम्बन्धित भेद-रेखा भी स्पष्ट दिखाई देती है। एक वनस्पति की क्षुद्रतम योनि मे रहने वाली आत्मा है, तो दूसरी कीडो-मकोडो, पशु-पक्षी की देह मे रहने वाली आत्मा है और इससे विकसित मानव देहधारी और देव वपुधारी आत्माएँ भी है। ये सव भिन्नताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं। इतना ही नही, मानव तन-धारी आत्माएँ भी सभी समान कहाँ हैं? उनमे भी कर्म-जनित, वर्गजनित अनेकानेक भिन्नताएँ देखी जाती हैं।

उपर्युक्त भिन्नताओ का कारण जैन दर्शन मे प्राणियो के अपने-अपने शुभाशुभ कर्म को माना गया है। अपने पूर्वाजित कर्म के आधार पर ही विभिन्न प्रकार के शारीरिक रचना-भेद एव सगठन-भेद उत्पन्न होते है। एक पुरुष की शारीरिक रचना सुगठित एव सुडोल होती है, उसके देह की मजवूती फौलादी होती है। इसके विपरीत दूसरा व्यक्ति कुरूप, विकलाग, वीभत्स एव कमजोर शरीर वाला होता है। इसके पीछे जो कारण हैं, वे अपने-अपने पूर्वोपार्जित कर्म हैं। प्रारम्भ मे भले ही हम इसे आनुवशिक सस्कार अथवा प्राकृतिक उपादान मान ले, किन्तु वैसा सयोग भी कर्म-जनित ही हो सकता है।

तात्पर्य यह है कि दैहिक भिन्नता का मुख्य कारण जैन धर्म मे कर्म को माना गया है और यही स्थिति स्त्री-शरीर और पुरुष-शरीर की रचना भेद के सन्दर्भ मे है। स्त्री और पुरुष की शारीरिक भिन्नता भी कर्म जनित है।

अव प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार के कर्म के कारण स्त्री-शरीर की उपलब्धि होती है और किस कर्म के कारण पुरुष शरीर की। इस प्रश्न के उत्तर की गहराई मे जाने के लिए आगमिक कर्म-सिद्धान्त का आश्रय अपेक्षित होगा।

आगम के अनुसार स्त्रीवेद कर्म का वन्धन मायाचार की प्रधानता से होता है और वह भी प्रथम एव द्वितीय गुणस्थान जैसी विचारो की निम्न स्थिति मे, जवकि पुरुषवेद के वन्धन का कारण सरल प्रकृति होता है और गुणस्थान की दृष्टि से नवें गुणस्थान जैसे उच्च भावो तक होता है।

इस आगमिक सैद्धान्तिक दृष्टिकोण के आधार से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्त्री-शरीर की उपलब्धि निम्न विचारो के कारण होती है, और पुरुष देह

का निर्माण उच्च विचार-जनित होता है। इस भेद-रेखा को प्राकृतिक शरीर रचना के माध्यम से भी स्पष्ट समझाया जा सकता है। प्राकृतिक दृष्टि से स्त्री शरीर स्वसुरक्षा मे पराश्रित रहता है। स्त्री शरीर की यह प्राकृतिक कमजोरी है कि वह अपने शील की सुरक्षा प्राण देकर ही कर सकती है, अन्यथा बलात्कारी आक्रामक से बचना उसके सामर्थ्य के बाहर है। पुरुष पर कोई उसकी इच्छा के बिना आक्रमण कर उसे चारित्रिक पतन की ओर नही ले जा सकता। यह और ऐसे ही कुछ अन्य प्राकृतिक तथ्य यह मानने को बाध्य कर देते हैं कि शारीरिक दृष्टि से स्त्री का दूसरा स्थान है।

प्रश्न हो सकता है कि यह सब तो देह-रचना से सम्बन्धित ऊपरी भेद-रेखा है, किन्तु साधना के क्षेत्र मे देह-रचना और वह भी पूर्वजन्मोपार्जित कर्म का क्या सम्बन्ध है ? वन्दन केवल शरीर को तो किया ही नही जाता है, वन्दन मे वन्दनीय के गुणो की मुख्यता होती है।

जिज्ञासा समीचीन है। वन्दन एव सत्कार भाव मे भावात्मक दृष्टि की मुख्यता रहती है। शरीर की दृष्टि से कोई कैसी ही आकृति वाला क्यो न हो, वन्दन का भाव उसमे निहित गुणो के प्रति ही होगा, किन्तु वह वन्दन भावात्मक होगा और उस भावात्मक वन्दन मे मतभेद की गु जाइश भी नही है। भाव-वन्दन, जो गुणो के आधार पर होता है, वह एक पचास वर्ष का दीक्षित मुनि भी दो दिन की दीक्षा पर्याय वाली साध्वी को करता है। प्रतिदिन 'णमो लोए सव्वसाहूण' का उच्चारण जो पच्चीसो बार होता है, एक आचार्य भी करते हैं, उसमे साधु-साध्वी को कोई भेद-रेखा नही खीची गई है। प्रात और सन्ध्या प्रतिक्रमण मे पचपदो की वन्दना मे साधु-साध्वी सभी को वन्दन किया जाता है। इस प्रकार भाव-वन्दन का जहाँ तक प्रसग है, वह एक सामान्य साध्वी के प्रति भी साधु का होता ही है।

किन्तु द्रव्य वन्दन, जो देहपिण्ड एव वर्तमान साधना स्तर के आधार पर होता है, वह साधु के द्वारा दीर्घ, दीक्षा पर्याय वाली साध्वी को भी नही होता है। इसका कारण वर्तमान देहपिंड और तदनुरूप भावना जगत् है। वीतराग सिद्धान्त किसी एकान्तिक आग्रह को नही मानता है। वहाँ प्रत्येक क्रिया को द्रव्य और भाव दो दृष्टियो से आका जाता है। भाव-वन्दन मे समर्पित होते हुए भी द्रव्य-वन्दन नही करना वीतराग-सिद्धान्त की गम्भीर सैद्धान्तिक दृष्टि पर आधारित है। जिन पूर्व कर्मों के परिणाम-स्वरूप वर्तमान पुरुष अथवा स्त्री का शरीर मिला, उन्ही कर्मो के अनुसार देह के अनुरूप भावनाएँ बनती हैं। जैनागमो के अनुसार पुरुष, स्त्री और नपु सक दैहिक व्यक्तियो के बीच मोह-जनित भावनाओ का बहुत अधिक अन्तर होता है, और यह सैद्धान्तिक अव-धारणा है कि गुणो का तारतम्य मोह की न्यूनाधिकता पर अवलम्बित है।

मोहनीय, प्रसगत वेद मोहनीय की जिसमे जितनी न्यूनता रहती है, भावात्मक दृष्टि से साधना मे वह उतनी ही उच्चता का वरण करता है, और मोह की जितनी उत्कृष्टता रहती है, उतना ही वह गुणात्मक क्षेत्र मे अविकसित माना जाता है।

दीक्षा-पर्याय सम्बन्धी ज्येष्ठत्व एव कनिष्ठत्व भी किसी सीमा तक मोह-जनित भावना के तारतम्य पर आधारित होता है। चूँकि पुरुष, स्त्री और नपु सक वेद के उदय मे वैकारिक भावनाएँ क्रमश अधिकाधिक होती है, अत तीनो की गुणात्मक स्थिति भी उसी अनुपात से न्यूनाधिक होती है। आगमो मे पुरुष, स्त्री और नपु सक की वैकारिक भावनाओ को अग्नि से उपमित करते हुए कहा गया है कि पुरुष वेद-जनित वैकारिक भावना तृणाग्नि के तुल्य होती है और स्त्री वेद-जनित वैकारिक भावना करिषाग्नि के समान होती है, जबकि नपु सक वेद-जनित वैकारिक भावना अरण्य-दाह (दावाग्नि) के समान होती है। जैसे घास के तिनके आग से शीघ्र प्रज्वलित होते हैं और पुन शान्त भी शीघ्र हो जाते हैं, वैसे ही पुरुष मे वैकारिक भावनाओ का वेग तीव्रता के साथ आता है, किन्तु वह क्षणिक होता है। इसके विपरीत करिपा (कण्डा) प्रज्वलित भी धीरे-धीरे होता है, और उपशात भी शनै.-शनै होता है। ठीक उसी प्रकार स्त्री वेदोदय-जनित भावना कुछ अधिक वैकारिक एव स्थायी होती है। इसी प्रकार नपु सक वेद अरण्य-दाह अर्थात् भयकर वन के जलने के समान बहुत अधिक स्थायी विकारो वाला होता है।

इस प्रकार भावात्मक दृष्टि भी मुख्यतया स्त्री को द्वितीय स्थान ही प्रदान करती है। यद्यपि उपर्युक्त मोह-जनित भावनाओ का कथन बहुलता का है, उसमे कुछ आपवादिक उदाहरण मिल सकते हैं, किन्तु आम्र-वन मे सौ आम्र-वृक्षो के साथ पाँच-दस नीम के वृक्ष होते हुए भी उसे आम्रवन ही कहा जाता है।

इस प्रकार भावो की इस दृष्टि से मोह-कर्म का उदय पुरुष वेद मे सबसे अल्प होता है और मोह की अल्पता की प्रधानता के कारण पुरुष को ज्येष्ठत्व स्वत प्राप्त हो जाता है, क्योकि पूर्व जन्मोपार्जित वेद मोहनीय कर्म के अनुरूप ही देह की उपलब्धि होती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी कभी-कभी मुनि की अपेक्षा साध्वी, साधना मे विशेष प्रगति कर सकती है, जहाँ उसके पूर्व कर्म एक तरफ छूट जाते हैं। किन्तु यह उसका वर्तमान पुरुषार्थ के द्वारा भावात्मक विकास होता है, वर्तमान शरीर की निर्मिति के साथ उसका कोई सम्बन्ध नही है और उस स्थिति को पूर्व मे भाव-वन्दन के प्रसग मे स्वीकार किया जा चुका है। परन्तु व्यक्ति-पिण्ड-शरीर वन्दन का जहाँ तक प्रसग है, उसमे पुरुष का ज्येष्ठत्व मानना पडेगा।

यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि भावात्मक साधना मे अथवा गुणस्थानो के आरोहण मे समान स्थिति होते हुए भी द्रव्य देह-पिण्ड की दृष्टि से द्रव्य-वन्दन पुरुष को ही होगा। कोई विरक्त आत्मा भावो की दृष्टि से उत्कट वैराग्य के क्षणो मे सातवें गुणस्थान मे पहुँच जाती है, तो भी वन्दन-व्यवहार साधु पोशाक के आधार पर षष्ट गुणस्थानवर्ती मुनि को ही होगा। षष्ट गुणस्थान वर्ती मुनि भावात्मक दृष्टि से अपने से श्रेष्ठ समझते हुए भी सप्तम गुणस्थानवर्ती वैरागी को नमस्कार नही करता है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम मे स्थित तीर्थंकर एक सामान्य मुनि से ज्ञान एव श्रद्धा की दृष्टि से अधिक योग्य होते है, तथापि वे साधुओ द्वारा वन्दनीय नही होते है। वैसे ही साध्वी, भावो की दृष्टि से कुछ उच्चस्थिति पर पहुँच जाए, तथापि वन्दन ज्येष्ठ पदयुक्त मुनि को ही करेगी।

इन्ही उपर्युक्त दृष्टिकोणो से जैनागमो मे पुरुष को गुणात्मक, देहात्मक एव भावात्मक दृष्टि से प्रधान मानकर ज्येष्ठत्व प्रदान किया गया है। जिन आगमो की पुनीत छाया मे हमारी समस्त साधना गतिशील है, अत· इन्ही आगमो मे उपदर्शित सघीय व्यवस्था को झुठलाया नही जा सकता है।

स्थानाग आदि सूत्रो मे दस कल्प (मर्यादाओ) का विवेचन हुआ है। उसमे पुरुष ज्येष्ठत्व कल्प का भी वैधानिक प्रारूप है।

कुछ आधुनिक विचारको का कथन है कि नियम-मर्यादाओ का निर्धारण पुरुष ने किया है, अत उसने अपने को महान् अथवा ज्येष्ठ घोषित कर दिया है, किन्तु ये विचार छिछली बुद्धि के हैं। मर्यादाओ का निर्धारण किसी सामान्य व्यक्ति के द्वारा नही हुआ है बल्कि परम वीतरागी सर्वज्ञ-सर्व द्रष्टा महाप्रभु के द्वारा मर्यादाओ का निर्धारण हुआ है। वे कभी भी पक्षपात नही कर सकते। जैनागमो के परिशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने नारी-जाति के उत्थान के लिए कितने सशक्त स्वर दिये और नारी को अध्यात्म साधना की कितनी उच्च भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है, किन्तु जो नैसर्गिक भिन्नताएँ हैं, उन्हे झुठलाया भी नही है।

मानव-निर्मित मर्यादाओ के प्रति तो हम उक्त तर्क कर सकते है, किन्तु प्रकृति के अन्य उपादानो पर दृष्टिपात करें तो वहाँ भी हमे वही व्यवस्था दिखाई देती है।

वनराज सिह, जगल का राजा होता है, सिहनी नही। हाथियो के यूथ का नायक गजराज ही होता है। वन्दर समूह मे पच्चासो वन्दरियो का स्वामी वलवान वन्दर ही होता है। पशु जगत् की प्राकृतिक व्यवस्था से भी यह स्पष्ट

हो जाता है कि वहाँ भी पुरुष को ज्येष्ठत्व ही नही नायकत्व भी प्रदान किया गया है। तो वहाँ की मर्यादाओ का निर्धारण किसने किया और क्या उसमे भी पक्षपात किया गया है ?

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष प्राकृतिक एव आगमिक दृष्टियो से ज्येष्ठ सिद्ध होता है और जो ज्येष्ठ होगा, उसे वदन आनुपगिक ही होगा। व्यावहारिक जीवन मे भी देखा जाता है कि दस वर्ष की उम्र वाले चाचा एव मामा को २५ वर्ष की उम्र वाले भतीजे-भानजे नमस्कार करते हैं। सादगी एव सद्गुण सम्पन्न ४० वर्षीय वहू पुन विवाहित २० वर्षीय सास को प्रणाम करती है। यही नही, मुनि-परम्परा मे भी पर्याय ज्येष्ठ पुत्र को लघु दीक्षा पर्याय वाला पिता सम्मान देता है। एक २० वर्षीय आचार्य के नेतृत्व मे वडे-वडे स्थविर महामुनि चलते है और उनका सत्कार-सम्मान करते हैं। यह सव पद की महत्ता है। राष्ट्रपति-पद राष्ट्रीय प्रजातन्त्र मे सर्वोच्च माना जाता है। अतएव एक पैतीस वर्षीय राष्ट्रपति का आदर सत्कार वडे-वडे अनुभवी राष्ट्र नेता करते है।

उपर्युक्त तथ्यो के आधार पर यह निष्कर्ष फलित होता है कि आध्यात्मिक दृष्टि से कैवल्यज्ञान जैसी सर्वोच्च सत्ता की अधिकारिणी मानी जाने के उपरान्त भी व्यावहारिक एव शारीरिक दृष्टि से स्त्री को द्वितीय स्थान ही प्राप्त होता है। इस स्थिति को कुछ आधुनिक क्रान्तिकारी जागरूक महिलाओ ने भी स्वीकार किया है। विश्रुत विद्वान् श्री जैनेन्द्रजी ने अपनी कृति "समय और हम" मे एक विदुपी अमेरिकन महिला का प्रसग देते हुए लिखा है कि उनके कथनानुसार हमे पुरुषो से द्वितीय स्थान स्वीकार कर लेना चाहिये। इसी प्रकार भारतीय सस्कृति मे, जो अति प्राचीन सस्कृति है, नारी का पितृ पक्ष सम्बन्धी गोत्रादि परिचय वदल जाता है। उसे पुरुष के माध्यम से ही पहचाना जाता है। सन्तान की परम्परा भी पुरुष वशानुसार मानी जाती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनागमो एवं तीर्थंकरो ने नारी को जो द्वितीय स्थान अपनी सघीय व्यवस्था मे प्रदान किया है, वह यौक्तिक एव समीचीन है। इसमे नारी जाति के अनादर की भावना अथवा उसे हीन समझने की कल्पना करना निरी मूर्खता ही होगी। उपर्युक्त व्यवस्था प्रकृति, कर्म सिद्धान्त एव सामाजिक सघीय व्यवस्था के आधार पर वनी है, न कि हीन वुद्धि से

प्रश्न—५

वर्तमान सन्दर्भ मे युवा वर्ग मे धार्मिक असतोप के कारण क्या है ? उनके समाधान क्या हो सकते हैं ?

उत्तर

युवावस्था कुछ कर गुजरने की अवस्था होती है और युवा खून क्रान्ति पथ का अनुगामी होता है। यौवन की इस क्रान्तिकारी वेला मे युवक नित नूतन दिशा की खोज करता है। उसे सदियो से चला आ रहा पुरातन-पथ समीचीन नही लगता है। अत वर्तमान सन्दर्भ मे ही नही युवावस्था सदैव ही अपनी पुरातन मान्यताओ के प्रति असन्तुष्ट रही है। आज से नही, सदियो से यही क्रम चल रहा है। प्रत्येक युग मे पुरानी पीढी के स्वर रहे है कि युवक अनास्थावान बनते जा रहे है, उन्हे धर्म पर विश्वास नही है, आदि। और जब वे सीनियर होते है, तो अपने जूनियरो के प्रति उनके भी वे ही स्वर होते है। इस असन्तोष मे काल क्रम के अनुसार उतार-चढाव अवश्य हो सकता है, किन्तु वह अपने वर्तमान से सन्तुष्ट कभी नही हो पाता है। और जब वह असन्तुष्ट होता है, तो सास्कृतिक, सामाजिक, राजनैतिक एव धार्मिक सभी क्षेत्रो मे क्रान्ति चाहता है, परिवर्तन चाहता है।

चूँकि धार्मिक उत्कर्ष के मूल सिद्धान्त अपरिवर्त्य होते हैं, अत· अन्यान्य क्षत्रो मे परिष्कारात्मक सामन्जस्य बिठाते हुये भी धार्मिक क्षेत्र मे वह सामन्जस्य नही बिठा पाता है और उससे विरोध करता चला जाता है।

वर्तमान सन्दर्भ मे भी कुछ ऐसी ही स्थिति परिलक्षित होती है। चूँकि आज का वातावरण अत्यधिक भौतिकता-प्रधान बन गया है, अत युवा वर्ग पर उसका प्रभाव सहज होता है और एतद्वारा अध्यात्म के प्रति उनकी उपेक्षा भ अपने आप बनती है।

यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि वातावरण का प्रभाव प्रत्येक चेतना पर पडता है। जैसा वातावरण होगा, भावात्मक निर्माण एव पतन भी तदनुरूप होगा। आज के वातावरण की ओर दृष्टिपात करे, तो स्पष्ट हो जाता है कि उसमे अध्यात्म के प्रति उपेक्षा ही नही, अपितु परोक्ष तिरस्कार की भावना भी वढती जा रही है, और उस वातावरण का प्रभाव युवावर्ग पर सर्वाधिक एव वहुत शीघ्र होता है। उपन्यास आदि साहित्य, सिनेमा आदि मनोरजन के साधन एव कॉलेजो में सह-शिक्षा से अनुवधित वातावरण सभी कुछ ऐसे अश्लील वायु-मण्डल का निर्माण करते हैं कि युवावर्ग उनकी ओर खिचता चला जाता है और उसकी सीधी ही प्रक्रिया होती है अध्यात्म पर। किन्तु यह एकान्तिक दृष्टिकोण नही है। कुछ सीमा तक युवक अपने आपको इस वातावरण के प्रभाव से वचा भी लेता है। यह उसमे क्षमता है। यही नही उसकी जिज्ञासु-प्रतिभा जिज्ञासा की भूख को लिए हुए चलती है और उस भूख के शमन के लिए खुराक की खोज भी रहती है और ऐसा होना इस युग की देन है, क्योकि

भौतिक अनुसधान एव आविष्कारो ने इसको सूक्ष्मता से समझने का सुन्दर अवकाश प्रदान किया है। परिणामस्वरूप उसकी बुद्धि इतनी पैनी एव सूक्ष्मदर्शी बन चुकी है कि वह इस छोर से उस छोर तक पहुँचने के लिए मचल उठती है। किसी रूप मे वह बाहर प्रस्फुटित होने का अवसर देखती है और अवसर पाकर कुछ प्रकट भी होती है। किन्तु अधिकाश लोगो मे उसको देखने-समझने की क्षमता प्राय नही होती है। परिणामस्वरूप कई आघातो से आहत होकर या तो कुठा का रूप धारण करती है, या मुडकर भौतिकता को ही सब कुछ मान बैठती है अथवा विद्रोह का रूप धारण कर लेती है। वैसी स्थिति मे मस्तिष्क के तनाव को हल्का करने के लिए उपन्यास, सिगरेट, सिनेमा आदि का सहारा लेती है, जिससे उसकी गति विचित्र बन जाती है। किन्तु दूसरी ओर उसके सामने समस्या है कि वह अध्यात्म के साथ अपना सयोजन कैसे करे? क्योकि वर्तमान के मतभेदपूर्ण धार्मिक क्षेत्र की ओर उसकी दृष्टि जाती है, तो वह हतप्रभ-सा रह जाता है। जिस धर्म का उद्देश्य विश्ववात्सल्य, पारस्परिक प्रेम, सामाजिक सौहार्द है, उसी धर्म के उपासक सामान्य-सी बातो के लिये एक-दूसरे को समाप्त करने पर तुले हुए हैं। चीटी तक की रक्षा करने वाले अहिंसा के पुजारी सामाजिक कुरीतियो एव तुच्छ भौतिक स्वार्थों के पीछे कितने जघन्य हिंसा कृत्य कर जाते हैं।

कदाचित् वह इस समूहगत सैद्धान्तिक अवहेलना की उपेक्षा कर ले, किन्तु जब वह अपने अभिभावको, अध्यात्म-साधना के प्रति उत्प्रेरको की ही द्वेषपूर्ण स्थिति देखता है, तो हैरान-सा रह जाता है। अभिभावक एव अपने बुजुर्ग कहते क्या एव करते क्या हैं, उनके जीवन मे धार्मिक स्थानो के आचरण एव कथन कुछ और होते है और धर्मस्थान से बाहर के व्यावहारिक जीवन के आचरण कुछ और। वे ही अभिभावक जब युवको को धार्मिक क्रिया हेतु प्रेरित करते हैं, तव युवक सहज प्रश्न करते हैं—क्या परिवर्तन आया है आप मे इन तथाकथित धार्मिक आचरणो से? वुजुर्ग जब उचित समाधान नही दे पाते हैं, तो उस तर्कनिष्ठ मानस को नास्तिकता का फतवा प्रदान कर देते हैं। फलस्वरूप युवा-मानस धर्म से कटता चला जाता है।

होना यह चाहिये कि अभिभावक, युवको के सामयिक एव तर्कनिष्ठ प्रश्नो के उत्तर मे शान्त मस्तिष्क से काम ले और अपने जीवन की वास्तविक स्थिति को नग्न सत्य के रूप मे स्पष्ट कर दें कि वे धार्मिक सिद्धान्तो की बहुत गहराई मे नही उतरे हैं, वे जो कुछ धर्माचरण कर रहे हैं वह श्रद्धा के आधार पर कर रहे हैं। साथ ही यह मेरी कमजोरी है कि मैं प्रवचनो आदि मे जो कुछ सुनता हूँ उसे जीवन में पूरी तरह नही उतार पा रहा हूँ। इसके पीछे अनेक कारण है, पारिवारिक समस्यायें, आय के स्रोत के अभाव के कारण आर्थिक विपन्नता, सामाजिक कुरीतियो का वाहुल्य, व्यापारिक सहयोगियो का अभाव

एवं कानूनगत व्यवस्था की पेचीदगी। इन परिस्थितियों मे मैं अपने-आपको उच्च आदर्श श्रावकत्व की भूमिका पर प्रतिष्ठत नही कर पा रहा हूँ। इसे मैं अपनी कमजोरी मानता हूँ। किन्तु तुम चाहो तो अभी से अपने जीवन को नियमित एव व्यवस्थित बना सकते हो। मेरी कमजोरी को देखकर तुम्हे उसका अनुसरण नही करना चाहिये। तुम उच्च आदर्श श्रावक का अनुकरण कर सकते हो। इसके अतिरिक्त धार्मिक सिद्धान्तो के विषय में तुम्हारी जो जिज्ञासाएँ है, उन्हे विद्वान् मुनियो के समक्ष जाकर समाहित करो।

इस प्रकार मधुर शब्दो में यदि युवको को सम्बोधित किया जाये तो कोई कारण नही कि वे अपने अभिभावको की इच्छा के विपरीत कार्य करें। किन्तु होता इससे विपरीत है। अभिभावक अपनी सैद्धान्तिक अनभिज्ञता एव आचरण की कमजोरी को छिपाने का प्रयास करते हैं। युवा वर्ग पर इसका विपरीत प्रभाव पडता है। यह भी युवक को धर्म से दूर करने का एक कारण बन जाता है।

अभिभावको के समान ही कुछ वर्तमान श्रमण वर्ग की स्थिति है। उनके समीप भी अधिक प्रेरित करने पर कदाचित् युवक चला जाए, किन्तु वहाँ भी उन्हे अपनी जिज्ञासाओ का समुचित समाधान नही मिल पाता है। क्योकि अधिकाश श्रमणो की स्थिति यह है कि वे स्वय बहुत कम स्वाध्यायशील हैं और जो कुछ अध्ययन है वह भी केवल तोता-रटन्त-सा। उसके पीछे गहरा चिन्तन नही है तथा इस सैद्धान्तिक ज्ञान को आज के वैज्ञानिक परिवेश मे किस प्रकार प्रस्तुत किया जाए, यह कला प्राय- नहीवत् है। आज आवश्यकता यह है कि जैन तत्त्व-ज्ञान के सिद्धान्तो को, जो कि वास्तव मे वैज्ञानिक सिद्धान्त हैं, नूतन शैली मे वैज्ञानिक सिद्धान्तो के साथ समन्वित करके प्रस्तुत किया जाय। यह कहा जा चुका है कि युवक हर चीज मे नूतनता चाहता है। यदि आत्मा-परमात्मा, कर्म एव पुनर्जन्म सम्बन्धी गूढ सिद्धान्तो को आज के परिवेश मे समझाने का प्रयास किया जाय, तो युवक निश्चित उस ओर आकर्षित होगा। आज का युवक बुद्धिजीवी है। रूढ अवधारणाओ का समादर नही करता है तो तर्कसगत वैज्ञानिक प्रतिपादन समझ पूर्वक स्वीकारने मे भी एतराज नही करता है। किन्तु हम देखते है कि आज का श्रमण वर्ग प्राय इस विषय मे निश्चेष्ट है। कुछ सचेष्ट भी है जो अत्यन्त आधुनिकता की बाते करते हैं। उनके आचरण-सिद्धान्त विपरीत है। जब ऐसे विश्रुत विद्वान् मुनियो की भी कथनी-करणी मे अन्तर दिखाई देता हैं, तो युवक असमजस मे पड जाता है।

तात्पर्य यह है कि धर्म को वैज्ञानिक एव मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के रूप मे प्रस्तुत किया जाये और श्रमण वर्ग अपने इस दायित्व को महसूस करे, तो किसी हद तक युवको मे धार्मिक चेतना जागृत की जा सकती है।

इतना सब कुछ होते हुए भी सम्पूर्ण दोष अभिभावक एव श्रमण-वर्ग पर ही नही थोपा जा सकता है। कुछ कमजोरियाँ युवा वर्ग की स्वयं की हैं। वे स्वय अपने जीवन के मौलिक उद्देश्यो के प्रति अनभिज्ञ रहते हैं और तद् विषयक ज्ञान के प्रति वे सचेष्ट नही बन पाते। अपने बाहरी बनाव-शृगार एवं फैशन-परस्ती मे ही वे इतने व्यस्त रहते हैं कि जीवन के मूल उद्देश्य को समझने तक का अवकाश नही मिल पाता।

अपने-आपको अत्यधिक आधुनिक एव बुद्धिजीवी दिखाना आज का एक फशन बन गया है। जो अपने-आपको आधुनिक दिखाने का प्रयास करेगा, उसके लिये यह भी सहज होगा कि वह पुराणपन्थी नही होने का दिखावा करे। हमारे जीवन की अधिकाश सामाजिक रीति-नीतियाँ पुरातन रूढ मान्यताओं के आधार पर ही चलती हैं। हम उन सभी मान्यताओ को विवाह-त्यौहार आदि के प्रसगो पर भयकर आडम्बरो के माध्यम से पोषित करते हैं। उन गलत एव अपव्ययकारी परम्पराओ मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की कल्पना तक नही की जाती है। किन्तु धर्म के शाश्वत सिद्धान्त का क्रान्ति के बहाने से बदलने का प्रयास किया जाता है। यह भी एकागी भौतिकी बुद्धि का दुरुपयोग मात्र है।

युवको को सर्वप्रथम अपने जीवन के प्रति सजग होना चाहिये। किन्तु वे उस विषय मे उतने ही प्रमत्त दिखाई देते हैं। आज युवा वर्ग भौतिक वातावरण मे इतना आप्लावित हो गया है कि उसकी दृष्टि एकदम एकागी बन गई है। आज का उनका लक्ष्य ही भौतिक समृद्धि है। इन्द्रियाकर्षी पदार्थों एव तडक-भडक के साधनो मे इतनी अधिक रुचि उत्पन्न होती जा रही है कि जीवन का कोई आध्यात्मिक पहलू भी है, इसे वे सोच ही नही पाते हैं। जहाँ कही अपनी समवयस्क सोसायटियो मे बैठेंगे, प्रसाधन, चलचित्र एव उपन्यास आदि की ही चर्चा करेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि युवको मे धार्मिक असतोष का कोई एक कारण नही है। वातावरण, अभिभावको की कथनी एव करनी मे असमानता एव धर्म के नव्य-भव्य वैज्ञानिक शैली मे प्रतिपादन का अभाव आदि कई कारण हैं।

प्रश्न का दूसरा पक्ष है कि उक्त असतोष का समाधान क्या हो ? वैसे तो उपर्युक्त विवेचन मे असतोष के जिन मूल कारणो को स्पष्ट किया गया है, उन कारणो को समाप्त कर देने से असतोष अपने आप समाप्त हो सकता है, तथापि सक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि प्रथम तो ऐसा वायुमण्डल निर्मित किया जाये कि युवक स्वय यह समझने का प्रयास करे कि जिस भौतिक चका-

चौंध में वे जी रहे है, जीवन का लक्ष्य उतना भर ही नही है। जीवन बहुत मूल्यवान है और किसी महान् शक्ति-सत्ता की उपलब्धि के लिये प्राप्त हुआ है। यह जीवन अनन्त सभावनाओ का छिपा हुआ कोष है। हम जीवन के आध्यात्मिक मूल्यो को भी समझने और तद् द्वारा अदृश्य सत्ता से साक्षात्कार करने का प्रयत्न करे। यदि इतना न भी कर पाये, तो कम-से-कम जीवन को नैतिक धरातल पर तो पूर्ण रूपेण प्रतिष्ठित करे।

मैं सोचता हूँ इतनी सी समझ का उद्भव युवको के मानस में हो जाये, तो वे निश्चित अपने-आपको उस रूप मे ढालने का प्रयास करेगे जब तक युवा वर्ग के समक्ष कोई रचनात्मक कार्य नही आते है, तभी तक वे भटकते हैं। अत आवश्यकता इस बात की भी है कि युवको के समक्ष कुछ आध्यात्मिक रचनात्मक कार्य रखे जाये और वे यह समझने लगे कि जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये इन कृत्यो की भी आवश्यकता है।

जब जीवन-निर्माणकारी सुन्दर कार्यो का एक मार्ग उन्हे मिल जाता है तो फिर अन्यान्य असत्कार्यों के लिये उनके पास अवकाश ही नही बचेगा। परिणामत उनकी सोसायटी और तत्सम्बन्धी वातावरण भी अपने आप बदल जाएँगे।

समाज एव राष्ट्र के कर्णधार एम० पी० एव एम० एल० ए० (लोक सभा एव विधान सभा सदस्य), आदि अग्रगण्यो का यह पुनीत कर्तव्य हो जाता है कि वे जीवन निर्माणकारी वातावरण बनाने के लिये अश्लील एव अनैतिकतापूर्ण साहित्य एव सिनेमा आदि पर वैधानिक प्रतिबन्ध लगाएँ। कानूनी प्रतिबन्ध के साथ ही अध्यात्म स्तर के मनोरजन के साधन भी प्रस्तुत किये जा सकते है जिससे सुन्दर वातावरण के निर्माण के साथ ही प्रत्येक युवक के मानस में अध्यात्म के प्रति जागरण उत्पन्न हो।

साथ ही अभिभावक भी अपनी कथनी एव करनी को एक नही कर पाएँ, तो कम-से-कम अपनी उस कमजोरी को तो सरलतापूर्वक स्वीकार करें कि मैं धार्मिक नियमो के अनुसार नही चल पा रहा हूँ। तुम मेरा अनुकरण नही करके अपने जीवन को व्यवस्थित बनाओ। मेरा धार्मिक अध्ययन भी विशेष नही है। अत तुम अपनी जिज्ञासाओ का समाधान विद्वान् मुनियो के पास जाकर प्राप्त करो। और इसी प्रकार श्रमण परम्परा भी अपने पुनीत दायित्व को समझ कर अपने अध्ययन क्षेत्र को कुछ विस्तृत बनावे और युवको की जिज्ञासाओं का वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य मे समाधान दे, तो कुछ हद तक युवको का धार्मिक असतोष समाप्त हो सकता है।

यदि दस पाँच युवको मे भी ऐसी जागृति का सचार हो सके, तो वे अपने अनेक साथियो पर प्रभाव अकित कर सकते हैं और व्यक्ति से समाज और समाज से राष्ट्र एव इस प्रकार विश्व का समस्त युवा जगत् अपनी अमूल्य जीवनी-शक्ति को सही दिशा प्रदान कर सर्जनात्मक अध्यात्म की ओर उन्मुख हो सकता है।

चूँकि राष्ट्र एव समाज का दायित्व-भार युवको के सशक्त कधो पर ही आने वाला होता है, अत युवा वर्ग अध्यात्मनिष्ठा, नैतिक एव चरित्र सम्पन्न होगा, तो आने वाली पीढी ही नही, समूचा देश एव विश्व, अध्यात्म, नैतिक निष्ठा एव चरित्र उत्थान की ओर करवट ले सकता है।

प्रश्न–६

आपने साधना-मार्ग मे निर्ग्रन्थ श्रमरण-सस्कृति का ही अनुसरण क्यों किया ? उसके द्वारा क्या उपलब्धियाँ हुईं ?

उत्तर

साधना का मार्ग जीवन के चरम विकास का मार्ग है। इसमे मानवीय तन की सर्वोच्च सत्ता के साक्षात्कार का उद्देश्य होता है। अत· जीवन की सर्वोच्च उपलब्धि के मार्ग का चयन उतनी गहरी खोज एव तर्क-निष्ठ प्रज्ञा के द्वारा होना चाहिये। लक्ष्य किंवा ध्येय का अर्थ ही है कि उसके प्रति सम्पूर्ण रूप से समर्पण हो जाये। साधना का मार्ग भी सम्पूर्ण समर्पणा का मार्ग है। जिस मार्ग का हम चयन करते हैं, उसमे सर्वतोभावेन समर्पित होना होता है। एक बार यदि मार्ग के निर्धारण मे गलती रह जाए, तो हमारी समर्पणा ही विपरीत हो जाएगी और हम गन्तव्य की विपरीत दिशा मे ही बढते चले जाएँगे। अत जीवन के सर्वांगीण विकास के लक्ष्य-निर्धारिण मे गम्भीर चिन्तन की आवश्यकता होती है। साथ ही पथ-प्रदर्शक एव समीचीन साधना के प्रति सत्प्रेरक भी साधना की उच्च कोटि पर प्रतिष्ठित महापुरुष होना चाहिये।

जिस समय मैंने साधना-पथ का निर्धारण किया, यद्यपि उतनी गहरी तर्क-पटु प्रज्ञा मुझ मे नही थी, अपनी सामान्य बुद्धि के आधार पर मैंने तत्कालीन सामान्य जन-चेतना को प्रभावित करने वाले अनेक मत-पथ एव धार्मिक सम्प्रदायो का परिचय प्राप्त किया। मैंने उन्हे निकट से पहचानने का प्रयास किया। उनमे से कुछ मे मैंने पाया कि वहाँ साधना की सम्यग् दिशा का अभाव है, केवल कुछ रूढ़ एव विपथगामी अवधारणाओ के आधार पर अपनी साम्प्रदायिक परम्पराओ का पोषण किया जा रहा है। कुछ साधना-पथ, राग-

-द्वेष की तीव्र ग्रन्थियो से आवेष्टित है। कुछ साधना-मार्ग अधूरे, अवैज्ञानिक, असस्कारित एव मानवीय-सभ्यता से भी विपरीत दिखाई देते है।

मैंने यथाशक्ति-यथासाध्य उनका सम्यग् विश्लेषण करने का प्रयास किया, तो पाया कि जो साधना-पथ स्वय राग-द्वेष की जटिल ग्रन्थियो से परिवेष्टित है, वह सम्यग् दिग्बोधक नही हो सकता है तथा उसका अनुसरण साधना-मार्ग को समुज्ज्वल नही बना सकता है। जीवन की बहुमूल्य उपलब्धि के लिये आवश्यक है कि जिस पथ का अनुगमन किया जाए, वह जीवन-गत जटिल राग-द्वेषात्मक ग्रन्थियो को तोडने मे सक्षम हो और वह मुझे निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति की पुनीत छाया मे दिखाई दिया। जिस सस्कृति का नाम ही निर्ग्रन्थ (ग्रन्थि-रहित) है वह निश्चित ही राग-द्वेष की ग्रन्थियो को तोडने मे सहयोगी बन सकती है। इसी चिन्तन के आधार पर मैंने अपना मार्ग निर्धारित किया। तत्कालीन साम्प्रदायिक मान्यताओ एव साधना-पद्धतियो की भी बहुआयामी विस्तृत जानकारी के पश्चात् अपने लक्ष्य का चयन किया था और आज मुझे अपने उस चयन पर सात्विक गर्व है। मार्ग चयन के पश्चात् विभिन्न दर्शनो एव साधना-प्रणालियो का मैंने सूक्ष्म अध्ययन किया और पाया कि मेरा चयन अपनी उस समय की बुद्धि के अनुसार भी बहुत सुन्दर हुआ था।

निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति जीवन के सर्वांगीण विकास के लिये सर्वोत्तम सस्कृति है। मेरा ध्रुव विश्वास है कि इस सस्कृति की आराधना एव उपासना-पद्धति से मैं अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त कर सकूँगा।

प्रश्न का उत्तरार्ध कुछ अपने मौलिक उत्तर के लिये असमन्जस मे डाल देता है। साधना पथ की उपलब्धियाँ अदृश्य उपलब्धियाँ होती है। उन्हे भौतिक शब्द-श्रृ खला मे आबद्ध नही किया जा सकता है। अनुभूतिगत तत्त्व का साक्षात्कार अनुभूति के आलोक से ही किया जा सकता है तथापि शब्दो के माध्यम से उन उपलब्धियो के सकेत मात्र दिये जा सकते हैं।

साधना-पथ पर पद-चरण करने से पूर्व की स्थिति पर चिन्तन करे, तो अन्धकार और प्रकाश सा अन्तर परिलक्षित होता है। पूर्व का वह ग्रामीण जीवन अज्ञानता, काषायिक प्रचण्डता एव राग-द्वेष की परिणतियो से सव्याप्त जीवन था। ममत्व की गहरी श्रृ खला जीवन के चारो ओर जकडी हुई थी, सामान्य से तुच्छ स्वार्थ मे सम्पूर्ण जीवन उलझा हुआ था।

सक्षेप मे कहूँ तो अज्ञान-अन्धकार मे एव विषमता के दल-दल मे पूरा जीवन फसा हुआ था। सयोगत कहे या और कुछ निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति की शात क्रान्ति के जन्मदाता अनन्त आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री गणेशीलालजी

म० सा० का सान्निध्य एव निर्ग्रन्थ श्रमण-सस्कृति की पुनीत छाया मिली और जीवन कुछ व्यवस्थित रूप से गतिशील बना । साधना-मार्ग मे जितनी गति हुई, मुझे उससे आशिक सन्तोप हुआ है, पूर्ण नही । ऐतिहासिक महापुरुपो के जीवन चित्रो पर जब भी चिन्तन चलता है, लगता है, अभी तो सागर मे बूँद जितना भी विकास नही हो पाया है । भावना सदा यही बनी रहती है कि किन्चित् मात्र भी प्रमाद न बने, आत्मा नित नूतन उपलब्धियो के द्वार उद्घाटित करती जाए और एक दिन अपने परम एव चरम लक्ष्य को प्राप्त कर सके ।

इस प्रश्न का उत्तर प्रसगत सक्षिप्त ही दिया जा सकता है, क्योकि अपने आप पर कुछ बोल पाना बहुत कठिन है ।

• • •

चिन्तन कण

चिन्तन-कण

चिन्तन मानवीय जीवन की सर्वतो महत् उपलब्धि है। इसी के आधार पर मानव ससार का सर्वश्रेष्ठ प्राणी कहा जाता है। विश्व के समस्त प्राणियो मे मानव मे ही वह चिन्तन की क्षमता है, जिसके माध्यम से वह परम निश्रेयस की ओर गतिशील हो सकता है।

सामान्यत. चिन्तन प्रशस्त एव अप्रशस्त उभयमुखी होता है तथापि चिन्तन शब्द ऊर्ध्वमुखी विचारो के अर्थ मे रूढ-सा हो गया है। अतएव तत्त्व-द्रष्टा मनीषियो के लिए 'चिन्तक' विशेषण का प्रयोग किया जाता है। सही अर्थो मे चिन्तन मनीषा का ही एक कार्य है, जो मनस् की आन्तरिक स्थिति को अभिव्यजित करता है।

साधनागत ऊर्ध्वमुखी चेतनाओ का चिन्तन सामान्य साधको को दिग्बोध तो देता ही है उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को भी अभिव्यक्ति प्रदान करता है। आत्मोन्मुखी साधक की मन स्थिति साधना की ऊँचाइयो के सस्पर्शन मे किन-किन स्थितियो से गुजरती है, कहाँ-कहाँ व्यवधान उपस्थिति होते हैं तथा व्यवधानो के प्रतिरोधात्मक उपायो का सर्जन कैसे होता है, आदि विषयो का सम्यगवबोध प्राप्त होता है युग प्रचेताओ के चिन्तन-कणो से।

यह बताया जा चुका है कि आचार्य प्रवर एक आध्यात्मिक योगी युग पुरुष है। उनके विविध आयामी व्यक्तित्व को पूर्व पृष्ठो मे विविध दृष्टि-बिन्दुओ से समझने का प्रयास किया गया है। इसी परिप्रेक्ष्य मे उनके मननशील आन्तरिक व्यक्तित्व के परिबोध हेतु इस प्रकरण मे कुछ चिन्तनकणो को प्रस्तुत किया जा रहा है।

ये चिन्तन-कण आचार्यश्री के ऊर्ध्वमुखी चिन्तनशील मानस के परिचायक है। आचार्यश्री अपने शैशव से ही चिन्तन के आदी रहे हैं, किन्तु साधना के असिपथ पर पद-चरण के पश्चात् तो आपका सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही चिन्तन प्रधान हो गया। उन्ही चिन्तन के अमूल्य क्षणो को यदा-कदा अवकाश मिलने पर आप शब्दबद्ध करते रहे हैं। यह मेरा वैयक्तिक प्रत्यक्षीकृत अनुभव है कि जब-जब भी आचार्य प्रवर को एकान्त मे क्षण मिलते, आपकी मुख-मुद्रा चिन्तन प्रधान बन जाती, आपका मानस अनन्त गहराइयो के अन्वेषण मे खो जाता।

अगणित वार ऐसे भावपूर्ण प्रसग बनते, किन्तु कुछ ही प्रसग ऐसे वनते जव हम शिष्यो मे से यदि किसी ने तत्काल कलम-डायरी समक्ष कर दी, तो वह अमूल्य निधि नवनीत के रूप मे हस्तगत हो जाती ।

उन्ही चिन्तन-कणो मे से कुछ चिन्तन-कण प्रस्तुत हैं, जिनके माध्यम से हम आचार्य प्रवर के चिन्तक मानस से परिचित होने का प्रयास करेगे तथा उनकी उपयोगिता को आत्मसात कर जीवन को चिन्तन की एक स्वस्थ दिशा प्रदान करेगे ।

आत्मवत् दृष्टि

आत्मन् ! जैसा तुम वनना पसन्द करते हो, वैसा ही प्रत्येक व्यक्ति को देखो । तुम ईश्वर वनना चाहो तो हर व्यक्ति को ईश्वर के रूप मे देखो । तुम्हारे साथ कोई नीचता का व्यवहार करता है, तो तुम उसकी नीचता को, नीचता रूप को मत देखो, अपितु उसको विकास की शक्ति के रूप मे देखो । कोई अच्छा कहे या बुरा कहे, इसका खयाल मत करो, वल्कि पवित्र हृदय क्या कहता है, उस पर विशेष ध्यान दो ।

प्रभावक शब्द

स्वच्छ मन एव शात मस्तिष्क से प्रकट किये गये विचार अमूल्य एव कल्याणप्रद होते है । स्वानुभूतिपूर्वक प्रयुक्त सीधे सादे वाक्य जितने असरकारक होते हैं, उतने इधर-उधर के लिए हुए पाडित्यपूर्ण वाक्य नही । वचन एक दर्पण है । चतुर पुरुष वचनो के अन्दर इसान का आतरिक प्रतिविम्व देख सकते हैं ।

निष्काम कर्म

धैर्य कभी नही छोडना चाहिये । कर्त्तव्यनिष्ठा से सत्यकर्म करने वाले को आपत्तियाँ आने पर भी सफलता अवश्य मिलती है। निष्काम भाव से कर्त्तव्य पालन करने वाले को सर्वतोमुखी फल अवश्य मिलता है, जिससे वह उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है ।

अमुक कार्य करूँ, पर मेरे पास साधन नही हैं ऐसा चिन्तन उसके मन की अपरिपक्वता का द्योतक है । अगर वह सच्चे दिल से उस कार्य मे लग जाय तो सभी प्रकार के साधन, मिठास पर चीटियो की तरह सहज ही उसके पास आ जायेंगे ।

आत्मावलोकन

हे आत्मन् ! सारा ससार भी यदि तुम्हारी निन्दा, भर्त्सना व तिरस्कार

करे, तो तू लेशमात्र भी उत्तेजना व उदासीनता मत ला, बल्कि इसके विपरीत तू यह चिन्तन कर कि यह सब किस कारण से हो रहा है ? अगर उसमे कोई वास्तविक कारण मालूम हो जाय, तो उसको दूर करने की कोशिश कर और अपनी निन्दा आदि को सहायक रूप मे देख ।

प्रशसा

प्रशसा जहरीले सर्प के समान है । अगर इसका विष तुझे चढ गया तो तू नष्ट हो जायेगा ।

जीवन का मूल

ब्रह्मचर्य जीवन का मूल है । इसी से जीवन की सारी रौनक है । आधुनिकता के भुलावे मे आकर इसकी उपेक्षा नही करनी चाहिये । इसकी उपेक्षा करना सारे जीवन की महत्ता को तिलाजलि देना है ।

आवेश

आवेश दिल की कमजोरी का सूचक है । आवेश मे आकर किया जाने वाला कार्य त्रुटिपूर्ण होता है । अत. सत्यान्वेषक को आवेश से दूर रहना चाहिए ।

सच्चा प्रेम

जिस प्रेम से शक्ति का संचय होता है, वही वस्तुत: सच्चा प्रेम है । जिससे शक्ति का नाश होता है, वह प्रेम नही है ।

मृत्यु प्रत्येक देहधारी की वृत्ति है । इस पर विजय पाना मृत्यु को परास्त करना है ।

मानसिक स्नान

मनुष्य प्रात काल उठकर पानी से स्नान करता है । उससे जीवन मे कुछ स्फूर्ति आती है । मगर उसी समय विचारो से मानसिक स्नान कर लिया जाय तो चिरस्थायी जीवन-विकास की स्फूर्ति प्राप्त हो सकती है ।

कृत्रिमता बनाम स्वाभाविकता

कृत्रिमता देखने मे सुन्दर मालूम होने पर भी अहितकर होती है । स्वाभाविकता देखने मे अच्छी मालूम न होने पर भी हितकर होती है ।

किसी अभिलाषा से किसी की प्रशसा करना इसानियत से गिरना है ।

दुनिया के पीछे चलने वाला प्राणी अपना विकास नही कर सकता है। उसका जीवन अनुकरणीय नही होता है।

पाठ्यक्रम : एक विश्लेषण

पैनी निगाह से देखा जाय तो वर्तमान प्रचलित परीक्षोपयोगी साहित्य साम्प्रदायिक मनोवृत्ति से ओतप्रोत ही मिलेगा। ऐसे साहित्य से विद्यार्थी विकास की प्रकाशमय किरणो को छोड़कर अन्धकार मे ही भटकता रहता है, क्योकि वह बचपन मे ही अन्ध परम्परा की कोल्हू का बैल बना दिया जाता है। फिर वह आगे कैसे बढ सकता है ?

रूढ़ि तोड़ना - साहस कार्य

रूढि पूर्ण विनाशकारी परम्पराओ को सामान्य मनुष्य नही हटा सकता। उसे हटाने मे वास्तविक ज्ञान व साहस की अत्यधिक आवश्यकता होती है।

अनुवादित पदार्थों का उतना महत्त्व नही जितना आविष्कृत पदार्थों का है।

आत्म साक्षी

दुनिया क्या देख रही है, इस पर विचार मत करो। तुम क्या देख रहे हो, इसी का विचार करो। 'इस काम से दुनिया क्या कहेगी' यह न सोचकर मेरी पवित्रात्मा क्या कहेगी, यह सोचो।

सफलता की सीढ़ी

अतीत अवस्था का स्मरण, वर्तमान का अनुभव, भविष्य का चित्रण सामने रखकर प्रवृत्ति करने वाला व्यक्ति जीवन मे हमेशा सफलता का अनुभव करता है।

नेत्र-प्रेम और नेत्र-मोह

नेत्र-प्रेम और नेत्र-मोह, दोनो मे महान् अन्तर है। नेत्र-प्रेम भ्रातृ-भाव और विश्व-वात्सल्य से ओत-प्रोत होता है। जबकि नेत्र-मोह व्यक्ति-भाव, शत्रु-भाव और वैयक्तिक वात्सल्य से। पहला मित्र है—आगे बढाने वाला है और दूसरा है—नीचे गिराने वाला।

व्यक्ति स्वातन्त्र्य

व्यक्ति-स्वातन्त्र्य जीवन का स्वाभाविक अधिकार है। इस पर प्रतिबन्ध कही पर नही होना चाहिये, मगर समाज के सामान्य नियमो से व्यक्ति को

अलग भी नही होना चाहिये । व्यक्ति-समूह ही समाज है । विकास व साधन की दृष्टि से उसकी परम आवश्यकता है, मगर वह प्रामाणिक व्यक्तियो का समाज हो । प्रामाणिकता सद्‌आचरण से आ सकती है, कहने मात्र से नही ।

प्रभावक उपदेश

जो व्यापार के तौर पर उपदेश देता है, वह उसे जीवन मे बहुत कम उतारता है, क्योकि उसका लक्ष्य उपदेश द्वारा यश अथवा सम्पत्ति कमाना होता है जो व्यापार के तौर पर नही, अपितु स्वानुभूति को जिज्ञासुओ के समक्ष रखता है, वह अपने जीवन मे अधिक आचरण करने वाला होता है, क्योकि उसका लक्ष्य जीवन सुधार का होता है, न कि प्रशसा प्राप्ति का ।

पशु बनाम मानव

पशु-पक्षियो मे भी समाज-व्यवस्था देखी जाती है । उनमे किसी को अपराध करने पर सामूहिक या व्यक्तिगत दड मिलता है । पशु-पक्षियो मे जैसे भी अनुकूल या प्रतिकूल साधन होते है, उसका वे यथावसर उपयोग करते हैं । जब कभी विजातीय आक्रमण होता है, तो स्वजातीय अपराधो को गौण कर वे सामूहिक एकता से प्रत्याक्रमण करते हैं । उनमे भी साम्राज्यवाद वृत्ति और समाजवाद वृत्ति दोनो ही पाई जाती है । अनुशासन-व्यवस्था इनमे अच्छी होती है । उनमे ईमानदारी अधिक होती है, बेईमानी बहुत कम । उनमे प्रेम और मुग्धता भी अपेक्षाकृत अच्छी होती है । उनकी अपनी साकेतिक भाषा होती है । आज का मानव जरा तुलना करे अपने आपकी उनसे ।

मानापमान

सुख और सम्मान के लिए लालायित मत रहो । अपमान और दु ख से दूर मत भागो । जहाँ अपमान होता हो, चित्त को दु ख और सक्लेश पैदा करने वाले उत्तेजनात्मक वर्ताव हो, वहाँ तुम जाओ और अपने मन-मस्तिष्क की परीक्षा करो कि ऐसी अवस्था मे तुम्हारा मस्तिष्क कितना शात रहता है, तुम्हारे मन मे कितनी पवित्रता बनी रहती है । उस समय यदि तुम्हारा मस्तिष्क शात रहे, मन मे अपवित्रता न आये और कर्त्तव्य कर्म पर मजबूत रह सको तो समझ लो कि तुमने कुछ इसानियत प्राप्त की है ।

परिवर्तन प्रगति का प्रतीक

देश, काल, ऋतु के परिवर्तन के साथ वातावरण और वायुमण्डल का भी परिवर्तन होता है । इसके साथ जो इसान अपने जीवन का परिवर्तन करता रहता है, वह सदा विजयी रहता है और जो सभी अवस्थाओ मे समयानुसार

परिवर्तन करने मे असमर्थ रहता है, वह सदा पश्चात्ताप करता हुआ ह्रास की ओर अग्रसर होता है, प्रगति की ओर नही।

सन्त जीवन . निष्पक्ष दृष्टि

वह मेरा सत्कार करेगा, मुझे नमस्कार करेगा, मेरी प्रशसा करेगा, अत. मैं उसे प्रेम की दृष्टि से देखूँ, मधुर शब्दो से वातचीत करूँ--जो ऐसा विचार कर, ऐसा ही आचरण करता है और अपने आपको महात्मा समझता है, तो यह उसका आत्म-पतन है। वह व्यर्थ मे समय और शक्ति बर्बाद करता है। महात्मा का प्रेम निष्काम और निर्मल होता है। वह किसी आकाक्षा से किसी को नही देखता न मधुर शब्दो मे वार्तालाप ही करता है। उसकी दृष्टि सहज स्वाभाविक रूप से किसी पर पड जाती है, तो उसको आत्मीय रूप से देख लेता है फिर वह प्राणी कोई भी हो। उसकी दृष्टि मे जाति का, ऊँच-नीच का, पापी-धर्मी का भेदभाव व घृणा नही होती है। वह प्राणी-हित की दृष्टि से समय आने पर सभी से वातचीत करेगा। विना अवसर किसी से बातचीत नही करेगा। उसकी समय-शक्ति व्यर्थ नही जाती। वह मनुष्यो की निगाह से अपने को नही देखता अपितु स्वय की पवित्र निगाह से अपने आपको देखता है।

प्रेम बनाम मोह

आज का मानव समाज प्राय गुलाम मनोवृत्ति से चल रहा है। रूढ़ि तथा परम्परा मानव-जीवन की सगिनी बन गई है। बुद्धि काम-सम्राट् के किले मे वन्द-सी मालूम होती है। साहित्यकार, कलाकार, अध्यापक, पत्र-सम्पादक आदि मे से अधिकाश लोगो ने अपने जीवन का चरम लक्ष्य प्रेम के नाम पर मोह का सम्पादन ही मान रखा है। उनको वही साहित्य, वही कला, वही कहानी, वही समालोचना पसन्द आयेगी जिसमे पशु वृत्ति से भी निंदित प्रणय-प्रसगो का रोचक वृत्तात पाया जाता हो। इस वृत्तात का जो व्यक्ति अधिक रोचक ढग से सम्पादन करता है, उसी को सर्वश्रेष्ठ साहित्यकार माना जाता है। पुरस्कार भी उसी को अधिक मिलता है। वह युग का सृष्टा समझा जाने लगता है। ऐसी अवस्था मे कौन व्यक्ति ऐसे श्रेष्ठ पद को पाने हेतु लालायित नही होगा ? प्रत्येक व्यक्ति येन-केन-प्रकारेण इसी पद को पाने के लिए आकाश मे उडने की कोशिश करता है। वैसा ही साहित्य, वैसी ही गोष्ठी, वैसी ही सोसायटी और वैसे ही वायुमडल मे वह अपने को धन्य समझता है। उसकी बुद्धि उसी दायरे के अन्दर चक्कर काटती है। उस घेरे से वाहर रह जाने पर वह अपने को अभागा, पुण्य-हीन समझता है और यह दावा करता है कि मैं विकास कर रहा हूँ। यही अवस्था अधिकाश व्यष्टि एव समष्टि मे वनी हुई है। इसको आधुनिक मानव-समाज की गुलामी न कहे तो क्या कहे ?

आत्म-गर्व

आत्म-गर्व विकास के लिये होना चाहिये न कि दूसरो को नीचा दिखाने के लिये ।

प्रत्येक कार्य मे स्वावलम्बी एव स्वतत्र इसान ही कुछ कर सकता है ।

जनहितकारी मौलिक विचार ही सच्चे रूप मे जनता का प्रतिनिधित्व कर सकते है ।

जय-विजय-विचार-विमर्श में

हार-जीत की दृष्टि से किया हुआ विचार-विमर्श कभी भी निर्दोप नही हो सकता, क्योकि उसमे बुद्धि स्वच्छ एव निष्पक्ष नही रह सकती ।

जिस विचार से हिंसक वृत्ति की प्रधानता का उद्गम होने लगता है, वह विचार इसानियत के विपरीत है ।

मन की आकर्षण शक्ति

मन का अन्तर्जगत् के साथ सम्बन्ध है । जिस मन मे जितना अधिक आकर्षण होगा, उतना ही वह अन्तर्जगत को अपनी ओर आकर्पित कर सकेगा । आकर्षण शक्ति किसी-किसी मे नैसर्गिक होती है पर उसको अधिक महत्त्व नही दिया जा सकता, क्योकि वह रह भी सकती है और चली भी जाती है । अत ज्ञान-पूर्वक प्राप्त की गई आकर्षण शक्ति को ही अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये, क्योकि वह स्वाधीन होती है ।

बीती ताहि बिसार दे

जो बात बीत चुकी, उसका स्मरण कर ग्लानि लाने की आवश्यकता नही, किन्तु नवीन उत्साह पैदा करने की जरूरत है । वास्तविक लक्ष्य मे तन्मय होकर कर्त्तव्य कार्य मे लग जाने पर कोई कार्य असाध्य नही । व्यतीत अवस्था से भी अच्छी अवस्था प्राप्त की जा सकती है । प्रकृति के अन्दर सभी शक्तियाँ विद्यमान हैं । इसका स्वभाव ही बुराई को दूर कर अच्छाई की ओर ले जाना है । यह किसी प्रकार की बुराई को सहन नही करती है, उसे साफ करने की कोशिश करती है ।

वैचारिक प्रभाव

वायुमडल के अन्दर भी सघर्षमय वातावरण विद्यमान रहता है । जिस स्थान मे जिस विचारधारा का प्रावल्य होगा उसकी ही विजय होगी । अपनी

वात मनवाने के पहले वायुमडल को शुद्ध करो, फिर जिन विचारो को तुम श्रेष्ठ समझते हो और यदि ये वास्तविक रूप से जनहितकारी एव कल्याणप्रद हैं, तो निष्काम भाव से दुनिया के सामने रख दो। वे विचार शीघ्रातिशीघ्र कार्य रूप मे परिणत हो जायेंगे।

तुम प्रसन्नचित्त रहो, चिन्ता करने की आवश्यकता नही, किन्तु स्वय अपने जीवन मे जिन-जिन बातो की त्रुटियाँ या कमजोरियाँ अनुभव करो उनको शीघ्रातिशीघ्र दृढ सकल्प के साथ दूर कर दो। फिर तुमको कभी किसी विफलता के दर्शन नही होगे।

महात्मा

सच्चे महात्मा कभी अपने आपको प्रकट नही करते, मान-प्रतिष्ठा एव पूजा के लिये कभी अपनी जिह्वा को नही हिलाते और न मन मे ही इस प्रकार का सकल्प आने देते हैं। उनका ध्यान सदा वास्तविक कर्त्तव्य-कर्म मे रहता है। वे मान और अपमान, मित्र और शत्रु, सुख और दु ख, प्रिय एव अप्रिय को अपने निर्विकार मन-मस्तिष्क के परीक्षण के रूप मे देखते हैं। उनके प्रति अनुराग या द्वेष कभी नही लाते, वे सदा प्रसन्नचित्त रहते हैं।

आत्म-प्रवचना

मैं यदि किसी से चालाकी से वात करता हूँ और मन मे यह समझता हूँ कि मैं बडा चतुर हूँ—उसको चकमा दिया कि वह समझ भी नही सका, यह मेरा भ्रम है, आत्म प्रवचना है और मूर्खता का नमूना है। वह ऊपर से किसी कारणवश न समझ पाया हो, किन्तु उसकी अन्तरात्मा पर मेरे कुटिल भावो की छाप अवश्य पडेगी, वह समय पाकर प्रतिक्रिया के रूप मे सामने आयेगी और उससे वायुमडल दूषित होगा, जो कि मेरे और विश्व के लिये अहितकर है। अतएव जीवन मे प्रत्येक वात का ध्यान रखना चाहिये और ऐसा ही कार्य करना चाहिये जिससे किसी का अहित न हो।

प्रगति-पथ

बहते पानी की तरह अभ्यस्त विचारधाराओ को रोककर अनभ्यस्त नवीन मार्ग की ओर ले जाना प्रगति का चिह्न है। अभ्यस्त मार्ग से तो अधा, बहरा, मूर्ख और सामान्य बुद्धि के अन्य प्राणी भी यत्रवत चलते ही हैं, उसमे कोई विशेषता नही। अभ्यस्त मार्ग पर आपत्तियाँ नही के समान आती हैं, मगर अनभ्यस्त मार्ग से चलने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं और वे अस्वाभाविक-सी भी मालूम होती है। किन्तु जो विवेकपूर्वक उनका सामना करता हुआ आगे बढ़ता रहता है, वह अवश्य सफल हो सकता है। वही वस्तुत: प्रगति कही जा सकती है।

प्रगतिशील पुरुष

जो केवल एक ही अवस्था मे रहता है वह वास्तविक अनुभव के विना प्रगति नही कर सकता। जब तक विविध विपरीत परिस्थितियो का सामना होने पर उनमे क्षीर-नीर की तरह सावधानीपूर्वक विश्लेषण कर गुणावगुण का निर्णय नही किया जाता, तब तक वही अवस्था रहती है।

बीज-रक्षण

जिस सद्विचार धारा का बीज-वपन करते हो, उसको सावधानी के साथ विकसित एव प्रफुल्लित करो। उसके अनुकूल वायुमडल से उसका सिंचन करो। उसकी देखरेख पूर्ण शक्ति के साथ तब तक करो जब तक कि वह परिपक्व एव मजबूत न बन जाय, अन्यथा उसकी विपरीत विचारधाराये उसको समाप्त कर देंगी।

सफलता बनाम भाग्य

कुछ व्यक्ति यह कहा करते हैं कि हमने अमुक कार्य के लिये बहुत प्रयत्न किये मगर उसमे सफलता नही मिली। क्या करे? हमारे भाग्य अच्छे नही हैं और जब तक भाग्य अनुकूल नही होता तब तक प्रयत्न करना व्यर्थ है। देखिये ना, पहले लोग मेरी इज्जत किया करते थे और अब मुझे घृणा की दृष्टि से देखते है। वही मैं हू, जो पहले था और वही मेरा कार्य है जो पहले था। फिर भी यह अवस्था जो हुई, यह सब भाग्य का चमत्कार है। पर ये सब बाते अतर का सूक्ष्म निरीक्षण नही होने से कही जाती है। वस्तुत देखा जाय तो विफलता का कारण अपनी वृत्तियो के प्रति सतत जागरूक नही रहना है। इन्सान कुछ भी सत्कार्य प्रारभ करता है उस समय उसकी उस कार्य मे तल्लीनता रहती है और उसी समय प्रारभिक सफलता की रौनक उसके सामने आती है। उस रौनक को देखकर वह अपने आप पर काबू नही रख सकता। वह यह अनुभव करने लगता है कि मैं ही ससार मे सब कुछ हूँ, मेरे सामने कौन व्यक्ति ठहर सकता है। मैं सभी दृष्टियो से परिपूर्ण हो चुका हूँ—आदि। ये ही विचार उसकी विफलता के कारण बनते हैं और उसी समय वह ह्रास की ओर चल पडता है।

सघर्ष और जीवन

जो मनुष्य सघर्ष से भय खाता है और उससे अलग अलग रहना चाहता है, वह अपनी कायरता को पुष्ट करता है। सघर्ष कोई बुरी वस्तु नही है, वह जीवन विकास का मुख्य साधन है। जिस जीवन मे सघर्ष नही, उसे जीवन नही कहा जा सकता। अनुकूल और प्रतिकूल दोनो सघर्षो के बीच निर्लेप, प्रसन्नता-

पूर्वक खेलने वाला व्यक्ति ही विकास की ओर बढ सकता है । हाँ, एकांगी संघर्ष से भी कुछ विकास हो सकता है, पर वह स्वेच्छापूर्वक नही कहा जा सकता ।

मुहूर्त की प्रतीक्षा

चिन्ता करने से कोई लाभ नही होता, बल्कि हानि ही होती है । अगर कुछ करना है तो प्रसन्नतापूर्वक उसमे लग जाना चाहिये । समय या मुहूर्त की अनावश्यक प्रतीक्षा नही करनी चाहिये । कार्यारम्भ का वही समय या मुहूर्त अति उत्तम है, जिस समय पूर्ण उत्साह हो । बिना उत्साह अच्छे मुहूर्त मे आरम्भ किया हुआ कार्य भी सफल नही हो पाता ।

क्षमायाचना बनाम दिखावा

जो पवित्र दिल से सदा सबका हित चाहता है, कभी भी किसी के प्रति दुर्भाव नही आने देता, और अगर कभी किसी के प्रति कोई दुर्भाव आ भी गया तो तुरन्त उनको दूर करने की शक्ति रखता है, उस व्यक्ति के लिये सदा ही क्षमायाचना का दिन समझना चाहिये, किन्तु जो व्यक्ति अधिकाश रूप से अपने दिल और दिमाग को बुरे विचारो मे रखता है और यही सोचा करता है कि मैं कैसे सबसे श्रेष्ठ कहलाऊँ और कैसे दूसरो को नीचा दिखाऊँ, प्राय इन्ही विचारो को कार्यान्वित करने के लिये बाह्य दिखावे के तौर पर नम्र बनता है या क्षमायाचना का उच्चारण करता है, वह क्षमायाचना के संवत्सरी पर्व को लजाता है एव कपट-क्रिया की वृद्धि भी करता है । ऐसे व्यक्ति आत्मशुद्धि से दूर रहते हैं ।

विश्व-कुटुम्ब

प्रत्येक इसान को नियमित रूप से एव व्यवस्थित रूप मे विश्व-हितकारी कुछ-न-कुछ कार्य करना चाहिये । बिना कुछ किये विश्व से सहायता लेना उचित नही कहा जा सकता । इसान को विश्व के पदार्थों से जो भी शारीरिक, मानसिक एव वाचिक शक्ति प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग तभी समझा जा सकता है जबकि इसान विश्व के लिये कुछ करता है । अगर वह ऐसा कुछ भी नही करता और व्यक्तिगत स्वार्थ मे ही इस शक्ति का व्यय करता है, तो वह विश्व मे दूसरो को कष्ट देने वाला एव कृतघ्न की श्रेणी मे आ जाता है ।

स्वयं को छलना

मनुष्य अपने स्वार्थ को छिपाने की कोशिश करता है । उसकी भावना यह रहती है कि ऊपर से मैं परमार्थ की बाते या परमार्थ के कार्य दिखलाऊँ ताकि लोग मुझे परमार्थी कहे और मेरा स्वार्थ भी सिद्ध हो जाय । मगर यह उसका भ्रम है । वह उन्ही लोगो को धोखा दे सकता है, जो विशेषज्ञ नही हैं । स्वार्थी व्यक्ति मे निर्भयवृत्ति का अभाव-सा रहता है । वह अपनी वृत्ति को छिपाने की

कितनी ही कोशिश क्यो न करे, मगर विवेकशील पुरुष के सामने वह छिपी नही रह सकती ।

उत्तेजना

किसी कार्य मे अति शीघ्र उत्तेजना आना अत्यधिक अपूर्णता का द्योतक है । ऐसे व्यक्ति हिताहित के सोचने मे असमर्थ रहते है । वे तात्कालिक फलाफल को देखकर अपनी शक्ति को पतगे की तरह झोक देते है । जो ऐसा नही करता है वह उनकी दृष्टि मे कायर या भीरू दिखाई पडता है । मगर जो दूरदर्शिता-पूर्वक कार्य करने मे तत्पर है, वह कायर और भीरू की श्रेणी मे नही आ सकता ।

वोट की ओट

आजकल राजधानी मे वोटो की प्रवृत्ति जोरो से चल रही है । वोट प्राप्त करने वाली प्रत्येक पार्टी वोटो के लिये भरसक प्रयत्न कर रही है । यह प्रयत्न सडको, रास्तो, पेम्पलेटो एव भाषणो तक ही सीमित नही रहा है किन्तु प्रत्येक घर मे, प्रत्येक वयस्क मनुष्य को साम-दाम-दड और भेद आदि का प्रयोग दिखा-कर भी चल रहा है । खडा होने वाला व्यक्ति चाहे अयोग्य या स्वार्थ की जघन्य भावना की साकार मूर्ति भी क्यो न हो, उसको भी सुयोग एव सत्पुरुष का चोला पहनाया जा रहा है । यह तरीका प्रजातत्र का नही, यह तो पू जीपति, साम्राज्यवादी एव कुटिलता का है । इससे प्रजातत्र उतना ही दूर है जितना कि घोर अधकार से देदीप्यमान प्रकाश । यह प्रवृत्ति दैविक नही है, राक्षसी है, जनता को अधकार मे ले जाने वाली है ।

इच्छा-निरोध

"इच्छाओ को रोकना जीवन को कुण्ठित करना है, विकास को रोकना है । उन्हे यथेष्ट प्रवृत्ति करने देना जीवन का विकास करना है ।" यह विचार विना मननपूर्वक गतानुगतिक लोकोक्ति को पुष्ट करता है । वस्तुत इच्छाओ की यथेष्ट प्रवृत्ति को रोके बिना अपूर्व जीवन प्राप्त नही किया जा सकता है । नदी का प्रवाह रोके बिना उससे बिजली पैदा नही की जा सकती । उसको रोकने मे कष्ट का सामना करना पडता है । इन्द्रियो की यथेष्ट प्रवृत्तियाँ रुकती है, तभी आत्म-साधना मे सफलता प्राप्त की जा सकती है । इच्छाओ को रोकने मे आतरिक सघर्ष अवश्य होता है, पर इस सघर्ष के विना जीवन मे बिजली (ऊर्जा) पैदा नही की जा सकती । हाँ, इसमे सतत जागरुकता की अत्यधिक आवश्यकता होती है ।

प्रगतिशीलता

प्रगतिशील पुरुष समय एव परिस्थिति को देखकर किसी कार्य विशेष पर

जोर दिया करते है। उनका कोई त्रैकालिक विशेष कार्य निश्चित नही होता। विशेष कार्य का निश्चय समय एव परिस्थिति पर बहुत कुछ आश्रित रहता है। इससे वे विश्व एव स्वय को बहुत आगे ले जा सकते है। मगर साधारण व्यक्ति इसे समझ नही पाते। वे तो प्रगतिशील पुरुषो के द्वारा निर्दिष्ट विशेष कार्य को ही सब कुछ मानकर बैठ जाते हैं। उनके लिये वही चरम सीमा हो जाती है। ऐसी स्थिति मे वे पीछे रह जाते है, आगे नही बढ सकते।

सत्य आचरण-असि धारा

सत्य समझना, उसको आचरण मे लाना तलवार की धार पर चलने के समान है। आवश्यक व्यावहारिक सत्य भी यदि प्रत्येक इन्सान पूर्णरूपेण आचरण मे उतार ले तो आज की बाह्य अशातिमय स्थिति का प्राय अन्त हो सकता है। मगर जब व्यावहारिक सत्य का अश भी अपनाने मे पूरा ध्यान नही जाता है तो फिर वास्तविक सत्य को कैसे प्राप्त कर सकते है? वह तो जीवन का पूर्ण विकसित स्वरूप है। व्यावहारिक सत्य को जीवन मे उतार कर ही उसकी ओर आगे बढा जा सकता है, क्योकि विकास क्रमश. होता है।

साधना का शत्रु —प्रमाद

साधना मे सबसे ज्यादा खतरनाक है—प्रमाद। वह अनेक रूपो मे प्राणी को फसा लेता है। उसके जाल को तोडकर जो हर समय नियमित कार्य मे लगा रहता है और शुद्ध अत करण की प्रेरणा को महत्त्व देता है, वह प्राय सफल होता है। उसके सामने खतरा या आपत्ति नाम की कोई शक्ति अधिक समय नही ठहर सकती।

जनतंत्र

आजकल राजनैतिक क्षेत्र मे जो हम देख रहे हैं, वह निष्प्राण कार्य हो रहा है। आज की लडाई महत्त्वकाक्षा और कुर्सियो की है, न कि जनतन्त्र की। जनतत्र मे लडने और गाली-गलोच की आवश्यकता नही। न राजतन्त्र और न दण्ड की आवश्यकता है, न गुट या पार्टीबाजी की जरूरत है जोर न जोर जबर-दस्ती से किसी पर आज्ञा चलाने की। आज का समय प्राचीन काल से बिल्कुल परिवर्तित-सा हो गया है। आज की मुख्य आवश्यकता उस विचार के इन्सानो की है जो वास्तविक कर्त्तव्य के प्रति हृदय परिवर्तन कर सकें।

सघर्ष वासनाओं का

अन्त करण मे अनन्त वासनायें छिपी हुई हैं। जिसका जिस समय प्रबल निमित्त आता है, उसी समय वह उभर पडती है। हर समय उन्ही वासनाओ का परस्पर सघर्ष एव विप्लव होता रहता है। अतएव अधिकाश मनुष्य जीवन की

वास्तविक झाकी नही देख सकते और उसके बिना जीवन का सही मार्ग नही मिल सकता। प्रशात एव निर्मल मन की स्थिति ही इसके साधन रूप मे सिद्ध हो सकती है।

शिक्षा : एक दृष्टि

नई तालीम दी जाय, मगर नई तालीम का नकशा वास्तविक शाति का हो। वुनियादी आवश्यकताओ के साधनो का विकेन्द्रीकरण होकर अन्न-वस्त्र आदि जरूरी चीजो मे स्वावलम्बी एव स्वतत्र हो जाय फिर भी जब तक प्रत्येक प्राणी एक-दूसरे का अग है, एक कुटुम्वी है, एक ही प्रकृति माता की सतान-सहोदर भाई है और उसके साथ मेरा वही कर्त्तव्य है जो कि स्वशरीर के साथ है, ऐसी विश्व व्यापी एकात्मीयता की शिक्षा नई तालीम के नक्शे मे नही रखी जायेगी तव तक वर्ग-विहीन, शोषण-विहीन एव शासन रहित स्थायी शाति नही हो सकती।

शासन : एक स्पष्टीकरण

शासन-रहितता से अभिप्राय उस शासन से है जो शासन शोषण या हिसा से मुक्त हो, जिसमे विचार स्वातन्त्र्य का दमन नही किया जाता हो। शासन इन्सानियत से वचित रखने वाला नही हो, वल्कि प्रेम या अहिंसा का शासन अवश्य हो। इसके विना प्रगति नही की जा सकती।

वातावरण का प्रभाव

समय और परिस्थिति के अनुसार इन्सान परिवर्तित होता है। उसके सामने जैसा वातावरण होता है वह उसी के अनुकूल अपने विचारो को ढालता है और प्रतिकूल वातावरण को समय-अनुसार बदलने की चेष्टा करता है। वह उसको परिवर्तित कर सकता है, किन्तु सर्वथा नष्ट नही कर पाता। यह सब मध्यम श्रेणी के विचारको की परिस्थिति है। मगर जो वस्तुत सत्य-शोधक एव विवेकशील पुरुष है, वह स्वय पवित्र अन्त करण को सामने रखकर निर्लिप्त, विशाल दृष्टि से नवीन वातावरण तैयार करता है। वह किसी प्रवाह या उत्तेजित वातावरण मे नही वहता किन्तु निश्चल धैर्य के साथ आगे वढता है।

उपयोग विचार-शक्ति का

विचार-शक्ति का सदुपयोग करना चाहिये, उसे व्यर्थ की वातो मे नष्ट नही करना चाहिये। यह एक ऐसा शस्त्र है जिसके सदुपयोग करने से स्वपर की रक्षा और दुरुपयोग से स्वपर का नाश होता है। अगर इन्सान यह सोचता है कि मेरी उन्नति मे अमुक व्यक्ति वाधक है, उसको कैसे हटाऊँ या उसका

कैसा खात्मा हो एव उसको दु ख और आपत्ति में गिराऊँ तो वह अपनी विचार-शक्ति का दुरुपयोग करता है। विचार-शक्ति का सदुपयोग करने वाला सोचता है कि मुझे आपत्ति मे डालने वाला कोई नही है। जो मेरी उन्नति मे बाधक दिखता है वह बाधक नही, साधक है। वह चारो ओर से विचारो को केन्द्रित कर सत्य के मार्ग मे गति और कर्त्तव्य को देखता है। अगर मेरी गति एव कर्त्तव्य निरन्तर रूप से जारी है तो विश्व का कोई भी पदार्थ मुझे रोक नही सकता, ऐसा सोचना विचारो का सदुपयोग है।

प्रभाव-आचरण का

कितना ही सुन्दर सिद्धान्त हो और उसका शाब्दिक प्रचार सारे ससार मे भी क्यो न कर दिया गया हो, उसे वास्तविक प्रचार नहीं कहा जा सकता। वास्तविक प्रचार जितना आचरण द्वारा हो सकता है, उतना अन्य साधनो से नहीं। चाहे उनके आचरणकर्ताओ की सख्या कम ही क्यो न हो, मगर वही स्थायी होता है।

व्यक्तित्व का प्रभाव

दिल एव दिमाग का असर शरीर पर पडता है और वह शरीर के प्रत्येक अग से बाह्य वायुमण्डल मे फैल जाता है। बिना बोले वह सूक्ष्म रूप से प्रत्येक पदार्थ पर असर करता रहता है। जिस भाव की जितनी प्रबल शक्ति होगी वह जन साधारण पर उतना ही अधिक असर करेगी और समय पाकर अपने ढाचे मे ढाल देगी। विचारक पुरुषो के साथ उसका सघर्ष होगा। उसमे या तो प्रबल शक्ति विजय प्राप्त कर लेगी या तीसरी शक्ति की सृष्टि होगी।

पद-लिप्सा बनाम देशद्रोह

छोटी-छोटी बातो को लेकर पद-लिप्सा से कोई गुट या पार्टी बनाना जनता के प्रति धोखा करना है। यह देश या समाज की सुव्यवस्था की ओट मे देश व समाज के प्रति द्रोह है। वास्तविक रूप से जन-सेवा करने वाले ऐसा कभी नहीं सोचते। उनके तन-मन और धन व्यर्थ के कामो मे नष्ट नहीं होते। वे व्यक्तिगत स्वार्थ के पीछे पार्टी बाजियो मे नही पडते। वे सही रूप से कर्त्तव्य को सामने रखकर चलते है, न कि व्यक्तिगत स्वार्थ को।

अनुभूतिमूलक शिक्षा

मनुष्य शिक्षा के लिये बहुत कोशिश करता है और कुछ अक्षरी ज्ञान-मौखिक ज्ञान से शिक्षा युक्त बातें याद कर लेता है और उसी के ऊपर श्रद्धा रखकर स्व-पर के जीवन मे उतारने का प्रयत्न करता है, मगर वह सही प्रयोजन सिद्ध नही कर सकता, क्योंकि स्वानुभूति के बिना वास्तविक शिक्षा नही पाई

जा सकती । वास्तविक शिक्षा प्राप्त करने के लिये पवित्र अन्त.करण की आवश्यकता होती है । बाह्य साधन तो निमित्त मात्र होते है । जब तक व्यक्ति यह सोचता रहेगा कि आपत्ति या कष्ट का सामना न करना पडे तब तक वह सही शिक्षा नही पा सकता । जो शिक्षा दूसरो को देनी है, वह शिक्षा पहले अपने ऊपर आजमाकर अनुभव करे कि यह मुझे हितकर एव प्रियकर मालूम होती है या नही ? फिर जो उसे हितकर एव प्रियकर ज्ञात हो तो वही दूसरे को दे ।

परापेक्षी वृत्ति-मानसिक दुर्बलता

"अमुक बडे आदमी ने अमुक मत का समर्थन कर दिया, वह अधिक फैलेगा, हमारे मत का समर्थन नही हुआ, अतएव हमारा मत कमजोर हो जायेगा, उसके पास हमे भी पहुँचना चाहिये ।" ऐसी बाते कमजोर दिल के मनुष्य कहा करते हैं । वे यह नही सोचते कि हमने जो मत स्वीकार किया है, यह सोच-विचार कर किया है या बिना सोचे । अगर सही मायने मे सोचा है और उसे जीवनोपयोगी अनुभव भी कर रहे हैं, तो हमे किसी प्रकार की चिन्ता नही करनी चाहिये । निर्भयता एव दृढतापूर्वक उसका अनुसरण करते हुए आगे बढना चाहिये । दूसरे किसी असयमी की प्रामाणिकता की छाप का गुलाम रहने वाला मनुष्य कभी सुख तथा शाति नही पा सकता । सुख एव शाति का सही मायने मे वही अनुभव कर सकता है, जो पवित्र अन्त करण की प्रामाणिकता तथा दिव्य दृष्टि की छाप चाहता हो ।

जीवन की विराटता

जीवन का सम्बन्ध केवल शरीर तक ही सीमित नही है । इसका सम्बन्ध न्यूनाधिक रूप से सारे ससार के साथ है ।

जीवन की विशेषता

जीवन विश्व की अनेक विभिन्न इकाइयो मे से एक है । इसके अन्दर समग्र तत्त्व न्यूनाधिक रूप से बीज रूप में विद्यमान हैं । इन सभी तत्त्वो का विकास भी किया जा सकता है और शरीर के अतिरिक्त अन्य भौतिक साधन के बिना विश्व की हलचल का ज्ञान हो भी सकता है । अपने अस्तित्व को स्वतन्त्र रूप में कायम रखते हुए विश्वस्थ सम्बन्धो को स्वच्छ भी रखा जा सकता है ।

साधना की भूमिका

शुद्ध कर्त्तव्य दृष्टि को सामने रखकर चलते रहना, निष्ठापूर्वक जीवन कला को मद्देनजर (दृष्टिगत) रखना, विनयशीलता व नुविधि का त्याग न करते हुए निर्भयतापूर्वक मन स्थिति को रखना, मान-अपमान आदि स्थिति का मन मे

विचार तक नही आने देना, इससे ज्ञान-फल की कुछ स्थिति बनती है, अतः उपर्युक्त दशा साधना मे सर्व प्रथम आनी चाहिये ।

विवेक-आनन्द-आश्रम

आज विवेकानन्द आश्रम मे बैठने का प्रसग आ रहा है । इस नाम से भी प्ररणा प्राप्त करनी चाहिये । जीवन की अनेक समस्याएँ उलझी पडी हैं, उनको सुलझाये बिना मार्ग साफ नही बन पाता । मार्ग साफ हुए बिना जीवन की गति अवरुद्ध रहती है अर्थात् सही तरीके से गति नही बन पाती । सम्यक् गति के बिना कितना ही कुछ चला जाय, कितना ही सोचा जाय, कुछ भी तत्त्व-चिन्तन किया जाय, कितना ही ग्रन्थ का अध्ययन-अध्यापन किया जाय, कराया जाय, कितने ही आश्रम खोले जायें, दुनिया की प्राय सभी कलायें सिखाई जाय, किसी भी पार्टी का कैसा भी सदस्य बना जाय, समग्र ग्रथो को रटकर कठस्थ कर लिया जाय, अज्ञानावस्था का कितना भी तप तपा जाय, कितना भी कष्ट उठाया जाय, योग-साधना की कितनी भी प्रक्रिया की जाय, पर इस प्रकार के सभी कार्य अरण्य रुदन के तुल्य रहते हैं । अत सम्यक् गति प्राप्त करने के लिये विवेक जागृत करने की नितात आवश्यकता है । उसमे नित्यानित्य वस्तु-विवेक, इस लोक तथा परलोक सम्बन्धी भौतिक योग साधन-सामग्री से ममत्व को दूर कर सत्चित्त आनन्द घन रूप दिव्य शक्ति समूह का जो स्वरूप है, वही एकमात्र प्राप्तव्य है । इस दशा को प्राप्त करने के लिये, उसी के अनुरूप साधन-सामग्री का अवलोकन एव उसके अनुसार दिनचर्या का भली भाति निर्धारण रूप विवेक सबसे पहले होना चाहिये । इससे सभी समस्याये व उलझनें सहज भाव से सुलझाई जा सकती हैं । उसके पश्चात् आगे की श्रेणी सुनिश्चित रूप से अमल मे लाने का उपाय सोचा जाय, ताकि जीवन की सुगति आनन्दपूर्वक बनाई जा सके । इसके लिए समग्र रूप से सम्यक् श्रम की आवश्यकता है, जिसको कि सही मायने मे आश्रम कहा जा सकता है ।

जीवन का अस्तित्व—एक मूल्यांकन

मानव तू विचार तो कर कि तुम्हारा अस्तित्व यहाँ किसलिए है ? आपस मे लडने के लिए ? प्राप्त शक्ति का दुरुपयोग करने के लिये ? या पशु जीवन की तरह जीवन बिताने के लिए ? नही ! इन कामो के लिये तुम्हारा अस्तित्व नही है । तुम्हारा अस्तित्व तो विश्व मे एक महत्त्वपूर्ण कड़ी अदा करने के लिए है, यह बोध तुझे होना चाहिये । तुझे अपने जीवन को विश्व के अन्दर रहने वाले गुह्य तत्त्व को व्यक्त कर विश्व-कल्याण का मार्ग प्रशस्त बनाने के लिए लगाना चाहिए । स्व कितना रहस्यमय है, इसकी निरन्तर शोध करते रहना चाहिये । इन कामो मे यदि जीवन का सदुपयोग बना, तो वस्तुत. जीवन के अस्तित्व की सार्थकता है, अन्यथा मिट्टी के ढेले के समान यह पुतला प्राप्त हुआ

और पानी की बूदो से गलने की तरह विकारो मे गलकर नष्ट हुआ। हाथ कुछ नही आया, व्यर्थ ही .... . .।

कार्य और भूमिका

प्रत्येक कार्य मे धैर्य, शाति और विवेक की नितान्त आवश्यकता रहती है। इनके बिना कार्य की परिपक्वता नही बन पाती और परिपक्वता के बिना उस कार्य से सही मायने मे तुष्टि नही होती। तुष्टि के अभाव मे विषय-तृष्णा "दिन दूनी रात चौगुनी" की कहावत के अनुसार निरन्तर बढती रहती है, जिससे मन की चचलता अधिक वेगवती बनती है और अशाति सीमा को लाघने लगती है, परिणामतः आसपास का वायुमडल भी दूषित बन जाता है एव परम्परा से इसकी दुर्गंध दूर तक फैल जाती है।

अत प्रत्येक विचक्षण पुरुष को किसी भी कार्य मे हाथ डालने के पूर्व अपनी भूमिका का भली भाति अवलोकन कर लेना चाहिए। यदि स्वय की भूमिका मे किसी बात की कमी महसूस हो तो कुछ समय उसकी पूर्ति मे लगना चाहिये। फिर जब यह अनुभव हो जाय कि मेरी भूमिका अमुक कार्य करने के योग्य सक्षम बन गई है, तो फिर उस भूमिका पर दृढतापूर्वक स्थिर रहकर सम्यक् ज्ञान के साथ कार्य मे हाथ डालना चाहिए।

खणं जाणहि पडिए

मेरा प्रत्येक अमूल्य क्षण जा रहा है। इन क्षणो को सार्थक करना मेरे हाथ की बात है। मैं व्यर्थ की बातो मे जितनी अपनी शक्तियो को लगाता हू, उतना ही अपने आप मे शक्तिहीन होता हूँ और मेरा प्रत्येक क्षण व्यर्थ जाता है। इससे न केवल मैं अपने आपकी ही शक्ति का अपव्यय करता हूँ, बल्कि व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्व का भी अहित करता हूँ। इस तरीके से, एक दृष्टि से प्राणी मात्र का कल्याण ही करता हूँ। अत मुझे पूरी सावधानी रखने की आवश्यकता है, ताकि मैं स्व-पर के कल्याण की कडी मे कुछ शक्ति अदा कर सकूँ।

अमूल्य जीवन

मानव यत्किंचित तुच्छ इद्रिय सुखो के लिए अत्यधिक महत्त्वपूर्ण अमूल्य जीवन को नष्ट कर रहा है। इसके विपय मे कुछ भी सही रीति से सोचने का प्रयत्न नही कर पा रहा है। यह अवस्था वीत जाने के पश्चात् असख्य प्रयत्न करने पर भी वर्तमान मानव-जीवन की अवस्था प्राप्त करना सवसे अधिक कठिन है। कौन जानता है कि यहाँ से कहाँ जाकर गिरेंगे और क्या दशा होगी? उस दशा मे आज-सा मान रहेगा या नही ? प्राप्त की हुई चिन्तामणि को समुद्र मे फेक दें, उसको पाना तो फिर भी शक्य हो सकता है, पर इस मानव अवस्था

को व्यर्थ के कामो मे खो देने के पश्चात् अत्यधिक पश्चात्ताप के अतिरिक्त कुछ भी बनना कठिन है। अत पूरी सावधानी के साथ वर्तमान मानव अवस्था को सभालकर इसे सही जीवन-कला प्राप्त करने मे लगा देना ही मानव का मुख्य ध्येय होना चाहिये।

शिक्षा अवयवो से

शरीर के अन्दर रहने वाला प्रत्येक अवयव अपने-अपने स्थान पर रहता हुआ किस खूबी से अपना कार्य सम्पादन करता है। केन्द्रीय स्थान से जिस भी बात की आज्ञा प्राप्त होती है, उसके अनुसार वह अवयव निरन्तर अपनी गति से अपना कार्य प्रारम्भ कर देता है, उसको कोई देखे या न देखे। कोई उसकी तारीफ करे या निन्दा, वह अवयव इन बातो पर जरा भी ध्यान न देकर प्राप्त आज्ञा को कार्य रूप मे परिणत करता रहेगा। निन्दा या स्तुति का असर यदि केन्द्रीय स्थान पर हुआ तो उस असर की झाई के साथ आज्ञा अवयव के पास पहुँचेगी तथा उतनी ही मात्रा मे उसकी कार्य-प्रणाली पर असर होगा। कार्य परिणति मे भी उसी के अनुरूप परिवर्तन आयेगा, जरा भी विपरीत या न्यूनाधिक नही। अत: शरीर के प्रत्येक अवयव की इस प्रामाणिकता से भी मनुष्य को शिक्षा लेनी चाहिये।

महनीय व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति

किसी भी वास्तविक प्रयास के फलस्वरूप मानव यदि अन्त:स्थल पर पहुँच जाता है और वहाँ की सत्व-सम्पन्न शक्ति को भली भाँति पहचान लेता है तो उसकी सब वृत्तियो मे परिवर्तन आ जाता है। उसकी चाल, उसकी दृष्टि, उसका बोलना, उसका सुनना, मनन करना आदि अन्य प्राणियो से विलक्षण होगे। आन्तरिक सत्व-सम्पन्न व्यक्ति अमूल्य शक्ति का जन साधारण की तरह अपव्यय नही होने देगा। वह उसका सत्य प्रयोग भी दिव्य एव भव्य, विशाल तथा व्यापक वास्तविक जीवन-निर्माण को सम्मुख रखकर उसके अनुपात से करेगा, जिससे समग्र जीवन उसी सत्व-सम्पन्न शक्ति के रूप मे परिणत कर पायेगा।

अपनो से अपमान

समग्र विश्व तेरा है, तू उसका है। फिर भय और चिन्ता किससे? घर मे कौन शत्रु? कोई नही। सभी मित्र, सज्जन और स्नेही, सभी सहायक, सभी हितैषी, सभी मेरा शुभ चाहने वाले। घर मे कदाचित् किसी की फटकार मिलती है, कभी कटु शब्द भी सुनने को मिलते हैं, मारने और त्रास देने का वायुमडल भी बनता दिखाई देता है। पर क्या वे सब वस्तुत हानिप्रद है? नही! वे सब तेरे हितकर ही हैं। जीवन-निर्माण के लिये हैं। जो तेरी त्रुटि तुझे नही दिख

रही है, पर तेरे लिए अहितकर है, उसी के सुधार के लिए कह रहे है, अतः हितैपी है। वैसा ही दृष्टिकोण सारे ससार के साथ बन जाय तो सब कुछ अच्छा बन जाता है। फिर सहारक, भय और चिन्ता का नामोनिशान ही नही रहे बल्कि हर स्थान पर जीवन की उज्ज्वलता ही परिलक्षित होने लगे। प्रत्येक समय उत्साह सर्वत्र सहायक सज्जन, स्नेही के अतिरिक्त कोई दृष्टिगत ही नही होने पाये। वह स्थिति जिस भी आत्मा मे आ पायेगी, वह आत्मा इस विश्व की वास्तविक स्थिति की आत्मा होगी। उससे फिर गुह्य व अदृश्य कुछ भी नही रह पायेगा।

अंकन व वृत्तियाँ

यद्यपि स्व-पर विज्ञाता शक्ति अकन एव वृत्तियो से विजातीय स्थिति मे रहती है, फिर भी कम विकसित होने या आवृत्त पदार्थों से दब जाने से कमजोर सी बन जाती है। उस अवस्था मे वृत्तियो व अकन तत्त्वो की रगीन छाया मे भी आ जाती है। यानी उनको रग से रगीन बन जाने के कारण रगीन वृत्तियो व अकनो की अत्यधिक प्रचुरता बढा लेती है और उसी मे घुलमिल जाने से स्वकीय स्व-पर विज्ञातत्त्व विपरीत दिशा मे मुड जाता है। इससे अशुभ वृत्तियो का निर्माण तथा दु खद स्थितियो का अकन उसी जाति का द्वंद्व, जो कि भूमडल पर समय दिशा आदि आपेक्षित सुख-दुःख वृत्तियो के सम्मिश्रण से अनेकानेक विभिन्न विजातीय वृत्तियो के निर्माण की वृत्तियाँ बाह्य पदार्थों का निमित्त पाकर भी बनती हैं और आतरिक वृत्ति के उथल-पुथल से भी। किसी अपेक्षित सुखात्म वृत्ति मे रागात्म वृत्ति का प्रादुर्भाव और विपरीत मे द्वेषात्मक वृत्ति का प्रादुर्भाव होता है। दोनो वृत्तियो का विस्तृत परिवार उसी परिणाम मे वह स्व-पर विज्ञाता शक्ति अयगोलक में आग की तरह सब वृत्तियो के रूप को धारण करती हुई अनेक रूपो मे प्रतिभासित होने लगती हैं। वह उन रूपो मे इतनी फस जाती है कि स्व-पर विज्ञाता शक्ति, न तो उन सूक्ष्म वृत्तियो को भली भाति पहचान पाती है और न स्वय के स्वरूप को। अत घडी के काटे की तरह वृत्तियो मे ही घूमती रहती है। इसलिये अधिकाश मनुष्य अपने जीवन को समझ नही पाते। अधिकाश दार्शनिको के लिये भी जीवन एक रहस्यपूर्ण समस्या बन गया है। इससे वे भी इस वृत्ति पाश को चीर कर स्व-पर विज्ञाता शक्ति के आधार-भूत अविनाशी सर्व शक्ति सम्पन्न तत्त्व का साक्षात्कार न कर पाये और अनेक आन्तरिक शकाओ से ओतप्रोत बन गये। तो फिर अन्य प्राणियो का तो कहना ही क्या ?

प्रबलतम शक्ति-व्यवधान समाप्त

अचल, अविनाशी, अखड, परम शुद्धि, अन्तिम परिपूर्ण ज्ञान-विज्ञान आदि समस्त श्रेष्ठ मत शक्तियो के स्व-पर स्वरूप के चरम विज्ञाता सत्य को

अविचल परम लक्ष्य के रूप मे स्थापित करने का दृढ सकल्प आने पर कोई भी बाधक तत्त्व बाधकता के रूप मे नही रह सकता। ऐसे पुरुष के सामने जीवन की व्यक्तिगत कितनी भी जटिल समस्याये क्यो न आ जायें, उसके लिये जटिलता रह ही नही सकती। पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा विश्व सम्बन्धी परस्पर अत्यधिक भिन्नता के साथ विरुद्ध दिखाई देने वाली गूढ गुत्थियाँ सरलतम प्रतीत होगी। इतना ही नही, सूक्ष्म से सूक्ष्मतर अन्तरदृष्टि से विलोकित जो विश्व का विभिन्न स्वरूप है, जिसको स्थूल दृष्टि, स्थूल विचार, प्रचलित दार्शनिक दृष्टियाँ आज तक के समस्त वैज्ञानिक औजार के माध्यम मे नही देख पाती, उनके अन्तर्गत रहने वाली समस्त गतिविधि किसी भी रूप को लेकर क्यो न सामने आये, उस पुरुप के लिये न कोई आश्चर्य का विपय होगा, न किसी प्रकार का सकोच, न किसी जाति की ग्लानि, न किंचिदपि किसी कोने के अनन्तवें भाग मे भय की छाप की झलक। वह तो पवित्र सलिल धारा की भाँति अपनी परम मस्तानी अबाध शक्ति का आलोक लेकर चलता रहेगा। उसके लिये न कोई विरूप है, न कोई बाधक, न कोई सर्वथा पर न विद्वेष की काली घटा, विराग की परमलता, न कोई बाधक दिवार न आपत्ति की चट्टान। उसके लिये तो सदा सर्वदा राज मार्ग विद्यमान रहता है। किसी प्रकार की रुकावट न हो। अत. गति अवरोध का प्रश्न ही पैदा नही होता।

विचारो का रूपान्तरण

मस्तिष्क का परिवर्तन केवल आर्डर से नही होता, वह होता है हिताहित प्राप्ति परिहार के सही विज्ञान से। वह विज्ञान केवल भौतिक नही, अपितु भौतिकता पर, नियत्रण पर क्षमता रखने वाला अध्यात्मिक विज्ञान है। आध्यात्मिक विज्ञान बाजारू वस्तु की तरह सहज मिलने वाला नही। उसके लिये कठिन तप की आवश्यकता है। कठिन तप इसलिये कि विकारी दशा से मन को दृढता के साथ मोडना पडता है। वह मोड आर्थिक दृष्टि प्रधान पाठशालाओ व महाविद्यालयो मे नही हो सकता है। क्योकि इसमे मुख्य रूप से दृष्टिकोण का भेद है। वैसे ही पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीयता प्रधान दृष्टिकोणो मे भी परिवर्तन की स्थिति प्राय· नही रहती क्योकि वहाँ भी मुख्य दृष्टिकोण तत्तत् (उस-उस) विषयक रहता है। यदि वैसा नही रखा जाता है तो वे अपने-अपने स्थान के सफल कार्यकर्त्ता साबित नही हो सकते। अतः कदाचित् किसी के नही चाहने पर भी विवशता के साथ वैसा रखना पडता है। इस प्रकार के जितने भी कार्य क्षेत्र हैं, वे प्राय. विकारी दृष्टिकोण मे सफल नही हो सकते। बल्कि उनमे भी नैतिक सचालन के लिये अन्य की आवश्यकता रहती है। अत. इसकी पूर्ति के लिये ऐसे वर्ग की आवश्यकता है, जो कि इन दृष्टिकोणो से ऊपर उठा हुआ वास्तविक स्थिर लक्ष्यनिष्ठ आन्तरिक ऊर्जा सम्बन्धी अनुभूतियो से ओत-प्रोत होता हुआ वैसा रूपान्तरण ला सके।

संस्कार और अनवरत अभ्यास

शरीर किसी नियत स्वभाव वाला नही है। जिसमे भी स्वभाव के सस्कार निश्चित समय पर डालने का अभ्यास किया जाय, वैसा बन सकता है। आरम्भ मे कुछ कठिनता महसूस होगी, अटपटा लगेगा। कुछ समय के लिये ऐसा भी अनुभव होगा-मानो अस्वाभाविक स्थिति का काम कर रहा हूँ। मन ऊब-सा जायेगा, उससे उठने की कोशिश होने लगेगी एव पूर्व स्वभाव को ही अपना स्वभाव समझकर उसी का प्रतिपादन करने की उमग भी उठ सकती है। लेकिन इस सबके बावजूद भी जिस अभ्यास को चालू किया है, उससे जरा भी पीछे न हटकर अनवरत गति से निश्चित समय मे प्रवाहित होता रहे तो कालान्तर मे अनुभव होगा कि मैं जिन गुणात्मक सस्कारो का आरोपण सह रहा था, यही मेरा वास्तविक व स्वभाव है। ऐसा होने पर इसके बिना चैन नही पडेगा। उससे विपरीत स्थिति पसन्द नही आयेगी। इस प्रकार जिन भी सस्कारो का स्वभाव बनाने की आवश्यकता हो, उन्ही सस्कारो का पूर्वोक्त रीति से अभ्यास होने पर वैसा स्वाभाविक स्वभाव इस शरीर का बन सकता है। काफी समय के पश्चात् तो बिना ही अभ्यास निश्चित समय पर वैसा ही अनुभव होने लगता है। यह शरीर एक प्रकार की वह भूमि है जिसमे सभी प्रकार की सर्व अर्थ परमार्थ, आदि रूप फसल तैयार हो सकती है। इसको एक दृष्टि से चिन्तामणि की उपमा भी दी जा सकती है। बशर्ते कि इसका अधिष्ठाता आत्मदेव वास्तविक ज्ञान-विज्ञान अनुभूति पूर्वक आचरण सम्पन्न हो।

भयंकर शत्रु

प्राणी मात्र का एक सबसे बडा भयकर शत्रु है, जो हर समय उसका नाश करता है। वह चमडे की दृष्टि मे जल्दी नही आता। कभी आता भी है, तो उसका वडा स्थूल रूप। पर वह तो किसी कोयले की खदान मे अचानक ज्वाला के रूप को धारण करने वाली आग के समान है। जैसे दवी आग शनै-शनै पास के छोटे-बड़े सभी तत्त्वो को प्रति क्षण जलाती रहती है। वैसे ही वह शत्रु प्रतिक्षण प्राणी मात्र के अन्दर रहने वाले छोटे-मोटे जीवन तत्त्व को भस्म करता रहता है। जिसका विज्ञान वडे-वडे समाज के कर्णधार, विचारक, चतुर कहलाने वालो को नही हो पाता। वे भी प्राय इसके चगुल मे फँसे रहते हैं। वह क्षय रोग के कीटाणु की तरह सताता रहता है। दूसरी दृष्टि से देखा जाय, तो वह समस्त अध्यात्म रोगो की जड है। वडे-वडे योगी लोग भी कभी-कभी उससे आक्रात होते सुने गये हैं, अन्य का तो कहना ही क्या? उसी का असर स्थूल शरीर पर भी पडता है और अनेक बीमारियाँ आ घेरती है, जिनका निवारण करने मे वडे-वडे डॉक्टर भी प्रायः असफल रहते हैं। इस रोग से मुक्ति पाये विना ही प्राणी चल वसता है। साधना का क्षेत्र भी पूरा सफल नही

हो पाता। शाति की चादर को प्रतिक्षण कतरने वाले पहाड़ी चूहे के समान सम्पूर्ण आपत्तियो का प्रमुख द्वार वह शत्रु है प्राणी के अन्दर रहने वाला काल्पनिक भय।

अन्तरानुभूति

पिछली रात्रि ५ वज कर ४० मिनिट के लगभग गणित का चिन्तन करते हुए पाट से नीचे उतरते समय अन्तर आभास का दृश्य अपूर्व था। प्रथम तो उज्ज्वलता ऐसी लग रही थी जैसे प्रकाश पुंज मे से धूम्र जड मूल से अलग हट रहा है। इससे महसूस होने लगा कि मिथ्यात्व आदि विकार जड़ मूल से उखड गये हैं, और सर्व विकारी प्रवृत्तियाँ धुएँ के रूप मे लगने लगी। तदनन्तर विचार हुआ कि वस्तुत. आत्मा की दशा इस प्रकार से आगे वढती है। सत जो पढाई कर रहे हैं, वह भी आवश्यक है। पर इन सतो की योग्यता बढ जाय तो आन्तरिक पढाई इससे भी महत्त्वपूर्ण है। अतः इसके लिए एक विधान पद्धति का आन्तरिक कोर्स तैयार कर उसके अनुसार आन्तरिक अध्ययन कराऊँ। इसके पश्चात् ऐसा भासित होने लगा कि धूम्र रहित तीन साढ़े तीन हाथ के लगभग लम्बे और गोल स्तभ के समान गोल छड जैसा प्रकाश पुंज का दृश्य आन्तरिक स्थिति के सामने है।

समता का विस्तार

शरीर की रचना वैज्ञानिक पद्धति से वनी हुई है। इसका पूर्ण विज्ञान परिपूर्ण सम्यग् ज्ञान-शक्ति के विना शक्य नही। फिर भी यत्किंचित अन्तर आभास की अवस्था से चिन्तन किया जा सकता है, वह भी स्नायु के माध्यम से। क्योकि चैतन्य आत्मा अनन्त शक्ति सम्पन्न होने पर भी अपूर्ण दशा मे शरीर के सूक्ष्मतम तत्त्व तथा सूक्ष्मतम अवयवो के साथ स्नायु, आदि के माध्यम से कार्य करता है। चैतन्य आत्मा का प्रकाश अनन्त सूर्यों के प्रकाश से भी अधिक है। उस आत्म ज्ञान के प्रकाश को उपमा की दृष्टि से नही आका जा सकता। ऐसे परिपूर्ण ज्ञान प्रकाश को प्राप्त करने का लक्ष्य सदा सन्मुख रख कर शरीर रूप मे रहने वाले चैतन्य आत्मा को सम्यग्ज्ञान के साथ अवलोकन करने का सही प्रयास होना आवश्यक है। एतदर्थ सर्व प्रथम इस अवस्था की योग्यता आना नितान्त आवश्यक है। योग्यता के लिये सूक्ष्म एव स्थूल समग्र प्रकार के जीवो को आत्मवत् समझने के साथ उनके प्रति शक्ति भर समता दर्शन की वृत्ति वनाई जावे। इस समता दर्शन का सक्षिप्त व विस्तार से यथा स्थान समझकर पूर्ण आचरण रूप मे परिणित करना।

समता दर्शन केवल मस्तिष्क रूप से न हो कर आन्तरिक अनुभूतियो मे प्रस्फुटित होना चाहिये। आन्तरिक अनुभूति मे समता दर्शन के अभिव्यक्त होने पर पाँच इन्द्रिय सम्वन्धी समग्र विषय की तृष्णा के परित्याग की अवस्था स्पष्ट

रूप मे आयेगी और उस अवस्था मे मन की विकृत अवस्थायें सीमित होकर समभाव वृत्ति बन जायेगी।

ऐसी अवस्थायें आने पर ही चैतन्य आत्मा उपर्युक्त लक्ष्य को मद्देनजर रखता हुआ जिन-जिन अवयवो के माध्यम से शुभाशुभ प्रवृत्ति करता है, उन-उन शारीरिक अवयवो मे वह चैतन्य स्वय की ही ज्ञान शक्ति से अपने आपको अवलोकन करने का अभ्यास करे और यह देखने का प्रयास करे कि इन अवयवों मे चैतन्य का परिस्पदन किस प्रकार हो रहा है।

ऐसे तो शरीर व्यापी चैतन्य शरीर के प्रत्येक सजीव अवयवो मे अपना साकार रूप धारण करके रहा हुआ है। अत. शरीर के बाहरी अवयवो का परिस्पन्दन प्राय सामान्य रूप से चर्म चक्षु से दृष्टिगोचर होता ही है पर आन्तिरिक अवयवो का आवरण मुक्त तथा सूक्ष्मतर होने से चर्म चक्षु सही रूप मे अवलोकन करने मे प्राय असमर्थ हैं। अत सहजिक योग के माध्यम से अन्तर के शारीरिक अवयवो मे होने वाले परिस्पन्दनो के माध्यम से चैतन्य शक्ति के प्रकाश पुज को क्रमिक रूप से विकसित करते हुए लक्ष्य की ओर बढाना चाहिये। लेकिन यह परिस्पन्दन चैतन्ययुक्त शरीर के अवयवो मे ही व्यवस्थित पाये जाते है, चैतन्य रहित जड शरीर मे नही। चैतन्य रहित जड मे यदि कोई व्यवस्थित कला देखी जाती है, तो वह व्यवस्थित कला भी उसी स्व-पर प्रकाश ज्ञान स्वरूप चैतन्य आत्मा की ही है। चैतन्य रहित जड मे व्यवस्थित कलाकृति बनाने की वैज्ञानिक शक्ति नहीं होती। अत व्यवस्थित कलाकृति उपयोगवान चैतन्य की है। इस विराट् विश्व मे विचारो का विभिन्न वैचित्र्य विभिन्न रूपो, प्रकारो, कार्यकलापो आदि के रूप मे परिलक्षित हो रहा है। पर आश्चर्य इस बात का है कि मूल तत्त्वो को समझा नही जा रहा है।

ऊपरी-ऊपरी परत को ही सब कुछ समझ लिया गया। उसी के ऊपर प्राय समस्त मानव वर्ग तैर रहा है और मान रहा है कि सब पा लिया गया। पर वस्तुस्थिति यही तक सीमित नही है। यह तो एक छोर है, कुछ अश है। अन्य सभी अश रहस्यमय गुफा की तह मे सन्निहित है। उनकी तरफ दृष्टि नही जाने से जीवन की उलझने बढती जा रही हैं। जो भी यह बोलते है कि हम सुलझ गये, वे प्राय· अधिक उलझे हुए हैं। जीवन की वास्तविक गुत्थी सुलझे बिना उलझनें समाप्त नही हो सकती। अत मूल स्रोत के रहस्य की ओर बढना नितान्त आवश्यक है।

अभिमान—एक अभिशाप

अभिमान की मनोवृत्ति जीवन-विकास मे घोरतम शत्रु है। मन मे जब अभिमान का अश रहता है, तब वह किसी छोटे व्यक्ति से बात करना भी पसन्द नही करता। चाहे उस छोटे व्यक्ति से कितना ही महत्त्वपूर्ण कार्य क्यो न हो, उससे

वातचीत करने पर अपना वहुत भला हो सकता हो, फिर भी अभिमान उससे वात नही करने देता। कभी-कभी यहाँ तक की स्थिति आ जाती है कि मृत्यु के क्षणो तक भी अभिमान उसे झुकने नही देता। झुकना तो दूर, वात तक नही करने देता। इस प्रकार अनेक तरह की कहानियाँ तो वर्तमान जीवन मे प्रकट दिखने वाली होती हैं। इसके अतिरिक्त मन की कोमल वृत्ति से विकसित होने वाली अनेक शुभ वृत्तियाँ कुंठित हो जाती हैं। उनके कुंठित हो जाने से इस जीवन की आतरिक शक्तियाँ तो प्राय नष्ट होती ही हैं, जो लाख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नही हो सकती। इसके साथ-साथ अगली स्थिति विगड जाती है। क्योकि अभिमान की दशा मे दूसरे के प्रति सदा हीन भावना वनी रहती है। इस हीन भावना के समय अगले जन्म का आयुष्य वन्ध भी नीच गति का होता है। उस गति के प्राप्त होने पर प्राय उसी के अनुरूप ही आगे के विचार वनते रहते हैं। इस क्रम से अनेक जिन्दगियाँ वर्वाद हो जाती हैं। अत विचारवान इसान को चाहिये कि अपने मन के किसी भी कोने मे अभिमान न रहने दे।

शक्ति का दुरुपयोग

मानव अपनी स्थिति को नही समझने के कारण व्यर्थ की वातो मे अपनी मानसिक शक्ति लगाता रहता है और व्यर्थ की कल्पना से रात-दिन सोचा करता है कि वह व्यक्ति मेरा है, मेरी पार्टी का है, मैं उसको अपना वना लूँ, उसके साथ मित्रता कर लूँ और जो मेरा नही है, उसकी उपेक्षा कर दूँ क्योकि वह मेरे काम नही आता। अमुक काम तो आता है, पर अन्दर मे निन्दा करता है। मेरी जड काटता है। मेरी प्रशसा को वर्दाश्त नही करता। अतः उससे सम्वन्ध प्रगट मे न तोडकर उदासीन हो जाना ठीक रहेगा, आदि न मालूम किस-किस को लेकर कितना क्या सोचता है, जिसको वह स्वय भी नही समझ पाता। और इसी प्रकार की कल्पनाओ से वह अपनी शक्ति को वर्वाद करके चल वसता है। कुछ भी रचनात्मक-सृजनात्मक-निर्माणात्मक कार्य नही कर पाता है। यह मानव मन की वडी कमजोरियो मे से एक है। इसको समाप्त करने के लिये मन मे शुद्ध सकल्प की नितान्त आवश्यकता है। इसके लिये अपने विचारो को साफ करने की पद्धति अपनानी चाहिये। वह यह है कि प्रात कालीन किसी भी नियत समय मे आलस्य को दूर हटाकर एकान्त स्थान मे सर्वथा प्रकार से परिपूर्ण सिद्धि प्राप्त आत्मा को नमन कर लक्ष्य स्थिर किया जाय और सर्वथा प्रकार से सभी पापकारी तथा क्षुद्र प्रवृत्तियो के परित्याग के दृढ सकल्पपूर्वक आचरण मे परिणित अवस्था वनाई जाय, ताकि उन प्रवृत्तियो से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त की जा सके। तदनन्तर वास्तविक स्थिति की दृष्टि से विचार किया जाय कि मैं जो कुछ भी सोच रहा हूँ, कर रहा हूँ, उसमे कितना व्यर्थ तथा कितना किस समय तक काम मे आने वाला है? इस विषय का भलीभाति विचार करने पर

जीवन की महान् विशालता का अनुभव होने लगेगा और जीवन-विज्ञान की कला बढेगी ।

मानव जीवन—आनन्द का केन्द्र

मनुष्य आनन्द का केन्द्र बन सकता है और दु ख का महासागर भी । दोनो अवस्थाओ का मूल मनुष्य जीवन है । इस योनि मे रहने वाली आत्मा को भलीभाति सोच लेना चाहिये कि अब कौन सा कार्य करना है । यदि वास्तविक मनुष्यत्व, मनुष्यपन की अवस्था प्राप्त कर जीवन को सही ज्ञान के साथ विकसित किया तो यही मानव जीवन वास्तविक आनन्द का सच्चा केन्द्र बन सकता है । उसके लिये जीवन मे बदबू मारने वाली समस्त विकारो की गन्दी नालियो को परिमार्जित करना होगा । सत्य, शील रूप पवित्र जल से उनको धोना होगा । मानव ही नही प्राणीमात्र के प्रति आत्मीयता स्थापित करनी होगी । जीवन के प्रत्येक क्षण को सार्थक बनाने के लिए सत्पुरुषार्थ का अक्षुण्ण मार्ग अपनाना होगा । आत्मीय प्रत्येक शक्ति की धारा मे विवेक शक्तिपूर्वक ज्ञान दूरबीन से सही अवलोकन करना होगा और यह देखना होगा कि किस-किस आत्मीय शक्ति के प्रवाह मे कौनसा मलिन कचरा कितनी मात्रा मे साफ हुआ और कितनी मात्रा मे अभी तक विद्यमान है । किस के पीछे कितना विकास रहा और इस विकास को सुखाने का कितना ताप पहुचा, आदि विषयक निरीक्षण यथासमय करना आवश्यक होगा, ताकि सफलता की शक्ति आगे बढती रहे और जीवन का आनन्द-केन्द्र समीप आता रहे ।

प्रभुता में बाधक—अभिमान

जीवन मे छिपी शक्ति की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा तीनो लोको की प्रभुता प्राप्त कर सकती है । वह प्रभुता शस्त्र बल, धन बल अथवा अन्य किसी बाह्य बल से प्राप्त नही हो सकती । वह तो आन्तरिक शक्ति के सही विकास पर निर्भर है । आन्तरिक शक्ति अभिमान की मात्रा से दब जाती है । बडा से बडा व्यक्ति क्यो न हो, अभिमान उसको भी गिरा देता है । बाहुबली जैसे बलिष्ठ को भी अभिमान ने पछाड दिया । जगल मे ध्यान लगाकर खडे रहने से लतायें शरीर पर व्याप्त हो गई । पक्षियो के घोसले तक का कथन प्रसारित हो गया । पर मन की एकाग्रता भग नही हुई । शरीर ने जरा भी लचक नही खाई, नेत्र की पलकें स्फुरित न हो पाईं । कितना कठोर कार्य । बाहुबलीजी ने शारीरिक, मानसिक एव वाचिक प्रक्रिया की साधना मे जरा भी कमी नही आने दी । पर आन्तरिक अभिमान वृत्तियो के कारण त्रिभुवन प्रभुता रूप चरम आत्मीय शक्ति प्राप्त करने मे बाधा उपस्थित हो गई । केवलज्ञान उपस्थित नही हो पाया । जिस समय सूक्ष्म रूप से रहने वाले अभिमान को नष्ट किया कि

तत्क्षण उसी अवस्था मे केवलज्ञान प्राप्त हो गया और त्रिभुवन-प्रभुता को विराट शक्ति के स्वामी वन गये। अत अभिमान का सर्वथा परित्याग तो त्रिभुवन-प्रभुता प्राप्ति का एक साधन है।

उद्बोधन के स्वर

आम व्यक्ति के दिन रात वैसे ही व्यतीत हो रहे हैं, कुछ करने योग्य किया नही जा रहा है। वह किसी कल्पना, व्यर्थ के विचार मस्तिष्क के पटल पर आने जाने से शक्ति का अपव्यय वन रहा है। निद्रा, स्वप्न, जागृति, चिन्ता आदि प्रक्रियाओ मे समय वीत रहा है। भव्य चेतना, इन सभी दशाओ मे तुझे सावधानीपूर्वक आगे वढने की आवश्यकता है। इन्ही दशाओ मे अनादिकाल से चलता आ रहा है। उनसे ऊपर उठने का सोचा भी नही। यत्किंचित सोचा भी तो ऊपरी तौर से। अन्त स्थल से सोचने का जरा भी प्रयास सही ज्ञानपूर्वक नही वन पाया। यही कारण है कि आत्मा का विकास प्राय अवरुद्ध सा ही रहा। भव्य प्राणी अव भी समय है, अवसर है, अवकाश है। जीवन की योग्य दशा है, साधन सामग्री का अनुकूल योग है वास्तविक ज्ञान का पट खोलने का। क्यो नही खोला जा रहा है, क्यो व्यर्थ मे पडा हुआ है? अव तो जग! अव तो चेत! क्या कर रहा है? वड़े दु ख का विषय है कि तुम्हारा सारा समय व्यर्थ मे जा रहा है। कुछ भी सही मायने मे कर नही पा रहा है। कव करेगा? कव जगेगा? कव चलेगा गन्तव्य स्थान पर? सही दिशा सामने रखकर सच्चे पुरुषार्थ वल से चल पड! सफल होगा तुम्हारा दिन-रात!

सूक्ष्म दृष्टि—विलक्षण चिन्तन

सूक्ष्म और सही दृष्टि का चिन्तन वडा ही विलक्षण होता है और वस्तुस्थिति के पार तक पहुँचाने वाला होता है। इसके लिये चित्तवृत्ति की समता आनी आवश्यक है। समता का तात्पर्य सर्व तत्त्व को एकान्तिक रूप से एक सदृश्य मान लेना या समझ लेना नही है, वरन् समता का अर्थ है—प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक अवस्था का भलीभाँति सापेक्ष दृष्टि के साथ वस्तु स्वरूप अवलोकन करना तथा उसके अन्त स्थल तक पहुँचकर वास्तविक अवलोकर कर लेने पर निर्णायक वुद्धि का होना। इस प्रकार की चित्तवृत्ति वनाने पर जो भूमिका वनेगी और उस भूमिका की अवस्था से जो चिन्तन प्रारम्भ होगा, वह भूमिका सूक्ष्म पवित्र दृष्टि की वन पायेगी। वहाँ जीवन की सर्वग्रथियाँ यथाशीघ्र सुलझ सकेंगी एव आनन्द की वास्तविक अनुभूति की दशा प्रशस्त वन पायेगी। फिर तो राजमार्ग-सा कार्य वन जायेगा। मार्ग खोजने की दृष्टि से रुकना नही होगा। गति भी तीव्र वन जायेगी। यह कार्य स्थूल दृष्टि से नही वन पाता। हाँ, प्रारम्भ मे स्थूल वुद्धि भी आगे वढाने मे सहायक वन सकती है। अत यथास्थान सूक्ष्म दृष्टि के चिन्तन की आवश्यकता है।

सफलता का मूल मंत्र—सकल्प शक्ति

जीवन निर्माण का कार्य स्वय के सान्निध्य से सम्पन्न होता है। सान्निध्य का तात्पर्य सिर्फ समीपता नही, बल्कि स्वय की कला का प्रयोग करना है। यानी स्वय की सकल्प शक्ति को इस प्रकार दृढ एव निरन्तर स्थायी बना देना जिससे अभीष्ट कार्य यथाशीघ्र सम्पन्न हो सके। किसी भी कार्य मे विलम्ब या शैथिल्य उस कार्य की कारण सामग्री के प्रमुख सूत्रधार सकल्प शक्ति पर निर्भर है। वह सकल्प शक्ति वास्तविक ज्ञानपूर्वक निरन्तर जीवन-निर्माण की परिपूर्ण कारण सामग्री के प्रत्येक अग मे प्राणस्वरूप बनकर दृढ, दृढतर, दृढतम बन जाय तो अन्य कोई भी शक्ति उसमे बाधक नही बन सकती। बाधकता प्राय. सकल्प शक्ति की कमजोर अवस्था पर ही कामयाब हुआ करती है। बाधकता की शक्ति वहाँ सफल हो सकती है, जहाँ सकल्प शक्ति के सदस्य इतस्तः अलसित हो। मानव अपनी उस महत्त्वपूर्ण शक्ति को व उसके सदस्यगण की महत्ता को प्राय समझ नही पाता। फलस्वरूप निर्माण कार्य मे बाधाओ के विचित्र रग-रूप से प्राय हर क्षण वृक्ष के पत्ते की तरह प्रकम्पित होता रहता है। इससे अशाति के काले बादल सर्बत्र मडरा जाते है और कर्त्तव्य विमूढता का बोलबाला तथा उत्साहीनता की जजीर निर्माण कार्य मे बाधक बनती रहती है। अतः सदा सावधानी की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य—एक अनुचिन्तन

ब्रह्मचर्य के वास्तविक परमार्थ को यदि सन्मुख रखा जावे तो जीवन का नक्शा कुछ और ही बन सकता है।

शरीर से निकलने वाला वीर्य प्रवाह निष्कारण नही होता। उसमे कारण अनेको हो सकते है। पर मुख्य कारण दो होते है। एक विचार और दूसरा वय यानी शरीर की अवस्था विशेष।

इन दोनो मे भी विचारो की ही प्रमुखता मानी जा सकती है। क्योकि विचारो के भी दो रूप सक्षिप्त मे रहते हैं, जिनको ज्ञात और अज्ञात के नाम से भी पुकारा जा सकता है। उनमे से यानी ज्ञात और अज्ञात विचार-धाराओ मे से किसी भी अवस्था मे अब्रह्मचर्य की ओर मुडने पर वीर्य पदार्थ के स्खलित होने का प्रसग प्राय बनता है। यद्यपि विचारो के मोड मे अनेकानेक कारण हैं पर उनमे भी शरीर के अवयवो की एक अवस्था विशेष को प्रबल कारण कहा जा सकता है। जिससे विचारो का मोड़ प्राय बन जाया करता है।

ब्रह्मचर्य—शारीरिक प्रभाव

शारीरिक अवस्था को व्यवस्थित रखना भी आत्मशक्ति पर निर्भर है।

यद्यपि पौद्गलिक कार्य पदार्थ के अन्दर विचित्र स्वभाव बनता है तथापि उस स्वभाव का समय पर परिपाक भी हो जाता है। उस परिपाक के फलस्वरूप विचार आदि अवस्थाओ पर असर भी हो सकता है। लेकिन उस वक्त या उस परिपाक के पूर्व ही विचारो का पुट दिया जाय, तो पदार्थों के पूर्व रस मे परिवर्तन आ सकता है। जिस भी अवस्था के विचार परिपक्व होगे उसी अवस्था मे पदार्थों का परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थात् इस विराट् विश्व मे आत्म-शक्ति सर्वोपरि है। उसका मोड सही दिशा की ओर हो तो समग्र वायु मण्डल मे इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है।

इस शक्ति का सही अनुभवकर्ता स्वय के शरीर मे व्याप्त वीर्य के नाम के धातु को स्खलित नही होने देकर अन्य शक्ति मे परिवर्तित कर देगा। स्खलित होने देना या नही, इसका नियत्रण आत्मीय शक्ति पर निर्भर है।

आत्मीय विशेष शक्ति के जागृत नही होने तक ही अन्य शक्तियाँ अपना-अपना कार्य कर गुजरती हैं और वे विभिन्न प्रकार की हो जाने से विभिन्नता पैदा कर देती है। यही अवस्था प्राय. प्राणीवर्ग मे चल रही है।

ब्रह्मचर्य—मानसिक प्रभाव

मानसिक वृत्ति की समग्र धारायें यदि अब्रह्मचर्य की ओर जरा भी झुकें और वास्तविक निर्धारित कार्य मे निरन्तर सलग्न बन जाये तो यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्रव्य वीर्य रूप धातु की परिस्खलना नही हो पाती। क्योकि द्रव्य वीर्य रूप धातु की परिस्खलना भाव वीर्य रूप आन्तरिक आभ्यन्तरीय शक्ति पर निर्भर है।

भाव रूप आभ्यन्तरीय शक्ति अपने समग्र परिवार के साथ जिस भी कार्य मे निमग्न होगी उसी कार्य की साधिका रूप अन्य भौतिक शक्ति मे द्रव्य वीर्य रूप धातु व्याप्त होती रहेगी। यानी भाव रूप आभ्यन्तरीय वीर्य शक्ति से द्रव्य रूप वीर्य नामक धातु को परिवर्तित, परिवर्धित, सक्रमित, रूपान्तरित आदि अनेक अवस्थाओ मे सस्थापित किया जा सकता है। बशर्ते कि इस प्रकार की सही विधि समग्र पहलुओ से ज्ञात कर सही दृढतर अत्यन्त विश्वसनीय सकल्प पूर्वक निरन्तर अभ्यास मे लाई जाय।

यह कार्य मानवीय जीवन की सही दिशा की निर्मल परिस्थिति मे शक्य किया जा सकता है। अशक्य स्थिति की कल्पना निराधार है।

आत्म-शक्ति

मानव जीवन मे सर्व शक्ति सम्पन्न वनने के साधन वीज रूप मे विद्यमान रहते हैं। विल पावर (आत्म शक्ति) के अनुपात से विकसित होने का चास रहता

रूप मे आयेगी और उस अवस्था मे मन की विकृत अवस्थाये सीमित होकर समभाव वृत्ति बन जायेंगी।

ऐसी अवस्थायें आने पर ही चैतन्य आत्मा उपर्युक्त लक्ष्य को मद्देनजर रखता हुआ जिन-जिन अवयवो के माध्यम से शुभाशुभ प्रवृत्ति करता है, उन-उन शारीरिक अवयवो मे वह चैतन्य स्वय की ही ज्ञान शक्ति से अपने आपको अव-लोकन करने का अभ्यास करे और यह देखने का प्रयास करे कि इन अवयवो मे चैतन्य का परिस्पदन किस प्रकार हो रहा है।

ऐसे तो शरीर व्यापी चैतन्य शरीर के प्रत्येक सजीव अवयवो मे अपना साकार रूप धारण करके रहा हुआ है। अत. शरीर के बाहरी अवयवो का परिस्पन्दन प्राय सामान्य रूप से चर्म चक्षु से दृष्टिगोचर होता ही है पर आन्तिरिक अवयवो का आवरण मुक्त तथा सूक्ष्मतर होने से चर्म चक्षु सही रूप मे अवलोकन करने मे प्राय असमर्थ हैं। अत' सहजिक योग के माध्यम से अन्तर के शारीरिक अवयवो मे होने वाले परिस्पन्दनो के माध्यम से चैतन्य शक्ति के प्रकाश पुज को क्रमिक रूप से विकसित करते हुए लक्ष्य की ओर वढाना चाहिये। लेकिन यह परिस्पन्दन चैतन्ययुक्त शरीर के अवयवो मे ही व्यवस्थित पाये जाते है, चैतन्य रहित जड शरीर मे नही। चैतन्य रहित जड मे यदि कोई व्यवस्थित कला देखी जाती है, तो वह व्यवस्थित कला भी उसी स्व-पर प्रकाश ज्ञान स्वरूप चैतन्य आत्मा की ही है। चैतन्य रहित जड मे व्यवस्थित कलाकृति बनाने की वैज्ञानिक शक्ति नहीं होती। अत व्यवस्थित कलाकृति उपयोगवान चैतन्य की है। इस विराट् विश्व मे विचारो का विभिन्न वैचित्र्य विभिन्न रूपो, प्रकारो, कार्यकलापो आदि के रूप मे परिलक्षित हो रहा है। पर आश्चर्य इस बात का है कि मूल तत्त्वो को समझा नही जा रहा है।

ऊपरी-ऊपरी परत को ही सब कुछ समझ लिया गया। उसी के ऊपर प्राय समस्त मानव वर्ग तैर रहा है और मान रहा है कि सब पा लिया गया। पर वस्तुस्थिति यही तक सीमित नही है। यह तो एक छोर है, कुछ अश है। अन्य सभी अश रहस्यमय गुफा की तह मे सन्निहित है। उनकी तरफ दृष्टि नही जाने से जीवन की उलझने बढती जा रही हैं। जो भी यह बोलते हैं कि हम सुलझ गये, वे प्रायः अधिक उलझे हुए हैं। जीवन की वास्तविक गुत्थी सुलझे बिना उलझनें समाप्त नही हो सकती। अत. मूल स्रोत के रहस्य की ओर बढना नितान्त आवश्यक है।

अभिमान—एक अभिशाप

अभिमान की मनोवृत्ति जीवन-विकास मे घोरतम शत्रु है। मन मे जब अभिमान का अश रहता है, तब वह किसी छोटे व्यक्ति से बात करना भी पसन्द नही करता। चाहे उस छोटे व्यक्ति से कितना ही महत्त्वपूर्ण कार्य क्यो न हो, उससे

वातचीत करने पर अपना वहुत भला हो सकता हो, फिर भी अभिमान उससे वात नही करने देता । कभी-कभी यहाँ तक की स्थिति आ जाती है कि मृत्यु के क्षणो तक भी अभिमान उसे झुकने नही देता । झुकना तो दूर, वात तक नही करने देता । इस प्रकार अनेक तरह की कहानियाँ तो वर्तमान जीवन मे प्रकट दिखने वाली होती हैं । इसके अतिरिक्त मन की कोमल वृत्ति से विकसित होने वाली अनेक शुभ वृत्तियाँ कु ठित हो जाती हैं । उनके कुंठित हो जाने से इस जोवन की आतरिक शक्तियाँ तो प्राय नष्ट होती ही है, जो लाख प्रयत्न करने पर भी प्राप्त नही हो सकती । इसके साथ-साथ अगली स्थिति विगड़ जाती है । क्योकि अभिमान की दशा मे दूसरे के प्रति सदा हीन भावना वनी रहती है । इस हीन भावना के समय अगले जन्म का आयुष्य वन्ध भी नीच गति का होता है । उस गति के प्राप्त होने पर प्राय. उसी के अनुरूप ही आगे के विचार वनते रहते हैं । इस क्रम से अनेक जिन्दगियाँ वर्वाद हो जाती हैं । अत विचारवान इसान को चाहिये कि अपने मन के किसी भी कोने मे अभिमान न रहने दे ।

शक्ति का दुरुपयोग

मानव अपनी स्थिति को नही समझने के कारण व्यर्थ की वातो मे अपनी मानसिक शक्ति लगाता रहता है और व्यर्थ की कल्पना से रात-दिन सोचा करता है कि वह व्यक्ति मेरा है, मेरी पार्टी का है, मैं उसको अपना वना लूँ, उसके साथ मित्रता कर लूँ और जो मेरा नही है, उसकी उपेक्षा कर दूँ क्योकि वह मेरे काम नही आता । अमुक काम तो आता है, पर अन्दर मे निन्दा करता है । मेरी जड काटता है । मेरी प्रशसा को वर्दाश्त नही करता । अत उससे सम्वन्ध प्रगट मे न तोडकर उदासीन हो जाना ठीक रहेगा, आदि न मालूम किस-किस को लेकर कितना क्या सोचता है, जिसको वह स्वय भी नही समझ पाता । और इसी प्रकार की कल्पनाओ से वह अपनी शक्ति को वर्वाद करके चल वसता है । कुछ भी रचनात्मक-सृजनात्मक-निर्माणात्मक कार्य नही कर पाता है । यह मानव मन की वडी कमजोरियो मे से एक है । इसको समाप्त करने के लिये मन मे शुद्ध सकल्प की नितान्त आवश्यकता है । इसके लिये अपने विचारो को साफ करने की पद्धति अपनानी चाहिये । वह यह है कि प्रात कालीन किसी भी नियत समय मे आलस्य को दूर हटाकर एकान्त स्थान मे सर्वथा प्रकार से परिपूर्ण सिद्धि प्राप्त आत्मा को नमन कर लक्ष्य स्थिर किया जाय और सर्वथा प्रकार से सभी पापकारी तथा क्षुद्र प्रवृत्तियो के परित्याग के दृढ सकल्पपूर्वक आचरण मे परिणित अवस्था वनाई जाय, ताकि उन प्रवृत्तियो से ऊपर उठने की क्षमता प्राप्त की जा सके । तदनन्तर वास्तविक स्थिति की दृष्टि से विचार किया जाय कि मैं जो कुछ भी सोच रहा हूँ, कर रहा हूँ, उसमे कितना व्यर्थ तथा कितना किस समय तक काम मे आने वाला है ? इस विषय का भलीभाति विचार करने पर

जीवन की महान् विशालता का अनुभव होने लगेगा और जीवन-विज्ञान की कला बढेगी ।

मानव जीवन—आनन्द का केन्द्र

मनुष्य आनन्द का केन्द्र वन सकता है और दु ख का महासागर भी । दोनो अवस्थाओ का मूल मनुष्य जीवन है । इस योनि मे रहने वाली आत्मा को भलीभाति सोच लेना चाहिये कि अब कौन सा कार्य करना है । यदि वास्तविक मनुष्यत्व, मनुष्यपन की अवस्था प्राप्त कर जीवन को सही ज्ञान के साथ विकसित किया तो यही मानव जीवन वास्तविक आनन्द का सच्चा केन्द्र बन सकता है । उसके लिये जीवन मे बदबू मारने वाली समस्त विकारो की गन्दी नालियो को परिमार्जित करना होगा । सत्य, शील रूप पवित्र जल से उनको धोना होगा । मानव ही नही प्राणीमात्र के प्रति आत्मीयता स्थापित करनी होगी । जीवन के प्रत्येक क्षण को सार्थक वनाने के लिए सत्पुरुषार्थ का अक्षुण्ण मार्ग अपनाना होगा । आत्मीय प्रत्येक शक्ति की धारा मे विवेक शक्तिपूर्वक ज्ञान दूरबीन से सही अवलोकन करना होगा और यह देखना होगा कि किस-किस आत्मीय शक्ति के प्रवाह मे कौनसा मलिन कचरा कितनी मात्रा मे साफ हुआ और कितनी मात्रा मे अभी तक विद्यमान है । किस के पीछे कितना विकास रहा और इस विकास को सुखाने का कितना ताप पहुचा, आदि विषयक निरीक्षण यथासमय करना आवश्यक होगा, ताकि सफलता की शक्ति आगे वढती रहे और जीवन का आनन्द-केन्द्र समीप आता रहे ।

प्रभुता मे बाधक—अभिमान

जीवन मे छिपी शक्ति की अभिव्यक्ति होने पर आत्मा तीनो लोको की प्रभुता प्राप्त कर सकती है । वह प्रभुता शस्त्र वल, धन बल अथवा अन्य किसी वाह्य वल से प्राप्त नही हो सकती । वह तो आन्तरिक शक्ति के सही विकास पर निर्भर है । आन्तरिक शक्ति अभिमान की मात्रा से दव जाती है । वडा से बडा व्यक्ति क्यो न हो, अभिमान उसको भी गिरा देता है । वाहुवली जैसे वलिष्ठ को भी अभिमान ने पछाड दिया । जगल मे ध्यान लगाकर खडे रहने से लतायें शरीर पर व्याप्त हो गई । पक्षियो के घोसले तक का कथन प्रसारित हो गया । पर मन की एकाग्रता भग नही हुई । शरीर ने जरा भी लचक नही खाई, नेत्र की पलकें स्फुरित न हो पाई । कितना कठोर कार्य । वाहुवलीजी ने शारीरिक, मानसिक एव वाचिक प्रक्रिया की साधना मे जरा भी कमी नही आने दी । पर आन्तरिक अभिमान वृत्तियो के कारण त्रिभुवन प्रभुता रूप चरम आत्मीय शक्ति प्राप्त करने मे वाधा उपस्थित हो गई । केवलज्ञान उपस्थित नही हो पाया । जिस समय सूक्ष्म रूप से रहने वाले अभिमान को नष्ट किया कि

तत्क्षण उसी अवस्था मे केवलज्ञान प्राप्त हो गया और त्रिभुवन-प्रभुता की विराट शक्ति के स्वामी बन गये। अत अभिमान का सर्वथा परित्याग तो त्रिभुवन-प्रभुता प्राप्ति का एक साधन है।

उद्‌बोधन के स्वर

आम व्यक्ति के दिन रात वैसे ही व्यतीत हो रहे है, कुछ करने योग्य किया नही जा रहा है। वह किसी कल्पना, व्यर्थ के विचार मस्तिष्क के पटल पर आने जाने से शक्ति का अपव्यय बन रहा है। निद्रा, स्वप्न, जागृति, चिन्ता आदि प्रक्रियाओ मे समय बीत रहा है। भव्य चेतना, इन सभी दशाओ मे तुझे सावधानीपूर्वक आगे बढने की आवश्यकता है। इन्ही दशाओ मे अनादिकाल से चलता आ रहा है। उनसे ऊपर उठने का सोचा भी नही। यत्किंचित सोचा भी तो ऊपरी तौर से। अन्त स्थल से सोचने का जरा भी प्रयास सही ज्ञानपूर्वक नही बन पाया। यही कारण है कि आत्मा का विकास प्राय अवरुद्ध सा ही रहा। भव्य प्राणी अब भी समय है, अवसर है, अवकाश है। जीवन की योग्य दशा है, साधन सामग्री का अनुकूल योग है वास्तविक ज्ञान का पट खोलने का। क्यो नही खोला जा रहा है, क्यो व्यर्थ मे पडा हुआ है? अब तो जग! अब तो चेत! क्या कर रहा है? बडे दु ख का विषय है कि तुम्हारा सारा समय व्यर्थ मे जा रहा है। कुछ भी सही मायने मे कर नही पा रहा है। कब करेगा? कब जगेगा? कब चलेगा गन्तव्य स्थान पर? सही दिशा सामने रखकर सच्चे पुरुषार्थ बल से चल पड़! सफल होगा तुम्हारा दिन-रात!

सूक्ष्म दृष्टि—विलक्षण चिन्तन

सूक्ष्म और सही दृष्टि का चिन्तन बडा ही विलक्षण होता है और वस्तुस्थिति के पार तक पहुँचाने वाला होता है। इसके लिये चित्तवृत्ति की समता आनी आवश्यक है। समता का तात्पर्य सर्व तत्त्व को एकान्तिक रूप से एक सदृश्य मान लेना या समझ लेना नही है, वरन् समता का अर्थ है—प्रत्येक पदार्थ की प्रत्येक अवस्था का भलीभाँति सापेक्ष दृष्टि के साथ वस्तु स्वरूप अवलोकन करना तथा उसके अन्त स्थल तक पहुँचकर वास्तविक अवलोकर कर लेने पर निर्णायक बुद्धि का होना। इस प्रकार की चित्तवृत्ति बनाने पर जो भूमिका बनेगी और उस भूमिका की अवस्था से जो चिन्तन प्रारम्भ होगा, वह भूमिका सूक्ष्म पवित्र दृष्टि की बन पायेगी। वहाँ जीवन की सर्वग्रथियाँ यथा-शीघ्र सुलझ सकेगी एव आनन्द की वास्तविक अनुभूति की दशा प्रशस्त बन पायेगी। फिर तो राजमार्ग-सा कार्य बन जायेगा। मार्ग खोजने की दृष्टि से रुकना नही होगा। गति भी तीव्र बन जायेगी। यह कार्य स्थूल दृष्टि से नही बन पाता। हाँ, प्रारम्भ मे स्थूल बुद्धि भी आगे बढाने मे सहायक बन सकती है। अत यथास्थान सूक्ष्म दृष्टि के चिन्तन की आवश्यकता है।

सफलता का मूल मंत्र—सकल्प शक्ति

जीवन निर्माण का कार्य स्वय के सान्निध्य से सम्पन्न होता है। सान्निध्य का तात्पर्य सिर्फ समीपता नही, बल्कि स्वय की कला का प्रयोग करना है। यानी स्वय की सकल्प शक्ति को इस प्रकार दृढ एव निरन्तर स्थायी बना देना जिससे अभीष्ट कार्य यथाशीघ्र सम्पन्न हो सके। किसी भी कार्य मे विलम्ब या शैथिल्य उस कार्य की कारण सामग्री के प्रमुख सूत्रधार सकल्प शक्ति पर निर्भर है। वह सकल्प शक्ति वास्तविक ज्ञानपूर्वक निरन्तर जीवन-निर्माण की परिपूर्ण कारण सामग्री के प्रत्येक अग मे प्राणस्वरूप बनकर दृढ, दृढतर, दृढतम बन जाय तो अन्य कोई भी शक्ति उसमे बाधक नही बन सकती। बाधकता प्राय सकल्प शक्ति की कमजोर अवस्था पर ही कामयाब हुआ करती है। बाधकता की शक्ति वहाँ सफल हो सकती है, जहाँ सकल्प शक्ति के सदस्य इतस्तः अलसित हो। मानव अपनी उस महत्त्वपूर्ण शक्ति को व उसके सदस्यगण की महत्ता को प्राय. समझ नही पाता। फलस्वरूप निर्माण कार्य मे बाधाओ के विचित्र रग-रूप से प्राय हर क्षण वृक्ष के पत्ते की तरह प्रकम्पित होता रहता है। इससे अशाति के काले बादल सर्वत्र मडरा जाते हैं और कर्त्तव्य विमूढता का बोलबाला तथा उत्साहीनता की जजीर निर्माण कार्य मे बाधक बनती रहती है। अतः सदा सावधानी की आवश्यकता है।

ब्रह्मचर्य—एक अनुचिन्तन

ब्रह्मचर्य के वास्तविक परमार्थ को यदि सन्मुख रखा जावे तो जीवन का नक्शा कुछ और ही बन सकता है।

शरीर से निकलने वाला वीर्य प्रवाह निष्कारण नही होता। उसमे कारण अनेको हो सकते हैं। पर मुख्य कारण दो होते है। एक विचार और दूसरा वय यानी शरीर की अवस्था विशेष।

इन दोनो मे भी विचारो की ही प्रमुखता मानी जा सकती है। क्योकि विचारो के भी दो रूप सक्षिप्त मे रहते हैं, जिनको ज्ञात और अज्ञात के नाम से भी पुकारा जा सकता है। उनमे से यानी ज्ञात और अज्ञात विचार-धाराओ मे से किसी भी अवस्था मे अब्रह्मचर्य की ओर मुडने पर वीर्य पदार्थ के स्खलित होने का प्रसग प्राय बनता है। यद्यपि विचारो के मोड मे अनेकानेक कारण हैं पर उनमे भी शरीर के अवयवो की एक अवस्था विशेष को प्रबल कारण कहा जा सकता है। जिससे विचारो का मोड़ प्राय बन जाया करता है।

ब्रह्मचर्य—शारीरिक प्रभाव

शारीरिक अवस्था को व्यवस्थित रखना भी आत्मशक्ति पर निर्भर है।

यद्यपि पौद्गलिक कार्य पदार्थ के अन्दर विचित्र स्वभाव बनता है तथापि उस स्वभाव का समय पर परिपाक भी हो जाता है। उस परिपाक के फलस्वरूप विचार आदि अवस्थाओ पर असर भी हो सकता है। लेकिन उस वक्त या उस परिपाक के पूर्व ही विचारो का पुट दिया जाय, तो पदार्थों के पूर्व रस मे परिवर्तन आ सकता है। जिस भी अवस्था के विचार परिपक्व होगे उसी अवस्था मे पदार्थो का परिवर्तन किया जा सकता है। अर्थात् इस विराट् विश्व मे आत्म-शक्ति सर्वोपरि है। उसका मोड सही दिशा की ओर हो तो समग्र वायु मण्डल मे इच्छानुसार परिवर्तन लाया जा सकता है।

इस शक्ति का सही अनुभवकर्ता स्वय के शरीर मे व्याप्त वीर्य के नाम के धातु को स्खलित नही होने देकर अन्य शक्ति मे परिवर्तित कर देगा। स्खलित होने देना या नही, इसका नियत्रण आत्मीय शक्ति पर निर्भर है।

आत्मीय विशेष शक्ति के जागृत नही होने तक ही अन्य शक्तियाँ अपना-अपना कार्य कर गुजरती हैं और वे विभिन्न प्रकार की हो जाने से विभिन्नता पैदा कर देती हैं। यही अवस्था प्राय. प्राणीवर्ग मे चल रही है।

ब्रह्मचर्य—मानसिक प्रभाव

मानसिक वृत्ति की समग्र धारायें यदि अब्रह्मचर्य की ओर जरा भी झुकें और वास्तविक निर्धारित कार्य मे निरन्तर सलग्न बन जायें तो यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है कि द्रव्य वीर्य रूप धातु की परिस्खलना नही हो पाती। क्योकि द्रव्य वीर्य रूप धातु की परिस्खलना भाव वीर्य रूप आन्तरिक आभ्यन्तरीय शक्ति पर निर्भर है।

भाव रूप आभ्यन्तरीय शक्ति अपने समग्र परिवार के साथ जिस भी कार्य मे निमग्न होगी उसी कार्य की साधिका रूप अन्य भौतिक शक्ति मे द्रव्य वीर्य रूप धातु व्याप्त होती रहेगी। यानी भाव रूप आभ्यन्तरीय वीर्य शक्ति से द्रव्य रूप वीर्य नामक धातु को परिवर्तित, परिवर्धित, सक्रमित, रूपान्तरित आदि अनेक अवस्थाओ मे सस्थापित किया जा सकता है। बशर्ते कि इस प्रकार की सही विधि समग्र पहलुओ से ज्ञात कर सही दृढतर अत्यन्त विश्वसनीय सकल्प पूर्वक निरन्तर अभ्यास मे लाई जाय।

यह कार्य मानवीय जीवन की सही दिशा की निर्मल परिस्थिति मे शक्य किया जा सकता है। अशक्य स्थिति की कल्पना निराधार है।

आत्म-शक्ति

मानव जीवन मे सर्व शक्ति सम्पन्न बनने के साधन बीज रूप मे विद्यमान रहते हैं। जिस पावर (आत्म शक्ति) के अनुपात से विकसित होने का चास रहता

है। आत्मशक्ति का मोड दृढतर आन्तरिक लक्ष्य के अनुकुल प्राय बन जाया करता है। आन्तरिक शक्तिया जिस कार्य के लिये अत्यन्त तन्मयता के साथ सयुक्त बन जाती है, प्राय: शरीर के महत्त्वपूर्ण अग भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए कार्य के सम्पादन मे सहयोगी बनते हैं। उस वक्त शारीरिक रस-ग्रथिया अपने-अपने स्थान मे उसके अनुरूप रस-सचय मे सलग्न रहती है। उस रस के स्राव से भोजनादि की अवस्था मे रासायनिक प्रक्रिया बनती रहती है, जो कि शरीर के विभिन्न अवस्थाओ मे रसादि आदि रूप मे जो धातुओ की अव्यवस्था परिणित है, उनमे विल पावर के अनुरूप कार्य साधिका की शक्ति उत्पन्न कर लेती है। इस प्रकार व्यवस्था निरन्तर रूप से बढती रहे तो धीरे-धीरे मानव शरीर मे सर्व शक्ति समूह का अवस्थान व्यक्त होते हुए बीज वृक्ष का रूप धारण कर सकता है यानी किसी भी शक्ति के लिये पर मुखापेक्षी न रहकर स्वय वही अन्यो को शक्ति-प्रदान-विधि के रूप मे विधाता सावित हो सकती है, अत मानव जीवन मे रही शक्तियो को सावधानी के साथ विकसित करने की आवश्यकता है।

शुद्धि : अन्तर-बाह्य

जीवन की आन्तरिक धरा पर चलना सरल नही है। वहा पर चलना जिसने सीख लिया, उसने जीवन की सफलता पा ली, ऐसा कहा जा सकता है। जिसने आन्तरिक धरा पर चलना नही सीखा और अन्य कितनी कुछ भी उपलब्धिया प्राप्त करली हो, उसके लिये ऐसा नही कहा जा सकता कि उसने जीवन की सफलता पाई है, क्योकि आन्तरिक गति के विना बाह्य गति सिर्फ मकान को बाहर से पोतना और अन्दर गदगी भरे रखने के समान है। यदि बाह्य गति आन्तरिक गतिपूर्वक बने तो दोनो जीवन के वास्तविक पख बन सकते हैं।

जीवन-गगा

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र या अवयवो मे हर समय उत्साह एव उमग की लहर होनी चाहिये। जीवन एक पवित्र बहती गगा के समान है। उसमे सभी वस्तुयें आकर मिलती हैं। गगा सभी वस्तुओ को स्वच्छ एव शीतल बना देती है। वैसे ही जीवन गगा मे जो भी वस्तुए प्रविष्ट हो अथवा सयुक्त हो वे सभी यथायोग्य शात एव पवित्र बन जाये अर्थात् उन वस्तुओ के निमित्त राग-द्वेष न हो, यहा उनके पवित्रपन की अवस्था है।

जीवन और उसका उपयोग

जीवन बाह्य व्यवहारो से उलझ गया है। सर्वत्र दृश्य पदार्थों का आकर्षण जीवनी शक्ति को विभक्त कर रहा है। शक्ति की विराटता इन दृश्य पदार्थों मे अवरुद्ध हो रही है। मनुष्य जन्म से शक्ति को फैलाना चालू करता है। सर्वप्रथम

स्तन पान की ओर मुडता है । पश्चात् माता-पिता एव परिवार मे समाता है । तदनन्तर खेल, विद्याध्ययन एवं अर्थ मे स्वकीय शक्ति को लगा देता हैं । फिर समाज, राष्ट्र आदि भौतिक कार्यो मे व्यस्त बनकर जीवन की इतिश्री भी कर देता है । आन्तरिक अभिव्यक्ति की तरफ देखने का अवसर भी नही मिल पाता ।

विचारो का प्रभाव

पवित्र आत्मीय विचारो का प्रभाव जड पदार्थो पर भी पडता है । उनकी पर्यायो मे परिवर्तन आता हैं । उनकी अवस्था आत्मीय विचारों के अनुरूप ढल जाती हैं । अत वे जिन भी पदार्थो को जिस रूप मे मोडना हो उस रूप मे विचारपूर्वक योग्य सयोगो मे मोड सकते है । यह असदिग्ध विषय है ।

निर्ग्रन्थ प्रवचन मे उल्लिखित कर्म सिद्धातानुसार कर्म वर्गणा के जड परमाणु चैतन्य सयुक्त होने पर चैतन्यवत् कहलाते हैं ।

आत्मीय विचार शात एव अमृत तुल्य हैं, तो उन विचारो का निरन्तर व्यवस्थित सयोग जिन परमाणु स्कन्धो को मिलेगा वे परमाणु स्कन्ध शान्त, सुधारस एव अमृत तुल्य अवश्य बन जायेंगे ।

सत्य-बोध

आज प्रात काल सेठिया कोठरी की ऊपरी छत पर ७.३० से ८ ३० के बीच घूमते समय वस्तु सत्य की सच्ची अनुभूति जागृत हुई । भूत, भविष्य के मध्य वर्तमान दिन का वर्तमान चिन्तन क्षण अति महत्त्वपूर्ण है । उसी की सावधानी ध्रौव्य पर्याय के साथ अत्यधिक उज्ज्वल पवित्रतम कार्य मे दत्तावधान होना ही श्रेष्ठ सार्थक समय है । उसी मे सर्वज्ञता के स्वरूप की अभिव्यक्ति का अवसर है ।

मानव · एक सुरभित पुष्प

पुष्प सदा–सर्वदा अपने ही स्वभाव मे निमग्न रहता हैं । स्वकीय पराग-सौरभ को अपने आप मे भरने मे जरा भी विलम्ब नही करता है । जब परिपूर्ण भर जाता है, तब उसमे से अपने आप इधर-उधर सर्वत्र सुगन्धि प्रसृत होने लगती है । उससे मानव को जो लाभ होता है, वह फलो आदि से नही होता ।

मानव भी इस विराट विश्व का दिव्य पुष्प है । इसको भी अपने आप मे पवित्र गुणो की सुगन्धी निरन्तर भरते रहना चाहिये । किसी भी समय कैसी भी व्यवस्था क्यो न हो, प्रतिकूल से प्रतिकूल प्रसग पर भी सद्‌विचारो को अपने से एक समय के लिये भी विलग न होने दें । प्रतिकूल विचारो को समभाव के धरातल पर बिखेरकर जो जिस रूप मे ज्ञात हो उसको वस्तु स्वरूप की दृष्टि से उसी रूप मे अवलोकन करें । पर राग-द्वेष के रग को अपने विचारो पर न चढने दें ताकि स्वय के पवित्र विचारो की सौरभ को किसी भी प्रकार की क्षति नही पहुँचे । यह मानव रूप दिव्य फूल की सफलता की कुजी है । □

है । आत्मशक्ति का मोड दृढतर आन्तरिक लक्ष्य के अनुकुल प्राय बन जाया करता है । आन्तरिक शक्तियां जिस कार्य के लिये अत्यन्त तन्मयता के साथ सयुक्त बन जाती है, प्राय· शरीर के महत्त्वपूर्ण अग भी अपने-अपने स्थान पर रहते हुए कार्य के सम्पादन मे सहयोगी बनते हैं । उस वक्त शारीरिक रस-ग्रथिया अपने-अपने स्थान मे उसके अनुरूप रस-सचय मे सलग्न रहती है । उस रस के स्राव से भोजनादि की अवस्था मे रासायनिक प्रक्रिया बनती रहती है, जो कि शरीर के विभिन्न अवस्थाओ मे रसादि आदि रूप मे जो धातुओ की अव्यवस्था परिणित है, उनमे विल पावर के अनुरूप कार्य साधिका की शक्ति उत्पन्न कर लेती है । इस प्रकार व्यवस्था निरन्तर रूप से बढती रहे तो धीरे-धीरे मानव शरीर मे सर्व शक्ति समूह का अवस्थान व्यक्त होते हुए बीज वृक्ष का रूप धारण कर सकता है यानी किसी भी शक्ति के लिये पर मुखापेक्षी न रहकर स्वय वही अन्यो को शक्ति-प्रदान-विधि के रूप मे विधाता साबित हो सकती है, अत मानव जीवन मे रही शक्तियो को सावधानी के साथ विकसित करने की आवश्यकता है ।

शुद्धि : अन्तर-बाह्य

जीवन की आन्तरिक धरा पर चलना सरल नही है । वहा पर चलना जिसने सीख लिया, उसने जीवन की सफलता पा ली, ऐसा कहा जा सकता है । जिसने आन्तरिक धरा पर चलना नही सीखा और अन्य कितनी कुछ भी उपलब्धिया प्राप्त करली हो, उसके लिये ऐसा नही कहा जा सकता कि उसने जीवन की सफलता पाई है, क्योकि आन्तरिक गति के बिना बाह्य गति सिर्फ मकान को बाहर से पोतना और अन्दर गदगी भरे रखने के समान है । यदि बाह्य गति आन्तरिक गतिपूर्वक बने तो दोनो जीवन के वास्तविक पख बन सकते हैं ।

जीवन-गगा

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र या अवयवो मे हर समय उत्साह एव उमग की लहर होनी चाहिये । जीवन एक पवित्र बहती गगा के समान है । उसमे सभी वस्तुयें आकर मिलती है । गगा सभी वस्तुओ को स्वच्छ एव शीतल बना देती है । वैसे ही जीवन गगा मे जो भी वस्तुए प्रविष्ट हो अथवा सयुक्त हो वे सभी यथायोग्य शात एव पवित्र बन जायें अर्थात् उन वस्तुओ के निमित्त राग-द्वेष न हो, यहा उनके पवित्रपन की अवस्था है ।

जीवन और उसका उपयोग

जीवन बाह्य व्यवहारो से उलझ गया है । सर्वत्र दृश्य पदार्थों का आकर्षण जीवनी शक्ति को विभक्त कर रहा है । शक्ति की विराटता इन दृश्य पदार्थों मे अवरुद्ध हो रही है । मनुष्य जन्म से शक्ति को फैलाना चालू करता है । सर्वप्रथम

स्तन पान की ओर मुडता है । पश्चात् माता-पिता एव परिवार मे समाता है । तदनन्तर खेल, विद्याध्ययन एवं अर्थ में स्वकीय शक्ति को लगा देता है । फिर समाज, राष्ट्र आदि भौतिक कार्यों मे व्यस्त बनकर जीवन की इतिश्री भी कर देता है । आन्तरिक अभिव्यक्ति की तरफ देखने का अवसर भी नही मिल पाता ।

विचारों का प्रभाव

पवित्र आत्मीय विचारो का प्रभाव जड पदार्थों पर भी पडता है । उनकी पर्यायो मे परिवर्तन आता है । उनकी अवस्था आत्मीय विचारो के अनुरूप ढल जाती है । अत. वे जिन भी पदार्थो को जिस रूप मे मोडना हो उस रूप मे विचारपूर्वक योग्य सयोगो मे मोड सकते हैं । यह असदिग्ध विषय है ।

निर्ग्रन्थ प्रवचन मे उल्लिखित कर्म सिद्धातानुसार कर्म वर्गणा के जड परमाणु चैतन्य सयुक्त होने पर चैतन्यवत् कहलाते हैं ।

आत्मीय विचार शात एव अमृत तुल्य हैं, तो उन विचारों का निरन्तर व्यवस्थित सयोग जिन परमाणु स्कन्धो को मिलेगा वे परमाणु स्कन्ध शान्त-सुधारस एव अमृत तुल्य अवश्य बन जायेंगे ।

सत्य-बोध

आज प्रात काल सेठिया कोठरी की ऊपरी छत पर ७ ३० से ८.३० के बीच घूमते समय वस्तु सत्य की सच्ची अनुभूति जागृत हुई । भूत, भविष्य के मध्य वर्तमान दिन का वर्तमान चिन्तन क्षण अति महत्त्वपूर्ण है । उसी की सावधानी ध्रौव्य पर्याय के साथ अत्यधिक उज्ज्वल पवित्रतम कार्य मे दत्तावधान होना ही श्रेष्ठ सार्थक समय है । उसी मे सर्वज्ञता के स्वरूप की अभिव्यक्ति का अवसर है ।

मानव . एक सुरभित पुष्प

पुष्प सदा–सर्वदा अपने ही स्वभाव मे निमग्न रहता है । स्वकीय पराग-सौरभ को अपने आप मे भरने मे जरा भी विलम्ब नही करता है । जब परिपूर्ण भर जाता है, तब उसमे से अपने आप इधर-उधर सर्वत्र सुगन्धि प्रसृत होने लगती है । उससे मानव को जो लाभ होता है, वह फलो आदि से नही होता ।

मानव भी इस विराट विश्व का दिव्य पुष्प है । इसको भी अपने आप मे पवित्र गुणो की सुगन्धी निरन्तर भरते रहना चाहिये । किसी भी समय कैसी भी व्यवस्था क्यो न हो, प्रतिकूल से प्रतिकूल प्रसग पर भी सद्विचारो को अपने से एक समय के लिये भी विलग न होने दे । प्रतिकूल विचारो को समभाव के धरातल पर बिखेरकर जो जिस रूप में ज्ञान हो उसको वस्तु स्वरूप की दृष्टि से उसी रूप मे अवलोकन करें । पर राग-द्वेष के रग को अपने विचारो पर न चढने दें ताकि स्वयं के पवित्र विचारो की सौरभ को किसी भी प्रकार की क्षति नही पहुँचे । यह मानव रूपी दिव्य फल की सफलता की कुजी है । □